ना चैत्र शुदि १ ने दिवसे थयो हतो। तेमनु पोतानु धन्य नाम भाई चुनीलाल राखवामा आव्यु हतु। तेमना पितानु नाम मलुकचंद अने मातानु नाम जमनाबाई हतु। तेमनी ज्ञाति वीसापोरवाड हती। तेओ पोता साथे चार भाई हता अने त्रण बहेनो हती। तेमनु कुटुंब घणु ज स्थानशान हतु। गृहस्थपणानो तेमनो अभ्यास ते जमाना प्रमाणे गूजराती सात चोपडीओ जेटलो हतो। व्यापारादिमा उपयोगी हिसाब आदि बाबतोमा तेओश्री हुशियार गणाता हता।

धर्मसंस्कार अने प्रव्रज्या—छाणी गाम स्वाभाविक रीते ज धार्मिकसंस्कारप्रधान क्षेत्र होई भाई श्रीचुनीलालमा धार्मिक संस्कार प्रथमथी ज हता अने तेथी तेमणे प्रतिक्रमण-सूत्रादिने लगतो योग्य अभ्यास पण प्रथमथी ज कर्यो हतो। छाणी क्षेत्रनी जैन जनता अतिभावुक होई त्या साधु-साध्वीओनु आगमन अने तेमना उपदेशादिने लीधे लोकोमा धार्मिक संस्कार हम्मेशा पोषाता ज रहेला। ए रीते भाई श्रीचुनीलालमा पण धर्मना दृढ संस्कारो पड्या हता। जेने परिणामे पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनेकगुणगणनिवास शान्तजीवी परमगुरुदेव श्री १००८ श्रीप्रवर्त्तकजी महाराज श्रीकान्तिविजयजी महाराजनो संयोग थतां तेमना प्रभावसम्पन्न प्रतापी वरद शुभ हस्ते तेमणे डभोई गाममा वि सं १९४६ ना जेठ वदि १० ने दिवसे शिष्य तरीके प्रव्रज्या अंगीकार करी अने तेमनु शुभ नाम मुनि श्रीचतुरविजयजी राखवामा आव्यु।

विहार अने अभ्यास—दीक्षा लीधा पछी तेमनो विहार पूज्यपाद गुरुदेव श्रीप्रवर्त्तकजी महाराज साथे पञ्जाब तरफ थतो रह्यो अने ते साथे क्रमे क्रमे अभ्यास पण आगळ वधतो रह्यो। गुजरातमां साधुयोग्य आवश्यकक्रियासूत्रो अने जीवविचार आदि प्रकरणोनो अभ्यास कर्यो। ते वखते पञ्जाबमा अने खास करी ते जमानाना साधुवर्गमां व्याकरणमा मुख्यत्वे सारस्वत पूर्वार्ध अने चन्द्रिका उत्तरार्धनो प्रचार हतो ते मुजब तेओश्रीए तेनो अभ्यास कर्यो अने ते साथे काव्य, वाग्भटालंकार, श्रुतबोध आदिनो पण अभ्यास करी लीधो। आ रीते अभ्यासमा ठीक ठीक प्रगति अने प्रवेश थया बाद पूर्वाचार्यकृत सकयायच शास्त्रीय प्रक-रणो,—जे जैन आगमना प्रवेशद्वार समान छे,—नो अभ्यास कर्यो। अने तर्कसंग्रह तथा मुक्तावलीनु पण आ दरमियान अध्ययन कर्यु। आ रीते क्रमिक सजीव अभ्यास अने विहार बन्ने य कार्य एकी साथे चालता रह्या।

उपर जणाववामा आव्यु तेम पूज्यपाद गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराज क्रमे क्रमे सर्वांग अभ्यास थया पछी ज्या ज्या प्रसंग मळ्यो त्या त्या ते ते विद्वान् मुनिवरादि पासे तेम ज पोतानी मेळे पण शास्त्रोनु अध्ययन वाचन करता रह्या। भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्ये कह्यु छे के "अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति" ए मुजब पूज्यवर श्रीगुरुदेव शास्त्रीय वगेरे विषयमा आगळ वधता गया अने अनुक्रमे कोईनीये मदद सिवाय स्वतंत्र रीते महान् ग्रन्थोनं सम्पादन करवा लाग्यो। जेना फळरूप आपणे "आत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्न माळा" ने आजे जोई शकीए छीए।

शास्त्रलेखन अने संग्रह—विश्वविख्यातकीर्ति पुनीतनामधेय पञ्चनदोद्धारक न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीविजयानन्दसूरिवरनी अवर्णनीय अने अतुल ज्ञानगंगाना प्रवाहनो वारसो तेमनी विशाळ शिष्यसंततिमां निराबाध रीते वहेतो रह्यो छे। ए कारणसर पूज्यप्रवर प्रातःस्मरणीय प्रभावपूर्ण परमगुरुदेव प्रवर्तकजी महाराज श्री १००८ श्रीकान्तिविजयजी महाराजश्रीमां पण ए ज्ञानगंगानो निर्मळ प्रवाह सतत जीवतो वहेतो रह्यो छे। जेना प्रतापे स्थान स्थानना ज्ञानभंडारोमांथी श्रेष्ठ श्रेष्ठतम शास्त्रोनुं लेखन, तेनो संग्रह अने अध्ययन आदि चिरकाळथी चालु हतां अने आज पर्यन्त पण ए प्रवाह अविच्छिन्नपणे चालु ज छे।

उपर जणावेल शास्त्रलेखन अने संग्रहविषयक सम्पूर्ण प्रवृत्ति पूज्यपाद गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजना सूक्ष्म परीक्षण अने अभिप्रायने अनुसरीने ज हम्मेशा चालु रह्यां हतां। पुण्यनामधेय पूज्यपाद श्री १००८ श्रीप्रवर्तकजी महाराजे स्थापन करेला वडोदरा अने छाणीना जैन ज्ञानमंदिरोमांना तेओश्रीना विशाळ ज्ञानभंडारोनुं बारीकाईथी अवलोकन करनार दरेक समजी शकशे के ए शास्त्रलेखन अने संग्रह केटली सूक्ष्म परीक्षापूर्वक करवामां आव्यां छे अने ते केवां अने केटलां वैविध्यथी भरपूर छे।

शास्त्रलेखन ए एवी वस्तु छे के ए बाबतनो वास्तविक ख्याल एकाएक कोईने य नहि आवे। ए बाबतमां भलभला विद्वान् गणाता माणसो पण केवां गोथां खाई बेसे छे एनो ख्याल प्राचीन अर्वाचीन ज्ञानभंडारोमांनां अमुक अमुक पुस्तको तेम ज गायकवाड ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट आदिमांना नवा लखाएल पुस्तको जोवाथी ज आवी शके छे।

खरे जोतां शास्त्रलेखन ए वस्तु छे के—तेने माटे जेम महत्त्वना उपयोगी ग्रंथोनुं पृथक्करण अति झीणवट पूर्वक करवामां आवे एटली ज बारीकाईथी पुस्तकना लखनार लहियाओ, तेमनी लिपि, ग्रंथ लखवा माटेना कागळो, शाही, कलम वगेरे दरेके दरेक वस्तु केवी होवी जोईए एनी परीक्षा अने तपासने पण ए मागी ले छे।

ज्यारे उपरोक्त बाबतोनी खरेखरी जाणकारी नथी होती त्यारे घणी वार एवुं बने छे के—लेखको प्रतनी लिपिने बराबर उकेली शके छे के नहि? तेओ शुद्ध लखनारा छे के भूलो करनारा—वधारनारा छे? तेओ लखतां लखतां वच्चमांथी पाठो छूटी जाय तेम लखनारा छे के केवा छे? इरादा पूर्वक गोटाळो करनारा छे के केम? तेमनी लिपि सुंदर छे के नहि? एक सरखी रीते पुस्तक लखनारा छे के लिपिमां गोटाळो करनारा छे? इत्यादि परीक्षा कर्या सिवाय पुस्तको लखाववाथी पुस्तको अशुद्ध भ्रमपूर्ण अने खराब लखाय छे। आ उपरांत पुस्तको लखाववा माटेनां कागळो, शाही, कलम वगेरे लेखनना विविध साधनो केवां होवां जोईए एनी माहिती न होय तो परिणाम ए आवे छे के सारामां सारी पद्धतिए

लखाएला शास्त्रो–पुस्तको अल्प काळमा ज नाश पामी जाय छे। केटलीक वार तो पाच-पचीस वर्षमा ज ए ग्रथो मृत्युना मोमा जइ पडे छे।

पूज्यपाद गुरुवरश्री उपरोक्त शास्त्रलेखनविषयक प्रत्येक बाबतनी झीणवटने पूर्णपणे समजी शकता हता एटलु ज नहि, पण तेओश्रीना हस्ताक्षरो एटला सुदर हता अने एवी सुंदर अने स्वच्छ पद्धतिए तेओ पुस्तको लखी शक्ता हता के भलभला लेखकोने पण आटी नाखे। ए ज कारण हतु के गमे तेवा लेखक उपर तेमनो प्रभाव पडतो हतो अने गमे तेवा लेखकनी लिपिमाथी तेओश्री काइ ने काइ वास्तविक खाचखुच काढताज।

पूज्यपाद गुरुदेवनी पवित्र अने प्रभावयुक्त छाया तळे एकी साथे त्रीस त्रीस, चालीस चालीस लहियाओ पुस्तको लखवानु काम करता हता। तेओश्रीना हाथ नीचे काम करनार लेखकोनी सर्वत्र साधुसमुदायमा किम्मत अकाती हती।

टूकमा एम कहेवु जोइए के जेम तेओश्री शास्त्रलेखन अने सग्रह माटेना महत्त्वना ग्रथोनो विभाग करवामा निष्णात हता, ए ज रीते तेओश्री लेखनकळाना तलस्पर्शी हार्दने समजवामा अने पारखवामा पण हता।

पुज्यपाद गुरुवरनी पवित्र चरणछायामा रही तेमना चिरकालीन लेखनकळाविषयक अनुभवोने जाणीने अने समहीने ज हु मारो "भारतीय जैन श्रमणसस्कृति अने लेखनकळा" नामनो ग्रथ लखी शक्यो छु। खरु जोता ए ग्रथलेखननो पूर्ण यश पूज्य गुरुदेवश्रीने ज घटे छे।

शास्त्रसशोधन—पूज्यपाद गुरुवरश्रीए श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजश्रीना शास्त्रसग्रहमाना नवा छपावेल अने प्राचीन ग्रथो पैकी सख्याबध महत्त्वना ग्रथो अनेकानेक प्राचीन प्रत्यन्तरो साथे मेळवीने सुधार्या छे। जेम पूज्य गुरुदेव लेखनकळाना रहस्यने बराबर समजता हता ए ज रीते सशोधनकळामा पण तेओश्री पारगत हता। सशोधनकळा, तेने माटेना साधनो, सकेतो वगेरे प्रत्येक वस्तुने तेओश्री पूर्ण रीते जाणता हता। एमना सशोधनकळाने लगता पाडित्य अने अनुभवना परिपाकने आपणे तेओश्रीए सपादित करेल श्रीआत्मानन्द–जैन–ग्रन्थरत्नमाळामा प्रत्यक्षपणे जोइ शकीए छीए।

जैन ज्ञानभडारोनो उद्धार—पाटणना विशाळ जैन ज्ञानभडारो एक काळे अति अव्यवस्थित दशामा पड्या हता। ए भडारोनु दर्शन पण एकदर दुर्लभ ज हतु, एमाथी वाचन, अध्ययन, सशोधन आदि माटे पुस्तको मेळववा अति दुष्कर हता, एनी टीपो-लीस्टो पण बराबर जोइए तेवी माहिती आपनारा न हता अने ए भडारो लगभग जोइए तेवी सुरक्षित अने सुव्यवस्थित दशामा न हता। ए समये पूज्यपाद प्रवर्त्तकजी महाराज श्रीकान्तिविजयजी (मारा पूज्य गुरुदेव) श्रीचतुरविजयजी महाराजादि शिष्यपरिवार साथे पाटण पधार्या अने पाटणना ज्ञानभडारोनी व्यवस्था करवा माटे कार्यवाहकोनो

विश्वास संपादन करी ए ज्ञानभंडारोना सार्वत्रिक उद्धारनु काम हाथ धर्यु अने ए कार्यने सर्वांगपूर्ण बनाववा शक्य सर्व प्रयत्नो पूज्यपाद श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजश्रीए अने पूज्य गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजश्रीए कर्या। आ व्यवस्थामा बौद्धिक अने श्रमजन्य कार्य करवामा पूज्यपाद गुरुदेवनो अकल्प्य फाळो होवा छता पोते गुप्त रही ज्ञानभंडारोना उद्धारनो संपूर्ण यश तेओश्रीए श्रीगुरुचरणे ज समर्पित कर्यो छे।

लींबडी श्रीसंघना विशाळ ज्ञानभंडारनी तथा वडोदरा-छाणीमा स्थापन करेला पूज्यपाद श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजश्रीना अतिविशाळ ज्ञानभंडारोनी सर्वांगपूर्ण सुव्यवस्था पूज्य गुरुवरे पोताने हाथे ज करी छे। आ उपरांत पूज्यप्रवर शान्तमूर्ति महाराजश्री १००८ श्रीहंसविजयजी महाराजश्रीना वडोदरामाना विशाळ ज्ञानभंडारनी व्यवस्थामां पण तेमनी महान् मदद हती।

श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाला—पूज्य श्रीगुरुश्रीए जेम पोताना जीवनमां जैन ज्ञानभंडारोनो उद्धार, शास्त्रलेखन अने शास्त्रसंशोधनने लगता महान् कार्यो कर्यां छे ए ज रीते तेमणे श्री आ० जै० ग्र० र० मा० ना सम्पादन अने संशोधननु महान् कार्य पण हाथ धर्यु हतु। आ ग्रंथमाळामा आज सुधीमा लगभग सत्तरीने विविध विषयने लगता नाना मोटा महत्त्वना नेवु ग्रंथो प्रकाशित थया छे, जेमाना घणा खरा पूज्य गुरुदेवे ज सम्पादित कर्यां छे।

आ ग्रंथमाळामा नानामां नाना अने मोटामा मोटा अजोड महत्त्वना ग्रन्थो प्रकाशित थया छे। नाना मोटा सत्यावीश शास्त्रीय प्रकरणोनो समूह आ ग्रन्थमाळामा प्रकाशित थयो छे ए आ ग्रन्थमाळानी खास विशेषता छे। आ प्रकरणो द्वारा जैन श्रमण अने श्रमणीओने खूब ज लाभ थयो छे। जे प्रकरणोना नाम मेळववा के सांभळवा पण एकाएक मुश्केल हता ए प्रकरणो प्रत्येक श्रमण श्रमणीना हस्तगत थई गया छे। आ ग्रन्थमाळामा एकंदर जैन आगमो, प्रकरणो, ऐतिहासिक अने औपदेशिक प्राकृत, संस्कृत कथासाहित्य, काव्य, नाटक आदि विषयक विविध साहित्य प्रकाश पाम्यु छे। ए उपरथी पूज्यपाद गुरुदेवमा केटलु विशाळ ज्ञान अने केटलो अनुभव हतो ए सहेजे समजी शकाय तेम छे। अने ए ज कारणसर आ ग्रन्थमाळा दिन प्रतिदिन दरेक दृष्टिए विकास पामती रही छे।

छेल्लामां छेल्ली पद्धतिए ग्रन्थोनु संशोधन, संपादन अने प्रकाशन करता पूज्यपाद गुरुदेव जीवनना अन्तकाळ पर्यंत अथाग परिश्रम उठाव्यो छे। निर्युक्तिचूर्णि कल्पचूर्णि मलयगिरिव्याकरण, देवभद्रसूरिकृत कथारत्नकोश, वसुदेवहिंडी द्वितीयखंड आदि जेवा अनेक प्रासादभूत ग्रन्थोना संशोधन अने प्रकाशनना महान् मनोरथोने हृदयमां धारण करी छेल्ले एनी प्रेसकोपीओ अने एनु अर्धसंशोधन करी तेओश्री परलोकवासी थया छे। अस्तु भवितव्यने कोना मनोरथ पूरा थवा दीधा छे!!!।

आम छतां जो पूज्यपाद गुरुवर श्रीप्रवर्तकजी महाराज पूज्य गुरुदेव अने समस्त

मुनिगणनी आशीष वरसती रहो–छे ज तो पूज्य गुरुदेवना सत्संकल्पोने मूर्तस्वरूप आपवा अने तेमणे चालु करेली ग्रन्थमाळाने सविशेष उज्ज्वल बनाववा यथाशक्य अल्प स्वल्प प्रयत्न हुं जरूर ज करीश।

गुरुदेवनो प्रभाव—पूज्यपाद गुरुदेवमां दरेक बाबतने लगती कार्यदक्षता एटली बधी हती के कोई पण पासे आवनार तेमना प्रभावथी प्रभावित थया सिवाय रहेतो नहि। मारा जेवी साधारण व्यक्ति उपर पूज्य गुरुदेवनो प्रभाव पडे एमां कहेवापणुं ज न होय, पण पंडित-प्रवर श्रीयुत सुखलालजी, विद्वन्मान्य श्रीमान् जिनविजयजी आदि जेवी अनेकानेक समर्थ व्यक्तिओ उपर पण तेओश्रीनो अपूर्व प्रभाव पडयो छे अने तेमनी विशिष्ट प्रवृत्तिनुं सजीव बीजारोपण अने प्रेरणा पूज्यपाद गुरुदेवना सहवास अने संसर्गथी प्राप्त थया छे।

जैन मंदिर अने ज्ञानभंडार वगेरेना कार्य माटे आवनार शिल्पीओ अने कारीगरो पण श्रीगुरुदेवनी कार्यदक्षता जोई तेमना आगळ बाळभावे वर्त्तता अने तेमना कामने लगती विशिष्ट कळा अने ज्ञानमां उमेरो करी जता।

पूज्यपाद गुरुश्रीए पोताना विविध अनुभवोना पाठ भणावी पाटणनिवासी त्रिवेदी गोवर्धनदास लक्ष्मीशंकर जेवा अजोड लेखकने तैयार करेल छे। जे आजना जमानामां पण सोना चांदीनी शाही बनावी सुंदरमां सुंदर लिपिमां सोनेरी किम्मती पुस्तको लखवानी विशिष्ट कळा तेम ज लेखनकळाने अंगे तलस्पर्शी अनुभव पण धरावे छे।

पाटणनिवासी भोजक भाई अमृतलाल मोहनलाल अने नागोरनिवासी लहिया मूळचंदजी व्यास वगेरेने सुंदरमां सुंदर प्रेसकोपीओ करवानुं काम तेम ज लेखन-संशोधनने लगती विशिष्ट कळा पण पूज्य गुरुदेवे शीखवाडया छे, जेना प्रतापे तेओ आजे पंडितनी कोटिमां गणाय छे।

टूंकमां आजे दरेक ठेकाणे एक एवी कायमी छाप छे के पूज्यपाद प्रवर्तकजी महाराज अने पूज्य गुरुदेवनी छायामां काम करनार लेखक, पंडित के कारीगर हुशियार अने कुशळ ज होय।

उपसंहार—अंतमां हुं कोई पण प्रकारनी अतिशयोक्ति सिवाय एम कही शकुं छुं के—पाटण, वडोदरा, छाणी वगेरेना ज्ञानभंडारना पुस्तको अने ए ज्ञानभंडारो, श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाळा अने एना विद्वान् वाचको, अने पाटण, वडोदरा, छाणी, भावनगर, लींबडी वगेरे ज्ञानभंडारो अने त्यांना श्रीसंघो पूज्यपाद परमगुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजना पवित्र अने सुमंगल नामने कदीय भूली नहि शके।

लि॰ पूज्य गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजना पवित्र चरणोनो अनुचर
अने तेओश्रीनी साहित्यसेवानो सदानो सहचर
मुनि पुण्यविजय

सङ्केतस्पष्टीकरणम् ।



अनुयो०	अनुयोगद्वार सूत्र
अनुयो द्वा० टी०	अनुयोगद्वार सूत्र हारिभद्री टीका
आव० नि० गा०	आवश्यक निर्युक्ति गाथा
कर्मप्र० कर्मप्र० गा०	कर्मप्रकृति गाथा
कर्मस्त० भा० गा०	कर्मस्तव भाष्य गाथा
जिनभ० सङ्ग्र० गा०	जिनभद्रीया सङ्ग्रहणी गाथा
जीवस० गा० जीवसमा० गा०	जीवसमासप्रकरण गाथा
तत्त्वा० अ० सू० भाष्यटी०	तत्त्वार्थ अध्याय सूत्र भाष्यटीका
नन्दी पत्र	नन्दीसूत्र पत्र
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चस० गा०	पञ्चसङ्ग्रह गाथा
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रशम० गा०	प्रशमरतिप्रकरण आर्या
बृहत्कर्मवि० गा०	गर्गर्षिकृत बृहत्कर्मविपाक गाथा
बृ० कर्मस्तव गा०	बृहत्कर्मस्तव गाथा
बृहत्क० भा० गा० बृ० कल्प० गा०	बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गाथा
बृ० शत० गा०	बृहत् शतक कर्मग्रन्थ गाथा
विशेषा० गा० विशेषा० भा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
शत० चू० शत० चूर्णि०	शतक चूर्णि
शत० गा०	शतक कर्मग्रन्थ गाथा
श० बृ० भा० गा० शत० बृ० भा० गा०	शतक बृहद्भाष्य गाथा
सिद्ध० सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सिद्धहेम धा०	सिद्धहेम धातुपाठ



प्रस्तावना

कर्मग्रन्थ द्वितीय विभागनुं नवीन संस्करण—आ विभागमां तपागच्छीय मान्य आचार्यप्रवर श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत स्वोपज्ञ टीकायुक्त शतक नामना पांचमा कर्मग्रन्थनो अने आचार्य श्रीमलयगिरिकृत टीकायुक्त सित्तरि नामना छठ्ठा कर्मग्रन्थनो समावेश करवामां आव्यो छे। आ बन्ने य सटीक कर्मग्रन्थोने बीजा विभाग तरीके प्रसिद्धिमां लाववा माटेनो यश वर्षो अगाउ श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा-भावनगरे प्राप्त कर्यो छे। आजे ए प्रकाशन अलभ्य होवाथी अमे एने बीजी वार प्रकाशमां लाववा प्रयत्न करीए छीए। आ वखतना प्रकाशनमां संशोधनकार्यमाटे प्राचीनतम ताडपत्रीय अने कागळनी प्रतोनो उपयोग करवा उपरांत टीकाकारोए टीकामां उद्धृत करेला प्रमाणोनां स्थळोनी नोंध अने प्राकृत पाठोनी छाया पण आपवामां आवी छे। आदिमां अने अंतमां कर्मग्रन्थना अभ्यासीओने अतिउपयोगी विषयानुक्रम, परिशिष्ट वगेरे पण आपवामां आव्यां छे, जेनो परिचय आ नीचे कराववामां आवे छे।

कर्मग्रन्थनां परिशिष्ट आदि—आ विभागना अंतमां अमे चार परिशिष्ट आप्यां छे। पहेला परिशिष्टमां टीकाकारोए टीकामां उद्धृत करेला आगमिक तेमज शास्त्रीय गद्य पद्य प्रमाणोनी अकारादि क्रमथी अनुक्रमणिका आपी छे, बीजा त्रीजा परिशिष्टमां टीकामां आवता ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोनां नामोनी सूची छे अने चोथा परिशिष्टमां पांचमा-छठ्ठा कर्मग्रन्थमां तेमज तेनी टीकामां आवता पारिभाषिक शब्दोनो कोष (जेनी व्याख्या कर्मग्रन्थ मूळ के टीकामां होय) स्थळनिर्देशपूर्वक आपवामां आव्यो छे।

आ उपरांत आ विभागनी शरूआतमां विषयानुक्रमणिका पछी अमे "कर्मग्रन्थान्तर्गतविषयतुल्यतानिर्देशकानां दिगम्बरीयशास्त्रसम्बन्धिनां स्थलानां निर्देशः" ए मथाळा नीचे छए कर्मग्रन्थमां गाथावार आवता विविध विषयो समानरूपे के विशेषरूपे दिगम्बरीय शास्त्रोमां क्यां क्यां आवे छे तेने लगती एक अतिमहत्त्वनी नोंध आपी छे। आ विद्वत्तापूर्ण नोंध दिगम्बर जैन विद्वान् न्यायतीर्थ न्यायशास्त्री पं० श्रीमहेन्द्रकुमार महाशये तैयार करी छे। आ नोंध कर्मग्रन्थना विशिष्ट अभ्यासीओने एक नवीन मार्ग सूचन करे छे। अमे इच्छीए छीए के आ गौरवभर्यो संग्रह कर्मविषयक साहित्यना विशिष्ट अभ्यासीओ ध्यानपूर्वक अवलोकन करे।

कर्मग्रन्थने अंगे अमारुं वक्तव्य—श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थ-रत्नमालाना प्रधान संचालक अने एना प्राणस्वरूप पूज्य गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजे स्वसम्पादित कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी प्रस्तावनामां आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि अने एमना [illegible]

कर्मग्रन्थोनो विस्तृत परिचय आप्यो छे एटले आ विभागनी प्रस्तावनामा मारे जे काइ कहेवानु छे ए मुख्यत्वे करीने छट्ठा कर्मग्रन्थ अने तेना कर्त्ता आदिने अंगे ज कहेवानु छे।

छट्ठा कर्मग्रन्थनु नाम—आ विभागमा छपाएल छट्ठा कर्मग्रन्थनु नाम सित्तरि छे। आ प्रकरणनी गाथा सित्तेर होवाथी आने सित्तरि ए नामथी ओळखवामा आवे छे। एक जमानो एवो पण हतो ज्यारे ग्रन्थोने एना विषय आदि उपरथी न ओळखता मात्र तेनी पद्यसख्याने आधारे ज ओळखवा ओळखाववामा आवता हता। आना उदाहरण तरीके आचार्य शिवशर्मकृत शतक, आचार्य सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका प्रकरण, आचार्य हरिभद्रकृत पञ्चाशकप्रकरण विंशतिविंशतिकाप्रकरण षोडशकप्रकरण अष्टकप्रकरण, आचार्य जिनवल्लभकृत षडशीतिप्रकरण आदि अनेकानेक प्राचीनतम जैनाचार्यकृत ग्रन्थोना नामोनो निर्देश करी शकाय तेम छे। आपणु चालु प्रकरण पण ए कोटिनु होई एनी गाथा-सख्याने आधारे एने सित्तरि ए नामथी ओळखवामा आवे छे।

गाथासख्या—अमारा प्रस्तुत प्रकाशनमा सित्तरि कर्मग्रन्थनी ७२ गाथाओ छे। अंतनी बे गाथाओ मूळ प्रकरणना विषयनी समाप्ति उपरातनी होई तेने गणतरीमा न लइए—अने न लेवी जोइए—तो आ प्रकरणनु आचार्ये आपेलु सित्तरि ए नाम सुसगत अने सार्थक ज छे। श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा तरफथी प्रसिद्ध थएल द्वितीय विभागमा, आ प्रकरणनी अमारा प्रकाशनमा आवती ७२ गाथा उपरात " पच नव दुन्नि अट्ठा० " गा० ६ " बारसपणसट्ठसया० " गा० ४८ अने " मणुयगइ जाइ तस० " गा० ५८ आ त्रण गाथाओ वधारे छे।

आ त्रण गाथा पैकी "पच नव दुन्नि०" गाथा ६ टीकाकारे वर्णवेला आठ कर्मोनी उत्तर प्रकृतिओना स्वरूपना अनुसधानमा कोई विद्वाने टिप्पणरूपे नोंधेली अंदर पेसी गइ छे।

५८ मी गाथा तरीके मूकायली " मणुयगइ जाइ० " गाथा सित्तरमी गाथा तरीके बीजी वार आवती होवाथी बे पैकी गमे ते एक ठेकाणे ए गाथा पुनरुक्त अने निरुपयोगी छे। अहीं जोवानु एटलु ज रहे छे के बे स्थान पैकी कया स्थाननी गाथा वधारानी छे?। आनो उत्तर आपणने " नाणतरायदसग० " गाथा ५७ नी टीका जोता सहेजे मळी रहे छे के—एकधारा चालती ५७ मी गाथानी टीकामा गाथानी अधूरी टीकाए एकाएक वचमा आवी पडती " मणुयगइ जाइ० " गाथा ५८ तद्दन असगत छे, एटलु ज नहि पण जे टीकापक्तिओने " मणुयगइ० " गाथानी टीका तरीके मानी लेवामा आवी छे ए पण एक भूल थइ छे। अस्तु, खरु जोता गाथा ५७ मा " नवनाम उच्च च " अने गाथा ६९ मा " उच्चगोय नवनामा " आ प्रमाणे बे गाथामा ' नवनाम ' पदनो निर्देश आवतो होवाथी

---

१ अमारा प्रकाशनमा आ गाथा ६७ मी छे ॥ २ अमारा प्रकाशनमा आ गाथा ५५ मी छे ॥

३ अमारा मंतव्य प्रमाणे गाथा ५५ ॥ ४ अमारा संपादनने आधारे गाथा ६६ ॥

सुसंगत अने सूत्रकारसम्मत गाथा छे।

संशोधनमाटे एकठी करेली ताडपत्रीय वगेरे प्राचीन प्रतोमां पण उपरोक्त बन्ने य गाथाओ नथी। चूर्णिकारभगवाने चूर्णिमा "पच नव०" गाथा लीधी छे खरी, पण ते मात्र उत्तरप्रकृतिओना व्याख्याननी सूचना पूरती ज, नहि के सूत्रकारनी गाथा तरीके। "मणुयगइ जाइ०" गाथानो तो चूर्णिकारे ५८ मी गाथाना स्थानमा निर्देश सरखो य कर्यो नथी, तेम टबाकारे पण आ गाथानो निर्देश कर्यो नथी। आ रीते आ बन्ने य गाथाओ सूत्रकारसम्मत नथी।

हवे रही "बारसपणसट्ठसया०" गाथानी वात। आ गाथा उपर अवतरण तेम ज टीका होवा छतां, अमे एने चूर्णिकारना "एएसि उदयविगप्पपयवदनिरूवणत्थमन्तर्भाष्य गाथा—बारसपणसट्ठसया०" आ कथनानुसार बीजी अन्तर्भाष्यगाथाओनी माफक मूळप्रकरणनी गाथा तरीके गणतरीमा लीधी नथी।

आ रीते प्रसारक सभानी आवृत्तिमा मूळप्रकरणगाथा तरीके प्रकाशन पामेली त्रणे गाथाओ सित्तरिप्रकरणकारनी नथी। सित्तरिप्रकरणनी तो ७२ गाथाओ ज छे।

मुद्रित प्रकरणमाला तेमज टबा वगेरेमा आ प्रकरणनी ९२ गाथाओ जोवामा आवे छे, ए बधी ये वधारानी गाथाओ मोटे भागे अर्थनी पूर्ति अने तेना स्पष्टीकरण माटे चूर्णिकार-टीकाकारोए चूर्णि–टीकामा आपेली अन्तर्भाष्य आदिनी ज गाथाओ छे। आ वस्तु एना अन्तमा आवती गाथा उपरथी स्पष्ट रीते समजी शकाय छे—

गाहग्ग सयरीए, चदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ नियमियाण, एगूणा होइ नउई उ॥[1]

भाषा अने छंद—जनकल्याणना इच्छुक जैनाचार्योए लोकजिह्वाने अनुकूळ प्राकृत-भाषा अने ग्रन्थरचनाने अनुकूळ आर्याछंदने ज मुख्यपणे पसंद करेल होई तेमनी मौलिक दरेक रचनाओ प्राकृतभाषा अने आर्याछंदमा ज थई छे। ए रीते सित्तरी कर्मग्रन्थनी रचना पण प्राकृतभाषा अने आर्याछंदमा ज थइ छे।

विषय—पांचमा छट्ठा कर्मग्रन्थना विषयनो परिचय आ विभागमां आपेली विस्तृत विषयानुक्रमणिका जोवाथी वाचकोने मळी रहेशे।

ग्रन्थकारो

नव्य पांच कर्मग्रन्थ अने तेनी स्वोपज्ञ टीकाना प्रणेता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिवरनो

---

१ अमारा संपादन मुजब गाथा ६७॥

विस्तृत परिचय पूज्यपाद गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजे प्रथम विभागनी प्रस्तावनामां आपेलो होई अहीं मात्र सप्ततिकाप्रकरण अने तेनी टीकाना प्रणेताओ विषे ज विचार करवामां आवे छे ।

सप्ततिकाना प्रणेता

सप्ततिकाप्रकरणकारने लगतो प्रश्न विवादग्रस्त छे । सामान्य प्रचलित मान्यता एवी छे के [illegible] श्रीचन्द्रर्षि महत्तर छे, अने मात्र आ रूढ मान्यताने अनुसरवा खातर पूज्य गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजश्रीए पण कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी प्रस्तावनामां अने [illegible] सप्ततिकाना टीपणमां "श्रीचन्द्रर्षिमहत्तरविरचित" एम जणाव्युं छे । परंतु विचार करतां आ रूढ मान्यताना मूळमां कोई पण आधार जडतो नथी ।

सप्ततिका प्रकरण मूळनी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतोमां चन्द्रर्षिमहत्तरनामगर्भित जे "[illegible]" गाथा (था गाथा अमे ऊपर टांकी आप्या छीए) जोवामां आवे छे ए पण [illegible] चन्द्रर्षि महत्तर होवा माटेनी साक्षी आपती नथी । ए गाथा तो [illegible] के-"चन्द्रर्षि महत्तरना मतने अनुसरनी टीकाना आधारे सप्ततिनी गाथा ([illegible]) [illegible] थई छे । आ [illegible]मां सित्तरि प्रकरणनी गाथामां वधारो [illegible] मूळगाथामां आव्युं छे, पण [illegible] कर्ता विषे एथी कशो य [illegible] । [illegible] श्रीमलयगिरि पण टीकानी शरूआतमां के अंतमां ए माटे [illegible] । [illegible] आ [illegible] सित्तरि प्रणेता अंगेनो प्रश्न अणउकल्यो ज रहे छे ।

[illegible] चन्द्रर्षिमहत्तर[illegible] होवानी मान्यता अमने तो भ्रममूलक ज लागे छे, [illegible]" गाथामां आवता चन्द्रर्षिमहत्तर ए नामश्रवण मात्र [illegible] अगम्यत्व अंगेनी ए भ्रममां वधारो थयो छे ।

[illegible] चन्द्रर्षि [illegible] पंचसंग्रह [illegible] रचना करी छे तेमां संग्रह [illegible], [illegible], कषायप्राभृत, [illegible] अने कर्मप्रकृति ए पांचे [illegible] आचार्यनी कृतिरूप होई प्राचीन ज छे । [illegible] आ सप्ततिकाकार अने पंचसंग्रहकार आचार्य एक

[illegible]

[illegible]

ज होय तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोना ग्रन्थोमां जेम शतक सप्ततिका कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोना नामनो साक्षी तरीके उल्लेख मळे छे तेम पञ्चसंग्रह जेवा प्रासादभूत ग्रन्थना नामनो उल्लेख पण जरूर मळवो जोईतो हतो। परंतु एवो उल्लेख क्याय जोवामां नथी आवतो ए एक सूचक वस्तु छे, अने आ उपरथी आपणे ए अनुमान करी शकीए छीए के 'सप्ततिकाना प्रणेता पञ्चसंग्रहकार करता कोई जुदा ज आचार्य छे के जेमनु नाम आपणे जाणता नथी, अने ते प्राचीनतम आचार्य छे'।

सप्ततिकानो रचनाकाळ—भगवान् श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणे [illegible] ग्रन्थमां सित्तरि कर्मग्रन्थमां आवता विषयने अंगे चर्चा करी छे अने सित्तरि प्रकरणना नामनो उल्लेख कर्यो छे एटले आ प्रकरण महाभाष्यकार श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणना काळ पहेलां रचाई चूक्युं हतुं ए निर्विवाद हकीकत छे। भगवान् श्रीजिनभद्रगणिनो समय विक्रमनी सातमी सदीनो गणाय छे एटले ए पूर्वे आ प्रकरण रचायुं हतुं एम मानवामां कशी हरकत नथी।

अहीं साथे साथ ए वात ध्यानमां रहे के महत्तर पद अने गर्गर्षि सिद्धर्षि पार्श्वर्षि चन्द्रर्षि आदि जेवां ऋषिपदान्त नामो सामान्य रीते पाछळना जमानामां [illegible] सित्तरि प्रकरणनी रचनानो समय अने चन्द्रर्षिमहत्तर ए नामनो [illegible] पण विचारवा जेवो छे। ए कारणसर पण सित्तरिना प्रणेता चन्द्रर्षि महत्तर ठरता नथी।

सित्तरिप्रकरणकारविषे आ करता विशेष अने अत्यारे वधु ज [illegible]।

टीकाकार आचार्य श्रीमलयगिरि

सित्तरिटीकाना प्रणेता आचार्य श्रीमलयगिरि छे ए आपणे टीकाना [illegible] नामोल्लेख परथी जाणी शकीए छीए। एमनो संक्षिप्त परिचय अहीं कराववामां आवे छे।

गुणवती गूर्जरातनी गौरववती विभूतिसमा सकल जैन परंपरामां [illegible] गूर्जरेश्वर महाराज श्रीकुमारपालदेवप्रतिबोधक महान् आचार्य श्रीहेमचन्द्र [illegible] महत्तर, भारतीय सकल साहित्यना उपासक [illegible] गूर्जरातनी भूमिमां आवा पुरुषो [illegible] श्रीमलयगिरि कोण हता? तेमनी जन्मभूमि, [illegible] कोना करे दीक्षा [illegible] हता? तेमनो विद्याभ्यास, [illegible] तेमनो शिष्यपरिवार हतो के नहि? इत्यादि दरेक बाबत [illegible] छे।

१ [illegible]

ते छता शोध अने अवलोकनने अंते जे काइ अल्प-स्वल्प सामग्री प्राप्त थई छे तेने आधारे ए महापुरुषनो अहीं परिचय कराववामा आवे छे ।

आचार्य श्रीमलयगिरिए पोते पोताना ग्रन्थोना अतनी प्रशस्तिमा "यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुता लोकः ॥" एटला सामान्य नामोल्लेख सिवाय पोता अगेनी बीजी कोई पण खास हकीकतनी नोंध करी नथी । तेम ज तेमना समसमयभावी के पाछळ थनार लगभग बधा य ऐतिहासिक ग्रन्थकारोए सुद्धा आ जैनशासनप्रभावक आगमज्ञ धुरन्धर सैद्धान्तिक समर्थ महापुरुषमाटे मौन अने उदासीनता ज धारण कर्यां छे। फक्त पदरमी सदीमा थएला श्रीमान् जिनमण्डनगणिए तेमना कुमारपालप्रबन्धमा 'आचार्य श्रीहेमचन्द्र विद्यासाधनमाटे जाय छे' ए प्रसगमा आचार्य श्रीमलयगिरिने लगती विशिष्ट बाबतनो उल्लेख कर्यो छे, जेनो उतारो अहीं आपवामा आवे छे—

"एकदा श्रीगुरूनापृच्छ्यान्यगच्छीयदेवेन्द्रसूरि-मलयगिरिभ्यां सह कलाकलापकौशलाद्यर्थं गौडदेशं प्रति प्रस्थिताः खिल्लूरग्रामे च त्रयो जना गताः । तत्र ग्लानो मुनिर्वैयावृत्त्यादिना प्रतिचरितः । स श्रीरैवतकतीर्थे देवनमस्करणकृतार्त्तिः । यावद् ग्रामाध्यक्षश्राद्धेभ्यः सुखासनं प्रगुणीकृत्य ते रात्रौ सुप्तास्तावत् प्रत्यूषे प्रबुद्धाः स्वं रैवतके पश्यन्ति । शासनदेवता प्रत्यक्षीभूय कृतगुणस्तुतिः 'भाग्यवतां भवतामत्र स्थितानां सर्वं भावि' इति गौडदेशे गमनं निषिध्य महौषधीरनेकान् मन्त्रान् नाम प्रभावाख्यानपूर्वमाख्याय स्वस्थानं जगाम ।

एकदा श्रीगुरुभिः शुभमुहूर्ते दीपोत्सवचतुर्दशीरात्रौ श्रीसिद्धचक्रमन्त्रः साम्नायः समुपदिष्टः । स च पद्मिनीस्त्रीकृतोत्तरसाधकत्वेन साध्यते तदा सिध्यति, याचितं वरं दत्ते, नान्यथा । × × × × × ततश्च त्रयः कृतपूर्वसेवास्त्रयः श्रीअम्बिकाकृतसांनिध्याः शुभध्यानधौरेयाः श्रीरैवतदेवतादृष्टौ त्रिपाणिग्रहणामाह्वानावगुण्ठनमुद्राकरणमन्त्रन्यासविसर्जनादिभिरुपचारैर्गुरूक्तविधिना सर्वाङ्गशुभलक्षणपद्मिनीस्त्रीकृतोत्तरसाधकक्रियाः श्रीसिद्धचक्रमन्त्रमसाधयन् । तत्र इन्द्रसामानिकदेवताऽधिष्ठिता श्रीविमलेश्वरदेवता प्रत्यक्षीभूय पुष्पवृष्टिं विधाय 'स्वेप्सितं वरं वृणुत' इत्युवाच । तत्र श्रीहेमसूरिणा राजप्रतिबोधः, देवेन्द्रसूरिणा निजावदातकरणाय कान्तीनगर्याः प्रासाद एकरात्रौ ध्यानबलेन सेरीसकग्रामे समानीत इति जगदर्शिदि, मलयगिरिसूरिणा सिद्धान्तवृत्तिकरणवर इति । त्रयाणां वरं दत्त्वा देवता स्वस्थानमगात् ।"

जिनमण्डनीय कुमारपालप्रबन्ध पत्र १२-१३ ॥

सारांश—आचार्य श्रीहेमचन्द्र गुरुनी आज्ञा लई अन्यगच्छीय श्रीदेवेन्द्रसूरि अने श्रीमलयगिरिनी साथे कलाओमा कुशळता मेळववा माटे गौडदेश तरफ विहार कर्यो । रस्तामा आवता खिल्लूर गामना एक साधु मांदा हता तेमनी त्रण जणाए सारी रीते

सेवा करी । ते साधु गिरनार तीर्थनी यात्रा माटे रूप जागता हता । तेमनी अंतसमयनी भावना पूरी करवामाटे गामना लोकोने समजावी पालखी वगेरे साधनने बदोबस्त करी रात्रे सूई गया । सवारे उठीने जुए छे तो श्रणे जणा पोतानी जातने गिरनारमा जुए छे । आ बनने शासनदेवताए आवी तेमने कह्यु के—आप त्रणेनु धारेलु बधु य काम थशे ज पार पडी जशे, हव आपने आ माटे गौडदेशमां जवानी जरूरत नथी । अने विधि नाम माहात्म्य कहेवा पूर्वक अनेक मन्त्र औषधी वगेरे आपी देवी पोताने ठेकाणे चाली गई ।

एक वखत गुरुमहाराजे तेमने सिद्धचक्रनो मन्त्र आम्नाय साथे आप्यो, जे काळी चौदशनी राते पद्मिनी स्त्रीना उत्तरसाधकपणाथी सिद्ध करी शकाय । × × × × × श्रणे जणाए विद्यासाधनना पुरश्चरणने सिद्ध करी, अम्बिकादेवीनी सहायथी भगवान श्रीनेमिनाथ सामे बेसी सिद्धचक्रमन्त्रनी आराधना करी । मन्त्रना अधिष्ठायक श्रीविमलेश्वरदेवे प्रसन्न थई श्रणे जणाने कह्यु के—तमने गमतु वरदान मागो । त्यारे श्रीहेमचन्द्रे राजाने प्रतिबोध करवानु, श्रीदेवेन्द्रसूरिए एक रातमा कान्तीनगरीथी सेरीसामा मंदिर लाववानु अने श्रीमलयगिरिसूरिए जैन सिद्धान्तोनी वृत्तिओ रचवानु वर माग्यु । श्रणेने तेमनी इच्छा प्रमाणेनु वर आपी देव पोताने स्थाने चाल्यो गयो । ”

उपर कुमारपालप्रबन्धमाथी जे उतारो आपवामा आव्यो छे एमां मलयगिरि नामनो जे उल्लेख छे ए बीजा कोई नहि पण जैन आगमोनी वृत्तिओ रचनारु वर मागनार कोई प्रस्तुत मलयगिरि ज छे । आ उल्लेख टूको होवा छतां एमा नीचेनी महत्त्वनी बाबतोनो उल्लेख थएलो आपणे जोई शकीए छीए—१ पूज्य श्रीमलयगिरि भगवान् श्रीहेमचन्द्र साथ विद्यासाधनमाटे गया हता । २ तेमने जैन आगमोनी टीकाओ रचवा माटे वरदान मेळव्यु हतु अथवा ए माटे पोते उत्सुक होइ योग्य साहाय्यनी मागणी करी हती । ३ ‘ मलयगिरिसूरिणा ’ ए उल्लेखथी श्रीमलयगिरि आचार्य पदविभूषित हता ।

श्रीमलयगिरि अने तेमनु सूरिपद—पूज्य श्रीमलयगिरि महाराज आचार्यपद विभूषित हता के नहि ? ए प्रश्ननो विचार आवता, जो आपणे सामान्य रीते तेमना रचेला ग्रन्थोना अन्तनी प्रशस्तिओ तरफ नजर करीशु तो आपणा तमा तेओश्रीमाटे “ यदवापि मलयगिरिणा ” एटला सामान्य नामनिर्देश सिवाय बीजो कशो य खास विशेष उल्लेख जोइ शकीशु नहि । तेमज तेमना पछी लगभग एक सैका बाद एटले के चौदमी सदीनी शरुआतमा थनार तपागच्छीय आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिसूरिए श्रीमलयगिरिविरचित

१ बृहत्कल्पसूत्रनी टीका आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिए वि. स. १३३२ मां पूर्ण करी छे ।

बृहत्कल्पसूत्रनी अपूर्ण टीकाना अनुसन्धानना मंगलाचरण अने उत्थानिकामा पण एमने माटे आचार्य तरीकेनो स्पष्ट निर्देश कर्यो नथी । ए विषेनो स्पष्ट उल्लेख तो आपणने पन्दरमी सदीमा थनार श्रीजिनमण्डनगणिना कुमारपालप्रबन्धमा ज मळे छे । एटले सौ कोइने एम लागशे के तेओश्री माटे आचार्य तरीकेनो निर्देश करवा माटे आचार्य श्रीक्षेमकीर्ति जेवाए ज्यारे उपेक्षा करी छे तो तेओश्री वास्तविक रीते आचार्यपदविभूषित हशे के केम ? अने अमने पण ए माटे तर्क–वितर्क थता हता । परन्तु तपास करता अमने एक एवु प्रमाण जडी गयु के जेथी तेओश्रीना आचार्यपदविभूषित होवा माटे बीजा कोई प्रमाणनी आवश्यकता रहे ज नहि । ए प्रमाण खुद श्रीमलयगिरिविरचित स्वोपज्ञशब्दानुशासनमा छे, जेनो उल्लेख अहीं करवामा आवे छे—

" एवं कृतमङ्गलरक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थं लघूपायं आचार्यो मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते । "

आ उल्लेख जोया पछी कोइने पण तेओश्रीना आचार्यपणाविषे शंका रहेशे नहि ।

श्रीमलयगिरिसूरि अने आचार्य श्रीहेमचन्द्रनो सम्बन्ध—उपर आपणे जोई आव्या छीए के श्रीमलयगिरिसूरि अने भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य विद्याभ्यासने विकसित थवामाटे तेम ज मन्त्रविद्यानी साधनामाटे साथे रहेता हता अने साथे विहारादि पण करता हता । आ उपरथी तेओ परस्पर अतिनिकट सम्बन्ध धरावता हता, ते छता आ सम्बन्ध केटली हद सुधीनो हतो अने तेणे केवु रूप लीधु हतु ए जाणवा माटे आचार्य श्रीमलयगिरिए पोतानी आवश्यकवृत्तिमा भगवान् श्रीहेमचन्द्रनी कृतिमानु एक प्रमाण टाकता तेओश्री माटे जे प्रकारनो बहुमानभर्यो उल्लेख कर्यो छे ते आपणे जोइए । आचार्य श्रीमलयगिरिनो ए उल्लेख आ प्रमाणे छे—

" तथा चाहु स्तुतिषु गुरवः—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ "

हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका श्लोक ३०

आ उल्लेखमा श्रीमलयगिरिए भगवान् श्रीहेमचन्द्रनो निर्देश " गुरवः " एवा अति बहुमानभर्या शब्दथी कर्यो छे । आ उपरथी भगवान् श्रीहेमचन्द्रना पाण्डित्य, प्रभाव अ

---

१ " [illegible] विनेयेभ्यो विद्याम् । यद्वचनचन्दनरसैर्मलयगिरिः स जयति यथार्थः ॥" श्रीमलयगिरिविरचिता [illegible] । सा [illegible] यथाऽनुमन्यते [illegible] ॥

२ "-[illegible] न [illegible] शब्दानुशासनम् [illegible] श्रीमलयगिरिसूरि [illegible] ।

गुणोनी छाप श्रीमलयगिरि जेवा समर्थ महापुरुष पर केटली ऊंडी पडी हती एनी कल्पना आपणे सहेजे करी शकीए छीए। साथे साथे आपणे ए पण अनुमान करी शकीए के—श्रीमलयगिरि श्रीहेमचन्द्रसूरि करतां वयमां भले नाना मोटा होय, परंतु व्रतपर्यायमां तो तेओ श्रीहेमचन्द्र करतां नाना ज हता। नहि तो तेओ श्रीहेमचन्द्राचार्य माटे गमे तेटलां गौरवतासूचक विशेषणो लखे पण "गुरव" एम तो न ज लखे।

मलयगिरिनी ग्रन्थरचना—आचार्य श्रीमलयगिरिए केटला ग्रन्थो रच्या हता ए विषेनो स्पष्ट उल्लेख क्यांय जोवामां नथी आवतो। तेम छतां तेमना जे ग्रन्थो अत्यारे मळे छे, तेम ज जे ग्रन्थोना नामोनो उल्लेख तेमनी कृतिमां मळवा छतां अत्यारे ए मळता नथी, ए बधायनी यथाप्राप्त नोंध आ नीचे आपवामां आवे छे।

मळता ग्रन्थो

नाम	[1]ग्रन्थश्लोकप्रमाण	
१ भगवतीसूत्र द्वितीयशतकवृत्ति	३७५०	
२ राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००	मुद्रित
३ जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००	मुद्रित
४ प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००	मुद्रित
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	
६ सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	मुद्रित
७ नन्दीसूत्रटीका	७७३२	मुद्रित
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००	मुद्रित
९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति–अपूर्ण	४६००	मुद्रित
१० आवश्यकवृत्ति–अपूर्ण	१८०००	मुद्रित
११ पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७००	मुद्रित
१२ ज्योतिष्करण्डकटीका	५०००	मुद्रित
१३ धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००००	मुद्रित
१४ कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००	मुद्रित
१५ पञ्चसंग्रहवृत्ति	१८८५०	मुद्रित
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००	मुद्रित
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०	मुद्रित
१८ बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	मुद्रित
१९ बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	मुद्रित
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५००० (?)	

१ अहीं आपवामां आवेली श्लोकसंख्या केटलाकनी मुद्रितप्रतिओनी छे ॥

अलभ्य ग्रन्थो

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका
२ ओघनिर्युक्ति टीका
३ विशेषावश्यक टीका
४ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका
५ धर्मसारप्रकरण टीका
६ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण टीका

आ जे ग्रन्थोनां नामोनी नोंध आपवामां आवी छे तेमांथी श्रीमलयगिरिशब्दानुशासन सिवायना बधा य ग्रन्थो टीकात्मक ज छे। एटले आपणे आचार्य मलयगिरिने ग्रन्थकार तरीके ओळखीए ते करता तेमने टीकाकार तरीके ओळखवा ए ज सुसंगत छे

आचार्य श्रीमलयगिरिनी टीकारचना—आज सुधीमां आचार्य श्रीहरिभद्र, गंधहस्ती सिद्धसेनाचार्य, श्रीमान् कोट्याचार्य, आचार्य श्रीशीलाङ्क, नवाङ्गीवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि, मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्र, तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि आदि अनेक समर्थ टीकाकार आचार्यो थइ गया छे ते छता आचार्य श्रीमलयगिरिए टीकानिर्माणना क्षेत्रमां एक जुदी ज भात पाडी छे। श्रीमलयगिरिनी टीका एटले तेमना पूर्ववर्ती ते ते विषयना प्राचीन ग्रन्थो, चूर्णी, टीका, टिप्पण आदि अनेक शास्त्रोना दोहन उपरात पोता तरफना ते ते विषयने लगता विचारोनी परिपूर्णता समजवी जोइए। गंभीरमां गंभीर विषयोने चर्चती वखते पण भाषानी प्रासादिकता, प्रौढता अने स्पष्टतामां जरा सरखी पण उणप नजरे पडती नथी अने विषयनी विशदता एटली ज कायम रहे छे।

आचार्य मलयगिरिनी टीका रचवानी पद्धति टूंकमां आ प्रमाणेनी छे—तेओश्री मौ पहेला मूलसूत्र, गाथा के श्लोकना शब्दार्थनी व्याख्या करता जे स्पष्ट करवानु होय ते साथे कही दे छे। त्यार पछी जे विषयो परत्वे विशेष स्पष्टीकरणनी आवश्यकता होय तेमने "अय भाव, किमुक्त भवति, अयमाशय, इदमत्र हृदयम्" इत्यादि लखी आगवा य वक्तव्यनो सार कही दे छे। आ रीते प्रत्येक विषयने स्पष्ट कर्या पछी तेने लगता प्रासंगिक अने अनुप्रासंगिक विषयोने चर्चवानु तेमज तद्विषयक अनेक प्राचीन प्रमाणोनो उल्लेख करवानु पण तेओश्री चूकता नथी। एटलु ज नहि पण जे प्रमाणोनो पोते उल्लेख कर्यो होय तेने अंगे जरूरत जणाय त्या विषम शब्दोना अर्थो, व्याख्या के भावार्थ लखवानु पण तेओ भूलता नथी, जेथी कोई पण अभ्यासीने तेना अर्थ माटे मुझावु न पडे के फाफा मारवा न पडे। आ कारणसर तेमज उपर जणाववामा आव्यु तेम भाषानी प्रासादिकता अने अर्थ तेमज विषयप्रतिपादन करवानी विशद पद्धतिने लीधे आचार्य श्रीमलयगिरिनी टीकाओ अने तेमनु टीकाकारपणु समग्र जैन समाजमा खूब ज प्रतिष्ठा पाम्या छे।

---

१ "यथा च प्रमाणबाधितत्वं तथा तत्त्वार्थटीकायां भावितमिति ततोऽवधार्यम्' प्रज्ञापनासूत्र टीका ॥ २ यथा चापुरुषार्थता अर्थकामयोस्तथा धर्मसारटीकायामभिहितमिति नेह प्रतायते। धर्मसंग्रहणीटीका ॥ ३ 'वृत्तादीनां च प्रतिपृथिवि परिमाणं देवेन्द्रनरकेन्द्रे प्रपञ्चितमिति नेह भूय प्रपञ्च्यते' संग्रहणीवृत्ति पत्र १०६ ॥

आचार्य मलयगिरिनुं बहुश्रुतपणुं—आचार्य मलयगिरिकृत महान् ग्रन्थराशिनुं अवगाहन करतां तेमां जे अनेक आगमिक अने दार्शनिक विषयो छे, तेमज प्रसंगे प्रसंगे ते ते विषयने लगतां जे अनेकानेक कल्पनातीत शास्त्रीय प्रमाणो टांकेलां छे, ए जोतां आपणे समजी शकीशुं के—तेओश्री मात्र जैन वाङ्मयनुं ज ज्ञान धरावता हता एम न होतुं परंतु त्यारनां सब प्रकारनां भारतीय जैन-जैनेतर दार्शनिक साहित्य, ज्योतिर्विद्या, गणितशास्त्र, लक्षणशास्त्र आदिने लगता विविध अने विशिष्ट शास्त्रीय ज्ञाननो विशाळ वारसो धरावनार महापुरुष हता। तेओश्रीए पोताना ग्रन्थोमां जे रीते पदार्थोनुं निरूपण कर्युं छे ए तरफ आपणे सूक्ष्म रीते ध्यान आपीशुं तो आपणने लागशे के ए महापुरुष विपुल वाङ्मयवारिधिने घूंटीने पी ज गया हता, अने आम कहेवामां आपणे जरा पण अतिशयोक्ति नथी ज करता। पूज्य आचार्य श्रीमलयगिरिसूरिवरमां भले गमे तेटलुं विश्वविद्याविषयक पाण्डित्य हो, ते छतां तेओश्री एकान्त निवृत्तिमार्गना पोषी अने निवृत्तिमार्गपरायण होई तेमने आपणे निवृत्तिमार्गपरायण जैनधर्मनी परिभाषामां आगमिक के सैद्धान्तिक युगप्रधान आचार्य तरीके ओळखीए ए ज वधारे घटमान वस्तु छे।

आचार्य मलयगिरिनुं आन्तर जीवन—वीरवर्द्धमान-जैन-प्रवचनना अलंकारस्वरूप, युगप्रधान, आचार्यप्रवर श्रीमलयगिरि महाराजनी जीवनरेखा विषे एकाएक कांई पण बोलवुं के लखवुं ए खरे ज एक अघरुं काम छे ते छतां ए महापुरुष माटे टूंकमां पण लख्या सिवाय रही शकाय तेम नथी।

आचार्य श्रीमलयगिरिविरचित जे विशाळ ग्रन्थराशि आजे आपणी नजर सामे विद्यमान छे ए पोते ज ए प्रभावक पुरुषना आन्तर जीवननी रेखा दोरी रहेल छे। ए ग्रन्थराशि अने तेमां वर्णवायेला पदार्थो आपणने कही रह्या छे के—ए प्रज्ञाप्रधान पुरुष महान् ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, आत्मयोगी अगर जे मानो ते हता। ए गुणधाम अने पुण्यनाम महापुरुषे पोतानी जातने एटली छुपावी छे के एमना विशाळ साहित्यराशिमां कोई पण ठेकाणे एमणे पोताने माटे ‘यदवादि मलयगिरिणा” एटलो सामान्य नामनिर्देश सिवाय कशुं य लख्युं नथी। वार वार वन्दन हो ए मान मदविरहित महापुरुषना पादपद्मने!!!।

संशोधनमाटे एकत्र करेली हस्तलिखित प्रतिओ

प्रस्तुत विभागमां प्रकाशन पामता पांचमा-छट्ठा कर्मग्रन्थना संशोधनमाटे प्राचीन ताडपत्रीय अने कागळ उपर लखाएल सात प्रतिओ एकठी करवामां आवी हती। जेना संकेत वगेरेनो परिचय अहीं आपवामां आवे छे।

१-२ सं० १ अने सं० २ संज्ञक प्रतिओ—आ बन्ने य प्रतिओ पाटण-संघवीना पाडाना ताडपत्रीय ज्ञानभंडारनी छे। ए भंडार अत्यारे शा० मेवतीलाल छोटालाल पटवानी संभाळ नीचे छे।

सं० १ सञ्ज्ञक प्रति ताडपत्रीय छे अने ते सटीक छठ्ठा कर्मग्रन्थनी छे । तेना पाना ३५१ छे अने तेनी लंबाई-पहोळाई ३५॥×२॥ इंचनी छे । प्रतिनी दरेक पुठीमां वधारेमां वधारे छ अने ओछामां ओछी चार पंक्तिओ लखाएली छे । एनी लिपि तेम ज स्थिति घणी ज सारी छे अने तेना अन्तमां नीचे प्रमाणे उल्लेख छे—

" इति श्रीमलयगिरिविरचिता सप्ततिटीका समाप्ता ॥छ॥ ग्रन्थाग्रम् ३८८० ॥छ॥ संवत् १४६२ वर्षे माघ शुदि ६ भौमे अद्येह श्रीपत्तने लिखितम् ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥

ऊकेशवंशसम्भूत , प्रभूतसुकृतादर ।
वासी साण्डउमीग्रामे, सुश्रेष्ठी महुणाभिध ॥ १ ॥

मोघीकृताघसङ्घाता, मोघीरप्रतिघोदया ।
नानापुण्यक्रियानिष्ठा, जाता तस्य सधर्मिणी ॥ २ ॥

तयो पुत्री पवित्राशा, प्रशस्या गुणसम्पदा ।
हाद्दूरीकृता दोषैर्धर्मैकर्मैककर्मठा ॥ ३ ॥

शुद्धसम्यक्त्वमाणिक्यालङ्कृत सुकृतोदय ।
एतस्या भागिनेयोऽभूदाकाक श्रावकोत्तम ॥ ४ ॥

श्रीजैनशासननभोऽङ्गणभास्कराणां, श्रीमत्तपागणपयोधिसुधाकराणाम् ।
विश्वाद्भुतातिशयराशियुगोत्तमानां, श्रीदेवसुन्दरगुरुप्रथिताभिधानाम् ॥ ५ ॥

पुण्योपदेशमथ पेशलसन्निवेशं, तत्त्वप्रकाशविशदं विनिशम्य सम्यक् ।
एतत् सुपुस्तकमलेखयदुत्तमाशा, सा श्राविका विपुलबोधसमृद्धिहेतो ॥ ६ ॥

बाणाङ्कवेदेन्दुमिते १४६५ प्रवृत्ते, संवत्सरे विक्रमभूपतीये ।
श्रीपत्तनाह्वानपुरे वरेण्ये, श्रीज्ञानकोशे निहितं तयेदम् ॥ ७ ॥

यावद् व्योमारविन्दे कनकगिरिमहाकर्णिकाकीर्णमध्ये,
विस्तीर्णोद्दीर्णकाष्ठातुलदलकलिते सर्वदोज्जृम्भमाणे ।
पक्षद्वन्द्वावदातौ वरतरगतित खेलतो राजहंसौ,
तावज्जीयादजस्रं कृतियतिभिरिदं पुस्तकं वाच्यमानम् ॥ ८ ॥ शुभं भवतु ॥"

सं० २ प्रति पण ताडपत्रीय छे अने ते सटीक पांच कर्मग्रन्थ सुधीनी छे । तेना पाना २ थी ३०६ छे अने पांचमा कर्मग्रन्थनो अन्तनो थोडो भाग खूटे छे । प्रतिनी लंबाई-पहोळाई २२।×२। इंचनी छे । दरेक पुठीमां छ के सात लिटिओ छे । प्रतिना देखाव अने लिपिने ध्यानमां लेतां ए चौदमी सदीमां लखाएली लागे छे । एनी स्थिति साधारण छे ।

उपरोक्त बन्ने य प्रतिओनी पंक्तिओ अव्यवस्थित होवाने लीधे तेनी अक्षरसंख्या

जणावी नथी। आ बन्ने य प्रतिओ ताडपत्रीय होई त्रण विभागमां लखाएली छे अने एना पानाने दोराथी व्यवस्थित राखवा माटे वचला बे विभागमां काणां पाडेलां छे।

३ सं० २ संज्ञक प्रति——आ प्रति पण उपरोक्त संघवीना पाडाना ताडपत्रीय भंडारनी ज छे अने ताडपत्र उपर लखाएल छे। आ प्रति पण आचार्य मलयगिरिकृत टीका युक्त सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। एनी पत्रसंख्या १२२ छे, ते पैकी ४५-६१-१०१-१०८ ए चार पाना खोवाई गया छे। प्रतिनी लंबाई-पहोळाई १४×२॥ इंचनी छे। अने पुठीदीठ पांचथी सात लीटीओ छे। प्रति जीर्ण स्थितिमां छे। प्रति बे विभागमां लखाएली छे अने तेना पानाने व्यवस्थित राखी शकाय ए माटे वचला विभागमां दोरो परोववा माटे एक काणुं पाडवामां आव्युं छे। प्रतिना अन्तमां नीचे मुजबनी ग्रन्थना नाम अने लेखनसमयने दर्शावती पुष्पिका छे—

" ॥ इति मलयगिरिविरचिता सप्ततिकाटीका समाप्ता ॥ छ ॥ छ ॥ ६०३ ॥ छ ॥ छ ॥ संवत् १२–१ वर्षे शुद ६ बुधे ॥ ग्रन्थाग्र ॥ ३७८० ॥ "

उपर एकवार सं० २ संज्ञक प्रतिनो परिचय आपी दीधा छतां अहीं बीजीवार सं०२ संज्ञक प्रतिनो परिचय आपवामां आव्यो छे एनो आशय ए छे के——उपरोक्त सं०२ संज्ञक प्रति चार कर्मग्रन्थ सुधीनी छे अने आ सं० २ संज्ञक प्रति मात्र सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। बन्ने य प्रतिओ एक ज भंडारनी छे एटले आ प्रतिने अमे उपरोक्त प्रतिना अनुसन्धान तरीके सं०२ ए संज्ञाथी ज ओळखावी छे।

आ प्रतिनी शरूआत पत्र १ थी थवा छतां एमां सप्ततिकाटीकानी शरूआत गाथा २१ नी टीकाना अंत भागथी थाय छे ए एक विचित्रता छे।

४ सं० संज्ञक प्रति——आ प्रति पाटण-श्रीसंघना विशाल ज्ञानभंडारनी छे, जे अत्यारे शेठ धर्मचन्द अभयचन्दनी पेढीना कार्यवाहकोनी देखरेख नीचे छे। आ प्रति कागळ उपर लखाएली छे अने ते पण सटीक सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। एनां पानां २८० ८ । एनी लंबाई-पहोळाई १५॥×२ इंचनी छे। पानानी पुठीदीठ चारथी छ लीटीओ छे। प्रतिनी स्थिति सारी छे। अंतमां नीचे प्रमाणेनी सादी पुष्पिका छे—

इति श्री मलय सप्ततिकाटीका समाप्ता ॥छ॥ ग्रन्थाग्र ३८८० ॥छ॥ मंगल महाश्री ॥ शुभं भवतु श्रीसंघस्य ॥

प्रतिना अंतमां संवतनो उल्लेख नथी ते छतां एनी स्थिति जोतां ए चौदमा सदीनी शरूआतमां लखाई होय एम लागे छे।

५ मु० संज्ञक प्रति——आ प्रति पाटणनिवासी शा० [illegible] [illegible] छे अने कागळ उपर लखाएली छे। प्रति सटीक [illegible] कर्मग्रन्थनी [illegible] लखायेल छे। एनां पत्र २९ छे। प्रतिनी लंबाई-पहोळाई १[illegible]॥×४॥ इंचनी छे।

दरेक पृष्ठमां [illegible] छे अने पंक्तिदीठ ५० थी ६० अक्षरो छे।
प्रतिनी स्थिति घणी ज सारी छे। अंतमां नीचे प्रमाणे पुष्पिका छे—

"इति श्रीमलयगिरिसूरिविरचिता सप्ततिटीका समाप्ता॥ ॥छ॥ ॥संवत् १७०४ वर्षे कार्तिक सुदि ८ सोमे लिखित॥छ॥ ॥ग्रंथाग्र ३८८०॥ सर्वग्रंथाग्र १४०५२॥ ॥छ॥ ॥छ॥ ॥श्री॥ ॥श्रीरस्तु॥ ॥छ॥ ॥छ॥

चतुर्दश सहस्राणि, सार्धं शतसमन्वितम्।
ग्रन्थ कर्मविपाकाना, षण्णामत्र निरूपितम् ॥१॥

नन्द वाच्यमानासोव्रसीयमाना भवतु ॥ श्रीराजनगरे लिखिता ॥
एतस्या शुचिसम्प्रदायविगमात् तादृक्सुशास्त्रेक्षणा
भावाद् ग्रन्थगतार्थबोधविरहाद् बुद्धेश्च मान्द्यान्मया।
दुष्ट छिद्रमशिष्ट[मत्र] समयातीतं च यत्किञ्चन,
प्राज्ञैः शास्त्रविचारचारुहृदयैः क्षम्यं च शोध्यं च तत् ॥१॥

श्रीमज्जैनमतं यावज्जयवज्जगतीहितम्।
अस्तु वृत्तिरियं तावद्, मुनि भव्योपकारिणी ॥२॥ इति भद्रम् ॥

६ त० संज्ञक प्रति—आ प्रति पाटण-फोफलीयावाडानी आगली सेरीमान तपागच्छीय पुस्तकभंडारनी छे। आ भंडार अत्यारे शा मलुकचंद दोलाचंदनी देख रेखमां छे। प्रति कागळ उपर लिखाएली छे अने सटीक छ ये कर्मग्रंथनी छे पत्र पाना ११९ छे। प्रतिनी लंबाई-पहोळाई १०॥×४॥ इंच छे। पानानी दरेक पुठीमां २४ थी २७ पंक्तिओ छे अने पंक्तिदीठ ६३ थी ८१ अक्षरो छे। प्रति घणी ज सारी लिखेली छे अने अंतमां आ प्रमाण पुष्पिका छे—

"संवत् १६०६ वर्षे कार्तिक सुद ४ गुरौ दिने लिखितम्। छ। शुभ भवतु॥"

७ छा० संज्ञक प्रति—आ प्रति, वडोदरा नजीक आवेला छायापुरी (छाणी) गामना ज्ञानमंदिरमां रहेला पूज्यपाद परम गुरुदेव प्रवर्तक श्री १००८ श्रीकान्तिविजयजी महाराजश्रीना पुस्तकभंडारनी छे। आ ज्ञानभंडार हमणां त्यांना श्रीसंघनी देखरेख नीचे छे। आ प्रति कागळ उपर लखाएली छे अने ते सटीक छ कर्मग्रंथनी छे। एना पाना १५६ छे अने लंबाई-पहोळाई १०।×४॥। इंच छे। दरेक पानामां १५ पंक्तिओ छे अने पंक्तिदीठ ५३ थी ६० अक्षरो लखाएला छे। प्रति घणी सारी लिखेली छे। अंतमां खास पुष्पिका जेवु कांई य नथी।

ग्रन्थवृत्तिनी शुद्धाशुद्धि अने संपादन—उपर अमे जे सात प्रतिओनो परिचय आप्यो छे ते पैकी एक पण आखी अने शुद्ध प्रति ताडपत्रनी ज गणाय। कागळ उपर लखाएली प्रतिओ अशुद्धप्राय होवाथी तेनो एक रीते बीजे नंबर ज गणाय। ते छतां य प्रयोग

संशोधनकार्यमां पूरेपूरी मदद आपी छे। आ सात प्राचीन-प्राचीनतम प्रतिओने सामे राखी पूज्य गुरुवर श्री १००८ श्री चतुरविजयजी महाराजे प्रस्तुत कर्मग्रन्थना द्वितीय विभागनुं अति गौरवताभर्युं संशोधन अने संपादनकार्य कर्युं छे अने एने पाठान्तर विगेरेथी विभूषित कर्यो छे। कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी माफक आ विभागनां प्रत्येक फॉर्मेनां मुफप्रूफोने एक एक वार आदिथी अंत सुधी में अति काळजीपूर्वक तपास्यां छे तेम ज पाठान्तरादिनो निर्णय करवामां यथाशक्य स्वल्प सहकार पण आप्यो छे। ते छतां आ समग्र ग्रन्थना संशोधन अने सम्पादनने लगतो बधो य भार पूज्य गुरुवरे ज उपाड्यो छे ए मारे स्पष्ट रीते कही देवुं ज जोइए।

आभार

आ विभागना संशोधनमां उपयोगी हस्तलिखित प्राचीन प्रतिओ, भंडारना जे जे कार्यवाहकोए अमने आपवा माटे उदारता दर्शावी छे,—जेमना नामो अमे उपर प्रतिओना परिचयमां लखी आव्या छीए,—ते सौनो अमो आभार मानीए छीए।

आ पछी अमे स्याद्वाद महाविद्यालय-बनारसना जैनदर्शनाध्यापक दिगम्बर विद्वान् श्रीयुत महेन्द्रकुमार जैन न्यायतीर्थ-न्यायशास्त्रीनो सविशेष आभार मानीए छीए, जेमणे छए कर्मग्रन्थमां आवता विषयो सम के विषम रीते दिगम्बराचार्यविरचित ग्रन्थोमां कये कये ठेकाणे आवे छे तेने लगतो गाथावार स्थलनिर्देशरूप संग्रह तैयार करी आप्यो छे। आ संग्रहने अमे प्रस्तुत विभागना प्रारंभमां प्रकाशित कर्यो छे।

आ उपरांत अमे पंडितवर्य श्रीयुत भगवानदास हर्षचन्द्रना नामने पण भूली शकीए तेम नथी। कारण के पं० श्रीमहेन्द्रकुमार महाशये तैयार करेल उपर जणावेल नोंधनी नकल एटली भ्रामक हती के ए नकल प्रेसमां चाली शके ज नहि। आ स्थितिमां आ गौरवभर्यो संग्रह मुद्रणथी वंचित ज रही जात, परंतु पं० श्रीयुत भगवानभाईए ते ते दिगंबरीय ग्रंथो जोइने आ संग्रहनी सुवाच्य अने प्रेसने लायक पाठिव्यभरी कॉपी पोताने हाथे नवेसर करी आपी, जेने लीधे आ संग्रह प्रकाशमां आव्यो अने अमारुं कर्मग्रन्थनुं नवीन संस्करण वधारे गौरववंतुं बन्युं। आ गौरवमाटेनो खरो यश पं० श्रीभगवानदासभाइने ज छे एम अमे मानीए छीए।

क्षमाप्रार्थना—अंतमां विद्वानो समक्ष एटलुं ज निवेदन छे के-प्रस्तुत संस्करणना सम्पादन अने संशोधनने निर्दोष बनाववा तेमज गौरवयुक्त करवा अमे गुरु-शिष्ये दरेक शक्य प्रयत्नो कर्या छे। ते छतां आमां जे स्खलना के उणप जणाय ते बदल विद्वानो क्षमा करे एटलुं इच्छी विरमुं छुं।

निवेदक—

गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराज चरण सेवक

मुनि पुण्यविजय

गाथा	विषय	पत्र
१	मङ्गलाचरण अने ग्रन्थनो विषय [ध्रुवबन्धि-अध्रुवबन्धि, ध्रुवोदयि-अध्रुवोदयि, ध्रुवसत्ताक-अध्रुवसत्ताक, घाती-अघाती, पुण्य-पाप, परावर्तमान-अपरावर्तमान, चार प्रकारना विपाक, चार प्रकारनो बन्ध, बन्धना स्वरूपने स्पष्ट करतुं मोदकनुं दृष्टान्त अने चार प्रकारना बन्धस्वामित्वनुं स्वरूप]	१-३
[illegible]	ध्रुवबन्धि-अध्रुवबन्धी प्रकृतिओ अने तेना सादि आदि भांगा	३-६
[illegible]	ध्रुवोदयि-अध्रुवोदयि प्रकृतिओ अने तेने लगता भांगा	६-७
८-१०	ध्रुवसत्ताक-अध्रुवसत्ताक प्रकृतिओ अने गुणस्थानो आश्री तेनुं वर्णन	७-११
[illegible]	[illegible] प्रकृतिओनुं स्वरूप	११-१४
[illegible]	पुण्य-पाप प्रकृतिओ	१४-१५
[illegible]	[illegible] प्रकृतिओ	१५-१७
[illegible]	[illegible] पुद्गलविपाकी प्रकृतिओ	१७-१९
[illegible]	[illegible] आश्री [illegible] अने [illegible] प्रकृतिओनुं स्वरूप	१९-२०
[illegible]	[illegible] आश्री [illegible] चार प्रकारना प्रकृति [illegible]	२०-२६
[illegible]	[illegible] स्थितिओनुं स्वरूप [illegible]	२६-२७
	[illegible]	२७
[illegible]	[illegible] आश्री [illegible] स्थितिओनुं स्वरूप	२८-३३
[illegible]	[illegible] स्थितिओनुं [illegible]	३३-३६
[illegible]	[illegible] आश्री [illegible]	३६-३७
[illegible]	[illegible]	३७
[illegible]	[illegible]	३८
[illegible]	[illegible]	३९-४२
[illegible]	[illegible]	४२-४३
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]

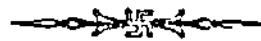
छट्ठा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम ।

॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्वरहस्यवेदिभ्यः ।

पूज्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितः स्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।



॥ ॐ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

यो विश्वविश्वभविनां भवबीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय जिगाद सुदर्शनादिरत्नत्रयं स जयतु प्रभुर्वर्धमानः ॥ १ ॥
अग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकं, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥
अनुयोगधरान् सर्वान्, धर्माचार्यान् गुरूंस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् ॥ ३ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—–

नमिय जिणं धुवबंधो १ दय २ सत्ता ३ घाइ ४ पुन्न ५ परियत्ता ६ ।
सेयर १२ चउहविवागा १६, वुच्छं बंधविह २० सामी २४ य ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्ध्यादि वक्ष्ये इति सम्बन्धः । तत्र 'नमिय' नमस्कृत्य, कम् ? इत्याह—– 'जिनं' रागद्वेषमोहादिदुर्वारवैरिवारनिवारं वीतरागम्, परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, अनेन च प्रारब्धस्य शास्त्रस्य समाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । कस्मात्तस्यैव स्तुतिरिति चेत् तत्परत्वात् शास्त्रस्येत्याह— ध्रुवबन्ध्यादि वक्ष्ये । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योन्यानुगमरूपः सम्बन्धो बन्धः १ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणकृतः स्वाभाविको वा स्थित्यपचयः उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ३ । बन्धश्च उदयश्च सत्ता च ते ध्रुवाः सन्ति, ततो ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् ध्रुवबन्धोदयसत्ताकाः ध्रुवबन्ध्यादयः । 'घाइ' त्ति 'घातिन्यः' देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्च ४ । 'पुन्न' त्ति पुण्यप्रकृतयः ५ ।

---

१ सं० २ नि सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः । टा० नि घातिन्यो देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्च देशघातिन्यश्चेत्यर्थः ॥

'परियत्त" त्ति 'परिवृत्ता' परावर्तमाना ६। "सेयर" त्ति 'सेतरा' सप्रतिपक्षा –विपक्षयुक्ता इत्य क्षरार्थः। भावार्थोऽयम्—ध्रुवबन्धिन्य १ अध्रुवबन्धिन्य २ ध्रुवोदया ३ अध्रुवोदया ४ ध्रुव सत्ताका ५ अध्रुवसत्ताका ६ सर्वदेशघातिन्य ७ अघातिन्य ८ पुण्यप्रकृतय ९ पापप्रकृतय १० परावर्तमाना ११ अपरावर्तमाना १२ चेति द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये।

तत्र निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुव –अवश्यम्भावी बन्धो भवति ता ध्रुवबन्धिन्य १। यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्य २। यदाह—

नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीण।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५३)

निजहेतवश्चेह मिथ्यात्वादयो मन्तव्या। यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्तत स्वोदयव्यवच्छेद-काल यावदुदयस्ता ध्रुवोदया ३। यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविध द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावस्वरूप पञ्चविध हेतुसमूहं प्राप्य ता अध्रुवोदया ४। यदभाणि—

अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाण पयडीण ता धुवोदइया।
वुच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदया ताओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५५)

या सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताका ५। यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताका ६। सर्वेतरघातित्वं च प्रकृतीनां स्वविषयघातन-भेदतो भवति। तत्र समस्तस्वविषयघातिन्य सर्वघातिन्य, स्वविषयदेशघातिन्यश्च देशघातिन्य। स्वविषयं चासामुत्तरत्र व्याख्यास्याम। ततः सर्व–समस्तं देशं च–कञ्चन स्वावार्यं गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला सर्वदेशघातिन्य ७। ज्ञान-दर्शनादिगुणानां मध्ये न कञ्चिद् गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला अघातिन्य। केवलं यथा स्वयमतस्कररस्वभावोऽपि तस्करै सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभि सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति। यदाहु श्रीशिवशर्मसूरिप्रवरा —

अवसेसा पयडीओ, अघाइया घाइयाहिं पडिभागो। (बृ० शत० गा० ८२)

"पडिभागु" त्ति सादृश्यम्। घातित्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् ८। पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनिका शुभा उच्यन्ते ९। पापप्रकृतय कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते १०। या प्रकृतयोऽन्यस्या प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा निवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ता परावर्तमाना ११। यास्त्वन्यस्या प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वाऽनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ता न परावर्तन्त इति कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते १२। यत् प्रत्यपादि—

विणिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं व अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारंती अपरियत्ता ॥ (पञ्चसं० गा० १६१)

"चउहविवाग" त्ति चतुर्धा–क्षेत्र-जीव-भव-पुद्गलाश्रितत्वेनचतुःप्रकारो विपाक –विपचन

१ निजहेतुसम्भवेऽपि हि भजनीयो यासां भवति प्रकृतीनाम्। बन्धस्ता अध्रुवा ध्रुवा अभजनीयबन्धा ॥
२ अव्युच्छिन्न उदयो यासां प्रकृतीनां ता ध्रुवोदया। व्युच्छिन्नोऽपि हि सम्भवति यासां अध्रुवोदयास्ता ॥

स्वशक्तिप्रदर्शनं यासां ताश्चतुर्धाविपाकाः–क्षेत्रविपाका १ जीवविपाका २ भवविपाका ३ पुद्गलविपाका ४ प्रकृतीर्वक्ष्ये । तथा "बंधविह" त्ति विधानानि विधा–भेदाः, बन्धस्य विधा बन्धविधा–प्रकृतिबन्ध १ स्थितिबन्ध २ रसबन्ध ३ प्रदेशबन्ध ४ लक्षणास्तान् वक्ष्ये । अत्र च मोदकदृष्टान्तं पूर्वसूरयो व्याचक्षते, यथा—वातापहारिद्रव्यनिचयनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमपहरति, पित्तापहद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम्, श्लेष्मापहद्रव्यसञ्जनितः श्लेष्माणम् १ इत्यादि, स्थित्या तु स एव कश्चिद् दिनमेकमवतिष्ठते, अपरस्तु दिनद्वयम्, अन्यस्तु दिवसत्रयम्, यावद् मासादिकमपि कालं कश्चिदवतिष्ठते, ततः परं विनश्यति २, स एवानुभावेन–रसपर्यायेण स्निग्ध-मधुरत्वादिलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः, अपरस्तु द्विगुणानुभावः, अन्यस्तु त्रिगुणानुभावः ३ इत्यादि, प्रदेशाः कणिक्कादिद्रव्यप्रमाणरूपास्तैः प्रदेशैः स एव कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः, अपरस्तु प्रसृतिद्वयमानः, अन्यः पुनः प्रसृतित्रयप्रमाणः ४ इत्यादि । एवं कर्मापि ज्ञानावरणादिपुद्गलैर्निर्वृत्तं प्रकृत्या किञ्चिद् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शनं किञ्चित्तु सुख-दुःखे जनयति १ इत्यादि, स्थित्या तु तदेव त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालावस्थायि भवति २, अनुभावतस्तु तदेव एकस्थानिक-द्विस्थानिक-तीव्र-मन्दादिकरसयुक्तम् ३, प्रदेशतस्तु तदेवाल्प-बहुप्रदेशनिष्पन्नं स्याद् ४ इति । एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोऽपि कर्मण उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विधः सिद्धो भवति । तथा डमरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते, ततो बन्धस्वामिनो वक्ष्ये, कः कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा कः कस्य रसस्य तीव्र-मन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धकः ? इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये । चशब्दाद् उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेण्यादिकं [च] वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह । सम्बन्ध-प्रयोजने तु सामर्थ्यगम्ये । तत्र सम्बन्धः साध्य-साधनलक्षण उपाय-उपेयलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा वेदितव्यः । प्रयोजनं तु प्रकरणकर्तृ-श्रोत्रोरनन्तर-परम्परभेदेन द्वेधा। तत्र प्रकरणकर्तुरनन्तरं सत्त्वानुग्रहः प्रयोजनम्, श्रोतुश्चानन्तरं प्रयोजनं प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परप्रयोजनं तु द्वयोरपि परमपदप्राप्तिरिति । तथा चोक्तम्—

सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः ।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥

तदेतेन मङ्गलाद्यभिधानेन सकलशास्त्रकृता प्रवृत्तिरनुसृता भवति। तथा च ते प्रणिजगदे—

प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमभिधेयप्रयोजने ।
मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ इति । ॥ १ ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह—

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाद् लिङ्ग-वचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः "सगचत्त" त्ति सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्या भवन्ति। तथाहि—वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कं–वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणम्, ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादिद्वन्द्वे वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु-निर्माण-उप

१ सं० २ °त्ता बं° ॥

घातं भयं कुत्सा । कुत्सा—जुगुप्सा । तथा मिथ्यात्वं च कषायाश्चावरणानि च मिथ्यात्व-कषाया ऽऽवरणानि । तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु निर्माण-उपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः, भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, आवरणानि—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश, विघ्नम्—अन्तरायं दान-लाभ-भोग-उपभोग वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमिति । एवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यः, निजहेतुसद्भावेऽवश्यं बन्धसद्भावादिति ॥ २ ॥

उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह—

तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघालमवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

तनवः—शरीराणि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणानि तिस्रः, तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात्, उपाङ्गानि—औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डाख्यानि षट्, संहननानि—अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा ऽर्धनाराच कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, जातयः - एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च, गतयः—देव-मनुष्य तिर्यङ्-नारकगतिलक्षणाश्चतस्रः, खगतिः—विहायोगतिः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदाद् द्विधा, "पुव्वि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आनुपूर्व्यः—देवानुपूर्वी-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-नरकानुपूर्वीरूपाश्चतस्रः, जिननाम—तीर्थकरनाम, श्वासनाम—उच्छ्वासनामेत्यर्थः, उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम "तसवीस" त्ति त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः, गोत्रम्—उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा, वेदनीयं—सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा, हास्यादियुगलद्विकं—हास्य रति अरति शोकाभिधम्, वेदाः—स्त्री पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः, आयूंषि—देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इति । एतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयः 'अध्रुवबन्धाः' अध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः । एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम् । तथाहि—पराघात उच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्ना अतोऽध्रुवत्वम् । आतपं पुनरेकेन्द्रिय प्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव नान्यदा । उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते । आहारकद्विकं जिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयम-सम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम् । शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां पट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वाद् निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुमतीनमेव । उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतं ध्रुवबन्ध्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् प्रसङ्गापवादार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदया-ऽध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान् बन्धमाश्रित्य उदयमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह—"भंगा अणाइसाई" इत्यादि । 'भङ्गाः' भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति । कथम्? इत्याह—अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः । इदमुक्तं भवति—अनादि-सादिशब्दौ आदौ

१ छा० 'बन्धियम् ॥

येषां ते अनादिसादय, प्रभूतत्वाद् [illegible] । अनन्त [illegible] ते अनन्त-सान्ता, 'ते दुगा' (सिद्ध० ३-२-१०८) इति सूत्रेण [illegible] । यदि वा भङ्गा अनादि-सादयोऽनन्त-सान्ता [illegible] । तद्यथा—[illegible] अनादिसान्त २ सादनन्त ३ सादिसान्त ४ इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

उक्ता भङ्गाः । अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गा घटन्ते तदाह—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ६ ॥

'प्रथमद्वितीयौ' अनाद्यनन्ता [illegible] ।
तथाहि—न विद्यत आदिर्यस्या [illegible]
सौ अनन्तश्च [illegible]
[illegible]
[illegible]
कदाचिद् भविष्यतीति १ । तथा [illegible]
[illegible]
क्षीणमोह [illegible]
[illegible]
[illegible]
भङ्गः २ इति । ध्रुवबन्धिनीषु [illegible]
१–२–४ भवति । तथाहि— [illegible]
[illegible]
मेव भवति १, [illegible]
[illegible]
भवति स [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

१ [illegible]

सान्तलक्षण [चतुर्थो भङ्गक]। चतुर्दशाना च प्रकृतीना तृतीयो भङ्गको न लभ्यते ३ इति। संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवानाद्यनादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतयाऽनिवृत्तिबादरादिर्बन्ध व्यवच्छेद विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयभङ्ग । यदा तु तत प्रतिपतित पुनर्बन्धेन सज्वलनबन्ध सादि कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभाव प्राप्त सन् तान् न भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूप संज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्रा प्रचला-तैजस-कार्मण वर्णचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात निर्माण भय-जुगुप्सास्वरूपाणा त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादना दिबन्ध विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धाया यथास्थान बन्धोपरम करोति तदा द्वितीयो भङ्गक । यदा तु तत प्रतिपतित पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणाना बन्धो देशविरतगुणस्थानक यावद् अनादि तत प्रमत्तादौ बन्धोपरमात् सान्त इति द्वितीयभङ्ग । तत प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुन प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गक । अप्रत्याख्यानाव रणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टि यावद् अनादिबन्ध कृत्वा यदा देशविरतादावबन्धको भवति तदा द्वितीय । तत प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बद्ध्वा पुनस्तेषा यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति। मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिना तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरम करोति तदा द्वितीय । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बद्ध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति बन्ध न विधत्ते तदा चतुर्थ इति । एव ध्रुवबन्धिनीना भङ्गकत्रय निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गा अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ सादिसान्त-३ लक्षणास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानाम्, यतस्तेषा न कदाचिद् मिथ्यात्वोदय विच्छेद सम्यक्त्व सम्पद्यते नेति १ । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टे, तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् २ । सादिसान्त पुन प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सत्यन्तर्मुहूर्तादिना पुनरपि सम्यक्त्वलाभाद् मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवति ३ इति । "दुहा वि अधुवा तुरियभङ्गा" इति 'द्विधापि' द्विप्रकारा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्य च 'अध्रुवा' अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्च तुरीय—चतुर्थो भङ्ग सादिसान्तलक्षणो यासां तास्तुरीयभङ्गा भवन्ति । तत्राध्रुवबन्धिनीना पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसङ्ख्यप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षण एक एव भङ्गको भवति । तथा अध्रुवोदयानामुदयस्य सह आदिना—उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयगम नलक्षणेन वर्तत इति सादि, स चासौ सान्तश्च—पुनरप्युदयव्यवच्छेदात् पर्यवसानश्च सादिसान्त । तस्मादध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गको भवति नान्य, अध्रुवत्वादेवेति भाव ॥ ५ ॥

उक्ता सप्रपञ्च ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतय । प्रसङ्गतो ध्रुवा ऽध्रुवोदयानां प्रकृ तीना भङ्गकाश्च । सम्प्रति ध्रुवा ध्रुवोदयप्रकृतिद्वारं विवरीषुराह—

निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

"निमिण" त्ति प्राकृतत्वाद् निर्माण स्थिर ऽस्थिरम् 'अगुरुय' त्ति अगुरुलघु शुभा ऽशुभं तैजस कार्मण चतुर्णां वर्णगन्धरसस्पर्शाना समाहारश्चतुर्वर्णं ज्ञानावरण नाम्ना पूर्वं पञ्चधा ज्ञानावरण

पञ्चकम् अन्तरायपञ्चकं [illegible] निर्दिष्टमिति [illegible]
सर्वासामपि [illegible] ॥ ६ ॥

अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः । [illegible]—

थिरसुभियर विणु अधुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी।

निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इत्यस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'स्थिरशुभ-प्रकृतिचतुष्कं [illegible]
अशुभ [illegible] अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । [illegible]
शरीरत्रिकम् [illegible]
कम् आनुपूर्वीचतुष्कं [illegible]
प्रत्येक-शुभग-सुस्वर [illegible]
[illegible]
[illegible] । यथा [illegible]
षोडश कषाया भय जुगुप्सा । [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] इति [illegible] ।

[illegible]

तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं।

आगिइतिग वेयणियं, दुजुयल सग उरल सासचउ ॥ ८ ॥

खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं।

विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

सम्भवत्यपि । यथा संयमे सत्यपि आहारकनामकर्म कस्यचिद् बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात् तदभावे कस्यचिद् नेति । तथोच्चैर्गोत्रमसम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहितैतदुद्वलनस्य स्थावरभावं गतस्य क्षितिपृथ्व्यादेर्वा सत्तायां न लभ्यते तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्य उद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते, इत्यस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता ॥ ८-९ ॥

उक्ता ध्रुवसत्ताका अध्रुवसत्ताकप्रकृतिसङ्ग्रहद्वयम् । सम्प्रति गुणस्थानकेषु कासाञ्चित् प्रकृतीनां ध्रुवा अध्रुवसत्ता नामाश्रयेण निरूपयन्नाह—

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, सत्तं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

प्रथमाः –आद्यास्त्रयः –त्रिसङ्ख्या गुणाः –गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणास्तेषु प्रथमत्रिगुणेषु–मिथ्यादृष्टि-सासादन-सम्यग्मिथ्यादृष्टिरूपेषु 'मिच्छं' मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिः 'नियमात्' निश्चयेन 'सद्' विद्यमानम्, सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः । 'अयताद्यष्टके' अविरतसम्यग्दृष्टि १ देशविरत-२ प्रमत्तसंयत ३ अप्रमत्तसंयत ४ अपूर्वकरण ५ अनिवृत्तिबादर ६ सूक्ष्मसम्पराय ७ उपशान्तमोह ८ लक्षणेष्वष्टसु गुणस्थानेषु 'भाज्यं' विकल्पनीयम्, कदाचिद् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचिन्नास्ति । तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति, उपशमिते त्वस्ति । सासादने 'खलु' निश्चयेन 'सम्मं' 'सम्यक्त्वं' सम्यग्दर्शनमोहनीयरूपा प्रकृतिः 'सद्' विद्यमानम्, सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः, यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धाया जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशिष्टायां सास्वादनो लभ्यते, तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भावः । 'मिथ्यात्वादिदशके' मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसङ्ख्येषु 'वा' विकल्पेन–भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याद् लभ्यते स्यान्नेति । तथाहि—मिथ्यादृष्टौ जीवेऽनादिषड्विंशतिसत्कर्मणि उद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा, मिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने, अविरतादौ चोपशान्तमोहान्ते क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीयं सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियया, भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥

सास्वादनं च मिश्रं च सास्वादनमिश्रे तयोः सास्वादन-मिश्रयोः, बहुत्वं च प्राकृतत्वात्, यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः —'द्विवचनस्य बहुवचनम्'' (सिद्ध०८-३-१३०) यथा—'हत्था पाया' इत्यादौ, सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः, 'ध्रुवम्' अवश्यम्भावेन 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीयं 'सद्' इति पूर्वोक्तगाथातो डमरुकमणिन्यायादिहापि सम्बध्यते । इदमत्र हृदयम्—सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, मिश्रश्चाष्टाविंशतिसत्कर्मा विसंयोजितसम्यक्त्वः सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा, तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रसत्ताऽवश्यं लभ्यते, षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न सम्भवत्येव, मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्यां व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति । 'मिथ्यात्वादिनवसु'

---

१ छा० 'त्ता ऽप्रमत्तसंयत' ॥

नैतत् तेषु सत्त्वं नावाप्यत इति । तथा 'बितिगुणे विणा तित्थं' ति कोऽभिसम्बन्धः 'बिगुणेषु वा' इत्यत्रापि सम्बध्यते । सर्वगुणस्थानेषु द्वितीय तृतीयगुणस्थानके विना, स्वादन-मिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशगुणस्थानेषु , 'वा' विकल्पेन-भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां स्यात् इति । इदमत्र तात्पर्यम् —यत कश्चिज्जन्तुरविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरपूर्वकरणभागषट्कं यावत् त्वम्यक्त्वात् तीर्थकरनामकर्म बद्ध्वा उपशान्तगुणस्थानादपि प्रतिपतति, कश्चित् पुनर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा अविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा सास्वादन-मिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते, तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्र-सास्वादनभावं न प्रतिपद्यते स्वभावात्' इति तत्त्वम् । यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

निच्छयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ ।
सासायणंमि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

य पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तद् न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानेषु तत्सत्ता न लभ्यते, नोऽन्ययो संयम-सम्यक्त्वलक्षणस्य प्रत्ययस्य सद्भावेऽपि बन्धाभावात् नावश्य सत्तासम्भव ।

यदुक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहण्याम्—

आहारग तित्थगरा भज्ज ति ।

आहारकसप्तक-तीर्थकरनाम्नी सत्तां प्रति भाज्ये इति भाव । एवमाहारकसप्तके तीर्थकर सति च प्रत्येक सत्तारूपेणावतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति निश्चितम् । उभय तायामपि भवति न वेति विनेयाऽऽशङ्कायामाह—'नोभयसंते मिच्छो' त्ति । 'न' नैव भयस्य-आहारकसप्तक-तीर्थकरलक्षणद्विकर्मणः सत्त्वे-सत्तासद्भावे सति मिथ्यादृष्टिर्भवेत् । ऽयं 'उभयसत्तायां मिथ्यात्वं न गच्छतीति भाव । तर्हि केवलतीर्थकरनामकर्मसत्ताया यन्त काल मिथ्यादृष्टिर्भवति ' इत्याह—"अंतमुहुत्त भवे तित्थे' त्ति 'अन्तर्मुहूर्तम्' अन्त हूर्तमात्र काल 'भवेत्' जायेत "मिच्छो ' त्ति इत्यस्यात्रापि सम्बन्धाद् मिथ्यादृष्टि । क सति ' त्याह—"तित्थे ' त्ति तीर्थकरनामकर्मणि सत्ताया वर्तमान इति गम्यते । इदमुक्त भवति— नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सन् तत्रोत्पित्सुरवश्य सम्यक्त्व रित्यज्य तत्रोत्पद्यते, उत्पत्तिसमनन्तरम् अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्य सम्यक्त्व प्रतिपद्यते, तस्यायमुक्त-मात्र कालो लभ्यत इति ॥ १२ ॥

उक्त सप्रतिपक्ष ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम् । अधुना सप्रतिपक्ष सर्व देशघातिप्रकृतिद्वारं तिपादयन्नाह—

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
संजलण नोकसाया, विग्ध इय देसघाईओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥

---

१ स० १-२ °वन्तस्या° ॥ २ तीर्थकरेण विहीनं द्विचत्वारिंशदधिकं शतं तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु ण सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥ ३ स० १-२ °रकतीर्थ ॥ ४ छा० °स्य सत्ता° ॥ ५ छा० म० °स्य ॥

केव[illegible]—केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपे तयोरावरणे—आच्छादके कर्मणी केवलयुगलावरणे, केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थः । 'पञ्च निद्राः' निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ रूपाः । द्वादशेति संख्या 'आदिमकषायाः' संज्वलनापेक्षया प्रथमकषायाः—क्रोध-मान-माया-लोभनामानः प्रत्येकमनन्तानुबन्धि १ अप्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरण ३ [illegible] द्वादशत्वम् । विघ्नत्वमिति । अनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्यं गुणं [illegible] सर्वघातिन्यो विंशतिप्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यः केवलज्ञानलक्षणो गुणः, स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते [illegible] केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते, तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात् । [illegible] श्रीनन्दिचूर्णिकारः—

[illegible] निच्च उग्घाडिओ चिट्ठइ । (नन्दीसू० १०५) इति ।

[illegible] इति चेद् अभिधीयते—यथाऽतिबहले जलदपटले समुन्नते [illegible] प्रभाऽस्तीति वचनरचना प्रवर्तते अर्थोऽप्यपि [illegible]—"सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पभा चंदसूराण ॥" (नन्दीसू० १०५) [illegible] केवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्या [illegible] । [illegible] तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् ।

[illegible]—

[illegible] जीवो अजीवत्तं पाविज्जा । (नन्दीसू० १०५)

[illegible] इव [illegible]

[illegible]

[illegible] केवलज्ञानावरणो

[illegible] केवलदर्शनावरणस्य [illegible]

[illegible] अभिधीयते, [illegible]

[illegible]

[illegible] न [illegible]

[illegible]

[illegible] न प्राप्नोति [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः, यत् पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविरमणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो वाच्यः । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति, यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्य-पश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति ।

भाविता सर्वघातिन्यः । सम्प्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते—"चउनाणतिदंसणावरण" त्ति आवरणशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ज्ञानावरणचतुष्कम्—मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यायज्ञानावरण ४ लक्षणम्, दर्शनावरणत्रिकं—चक्षुर्दर्शनावरण १-अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ रूपमिति । सञ्ज्वलनाश्चत्वारः—क्रोध-मान-माया-लोभाः । 'नोकषायाः' हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ स्त्रीवेद ७ पुंवेद ८ नपुंसकवेद ९ स्वरूपा नव । 'विघ्नम्' अन्तराय-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणम् । 'इति' अमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणानावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघाति तदुच्यते, मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यद् नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथाहि—चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शनविषयभूतानेवाऽर्थान् एतदुदयाद् न पश्यति, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा सञ्ज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनः, तेषां मूल-उत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः—

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति ।
मूलच्छिज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ (आव० नि० गा० ११२) इति ।

दानान्तरायादीनि पञ्च अन्तरायाण्यपि देशघातीन्येव । तथाहि—दान-लाभ-भोग-उपभोगानां तावद् ग्रहण-धारणायोग्यान्येव द्रव्याणि विषयः, तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते, अतो यदुदयात् तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दान-लाभ-भोग-उपभोगान्तरायाणि तावद् देशघातीनि । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते तत्र दानान्तरायाद्युदयात्, किन्तु तेषामेव ग्रहण-धारणाविषयत्वेनाभावमपि तुच्छशक्तित्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव, सर्ववीर्यं न घातयतीति कृत्वा । तथाहि—सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मोदयेऽप्यन्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमन-कर्मदलिकग्रहण-गत्यन्तरगमनादिविषयं स्वल्पं वीर्यं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते, क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवादारभ्य यावत् क्षीणमोहस्तावद् वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद् भवतीति वर्यान्तरायं सर्वमपि न हन्ति ।

१ सर्वेऽपि चातिचाराः संज्वलनानां तूदयतो भवन्ति । मूलच्छेद्यं पुनर्भवति द्वादशानां कषायाणाम् ॥

वीर्यं भवतीति देशघातीदम्। यदि पुनः सर्वघाति स्यात् तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादश कस्य च उदये तदावार्यं सम्यक्त्वगुणं देश-सर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभते, तथैव च तदुदयेऽपि तदावार्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत, न चैवमस्ति, तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमिति।

उक्ता सर्वदेशघातिन्यः। सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह—"अघाई" इत्यादि। अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते। तद्यथा—"पत्तेय" त्ति प्रत्येकप्रकृतयः—पराघात-उच्छ्वासा ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु-तीर्थकर निर्माण-उपघातरूपा अष्टौ। "तणुट्ठ" त्ति तन्वा(नु)शब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति लक्षणं तन्वष्टकम्, तत्र तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणाः पञ्च, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, गतयश्चतस्रः, खगती द्वे, पूर्व्यः—आनुपूर्व्यश्चतस्रः, एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत्। आयूंषि चत्वारि। त्रसविंशतिः—त्रसदशक-स्थावरदशकमीलनात्। "गोयदुग" त्ति गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकम्—"गोयवेयणिय" (गा० ३) इतिगाथांशेन प्रतिपादितम्, गोत्रम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति, साता ऽसातभेदाद् वेदनीयं द्विधा, तदेव गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते। "वन्न" त्ति वर्ण-गन्ध-रस स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इति। एताः प्रकृतयोऽघातिन्यः, न कञ्चन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा, केवलं सर्व-देशघातिनीभिः सह वेद्यमानास्तत्स्वदरयोऽनुभूयन्ते। अयमर्थः—सर्वघातिनीभिः सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति, देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसम्, यथा स्वयमचौरोऽपि चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवावभासते। यदभाणि—

जाण न विसओ घाइत्तणम्मि ताण पि सव्वघाइरसो।
जायइ घाइसगासेण चोरया वेहऽचोराण॥ (पञ्चसं० गा० १५०) ॥१४॥

उक्तः सप्रतिपक्षः सर्वदेशघातिद्वारम्। सम्प्रति पुण्य पापप्रकृतीर्विवरीषुराह—

सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पर्णिदि सुभखगई॥ १५॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकम्—देवगति देवानुपूर्वी-देवायुर्लक्षणम्, नरत्रिकम्—नरगति-नरानुपूर्वी-नरायुर्लक्षणम्, "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रं सातं 'त्रसदशकं' त्रस-बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यशः कीर्तिलक्षणम्, तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाः पञ्च, उपाङ्गानि—औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि, "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् 'चतुरस्रं' समचतुरस्रं "परघासग" त्ति पराघातसप्तकम्—पराघात-उच्छ्वासा ऽऽतप-उद्योता ऽगुरुलघु-तीर्थकरनाम निर्माणरूपम्,

१ येषां न विषयो घातित्वे तासामपि सर्वघातिरसः। जायते घातिसकाशेन चौरता इवाचौराणाम्॥
२ पञ्चसङ्ग्रहस्योपज्ञटीकागतगाथायां सु-°गमासेण। बृहट्टीकागतगाथायां पुन -°सगासेण॥

निर्वाणु [illegible] ॥ १५ ॥

पायाल [illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ १६ ॥
[illegible] ।
पायपयहि त्ति दोसु वि, [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मायपुत्तविनयस, [illegible] ।
[illegible] ॥ १८ ॥

नाम्नो ध्रुवबन्धिनवक नामध्रुवबन्धिनवक–वर्णचतुष्क–तैजस–कार्मण–अगुरुलघु–निर्माण–उपघातलक्षणम्, दर्शनचतुष्क–चक्षु–अचक्षु–अवधि–केवलदर्शनरूपम्, 'पञ्च ज्ञानानि मति–श्रुताऽवधि–मनःपर्याय–केवलज्ञानाभिधानि, काकाक्षिगोलकन्यायाद्वारि पञ्चशब्दस्य सम्बन्धात् पञ्च 'विघ्नानि' अन्तरायाणि–दान–लाभ–भोग–उपभोग–वीर्यान्तरायाख्यानि पञ्चधान भय 'कुत्सा' जुगुप्सा मिथ्यात्व "मासं" ति उच्चार्थं निवनाम इत्येता एकोनत्रिंशत्प्रकृतय 'अपरिवृत्ता' अपरावर्तमाना भवन्ति। अयमत्र भावः—या नामध्रुवबन्धिनवकप्रभृतय एकोनत्रिंशत्प्रकृतयस्ता सबोदयोमनकाकेषु नान्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा निरुध्य प्रवर्तन्तेऽतोऽपरावर्तमाना इति ॥ १८ ॥

उक्ता अपरावर्तमाना प्रकृतयः। साम्प्रतं परावर्तमानप्रकृतीराह—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥

तन्वष्टकमिति तन्वष्टकं 'तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि' (गा० ३) इति गाथा पूर्वार्द्धेन प्रदर्शितं तन्वष्टकम्। तत्र तनुशब्देन कार्मणयोग्यपरावर्तमानानां प्रतिपादितत्वात् [illegible], उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्, संहननानि षट्, [illegible] खगतिद्विकम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति तन्वष्टकशब्देन [illegible] 'द्विजुगल हास्य–रति अरति शोकरूपं, कषाया [illegible] सम्बन्धाद् उद्योतद्विकम्—"उज्जोयायव' (गा० ३) [illegible], गोत्रद्विकम्—"गोयवेयणिय (गा० ३) इति वचनात् [illegible] उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा, साता असातभेदाद् वेदनीय [illegible] निद्रापञ्चक [illegible] "परित्त" ति प्राकृतत्वात् [illegible] तत्र [illegible] कषाया निद्रापञ्चकं च [illegible] न कुर्वन्ति तथापि स्वोदये [illegible] [illegible] यथायुक्त [illegible] [illegible] इति। उक्ता [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

क्षेत्रविपाका, आनुपूर्व्यश्चतस्रः नरक-तिर्यग्-[illegible]ऽऽनुपूर्व्यः [illegible], [illegible] [illegible] विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

> निरयाउयस्स उदए नरए वक्केण [illegible]माणस्स ।
> निरयाणुपुव्विगाए, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
> एवं तिरियमणुदेवे, तेसु वि वक्केण [illegible]माणस्स ।
> तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा० १२२-१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीनामोदयः संक्रमणेन विद्यते, [illegible] [illegible] [illegible] न गतिवद् जीवविपाकित्वं [1] इति चेदुच्यते—विद्यमानेऽपि संक्रमे यथा [illegible] [illegible] स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यत्रात [illegible] क्षेत्रविपाकित्वं [illegible] ॥ १९ ॥

उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः । सम्प्रति जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतीः [illegible]—

घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आउ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

घनघातिन्यः प्रकृतयः [illegible], तद्यथा—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मोहनीयान्तरायविभेदाः, अन्तराय पञ्चधेति । "दुगोय [illegible] [illegible]" ([illegible] ३ । [illegible] वचनाद् 'गोत्रद्विकं गोत्र-वेदनायुष्कम् । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]भेदेन द्विभेदमपि दुगोयपदेन गृहीतद्वयं गृह्यते । [illegible] [illegible] [illegible] त्रिकं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तकरूपम् । "सुभगदुभगचउ" [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] चतुष्क-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-[illegible] [illegible], दुर्भगचतुष्क-दुर्भग-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]रूपम् । "सासं" [illegible] "जाइतिग" [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]० ३) इति [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]

[1] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति। एता सर्वा अपि जीवविपाकिन्य इति। या अपि क्षेत्रविपाका उक्ता, याश्च भवविपाका पुद्गलविपाकाश्च वक्ष्यन्ते, ता अपि परमार्थतो जीवविपाका एव, यतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति, केवलं मुख्यतया क्षेत्र-भव-पुद्गलेषु तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात् तद्विपाका उच्यन्त इति। 'आयूंषि चत्वारि' नारकायुष्कादीनि, पुंस्त्वं च प्राकृतवशात्, प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव, यदवादि प्रवादिमपर्वपर्वतपवीपर्वणैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्गमतन्त्रम्" (सिद्ध० ८-४-४४५) इति। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः—नारकादिपर्यायः, स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यः, यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम्—

"नेरईए नेरइएसु उववज्जइ" (शत० ४ उद्दे० ९) इति।

तस्मिन् भवे-नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः—उदयो नियतो येषां तानि भवविपाकीनि। तथाहि—यथासम्भवं पूर्वभवे बद्धानि आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः। ननु यथाऽऽयुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवति एवं गतीनामपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्रसजन्ति, अत्रोच्यते—आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकिता मवविपाकित्वम्, गतयस्तु निमित्तभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते। तथाहि—मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकित्वं, किन्तु जीवविपाकित्वमेवेति ॥ २० ॥

उक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः। इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रविकटयिषुराह—

नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥

नाम—नामकर्मणो ध्रुवोदया—नित्योदया नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः, तद्यथा—निर्माण स्थिरा ऽस्थिर अगुरुलघु शुभा ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कमिति। "चउतणु" त्ति तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं "तणुवंगागिइसंघयण" (गा० ३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कम्। तत्र तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः—औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कग्रहणेन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। उपघातं साधारणम् 'इतरच्च' तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं "जोयतिगं" ति "उज्जोयआयवपराघा" (गा० ३) इति वचनाद् उद्योता ऽऽतप पराघातलक्षणमिति। एताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः "पुग्गलविवागि" त्ति पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः—उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तथाहि—निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरादयः शरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादादीनामशुभत्वमित्यादि, तनुदयात् त्वाहारकाः पुद्गला एव परिणमन्ति अङ्गोपाङ्गोदयाच्च तेषां शिर-उरःप्रभृत्यवयवविभागो जायते, संहननोदयात् तेष्वेवास्थिरचनाविशेषः सम्पद्यते, संस्थानोदयात् तेषामेव समचतुरस्रतादि

---

१ नेरइओ नेरइएसु उववज्जइ ॥

शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात् शुभतीतरेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति ।

उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतयः । सम्प्रति यदुक्तम् "वुच्छं बंधविहं सामी य" (गा० १) इति तन्निर्वाहणार्थं बन्धविधां व्याचिख्यासुराह—"बंधो पयइठिइरसपएस" त्ति, बन्धशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः रसबन्धः प्रदेशबन्धः, 'इति' अमुना प्रकारेण बन्धश्चतुर्धा भवति । तत्र स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः । कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः । कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षं दलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः । उक्तं च—

ठिईबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चसं० गा० ४३२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥ ( ) इति ॥ २१ ॥

उक्ताः सामान्यतो बन्धभेदाः । अथ मूलप्रकृतिबन्धस्थानानि तेषु च भूयस्कारा ऽल्पतरा ऽवस्थिता ऽवक्तव्यलक्षणान् बन्धभेदविशेषान् निरूपयन्नाह—

मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥

'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया ऽऽयु-नाम-गोत्रा ऽन्तरायलक्षणानाम् अष्ट-सप्त-षड्-एकबन्धेषु त्रयो भूयस्काराः त्रयोऽल्पतराः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति, 'न हु' नैव 'अवक्तव्यः' अवक्तव्यबन्धो भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—अष्टविधबन्धः सप्तविधबन्धः षड्विधबन्धः एकविधबन्धश्च । सर्वप्रकृतिसमुदायबन्धोऽष्टविधबन्धः । आयुर्वर्जसप्तप्रकृतिबन्धः सप्तविधबन्धः । आयुर्मोहनीयवर्जषट्प्रकृतिबन्धः षड्विधबन्धः । एकस्याः सातवेदनीयलक्षणायाः प्रकृतेर्बन्ध एकविधबन्धः । तदेवमष्टविध-सप्तविध-षड्विध-एकविधबन्धेषु त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धाः, अवक्तव्यबन्धो नास्ति ।

तत्र भूयस्कारादीनां स्वरूपमिदम्—तत्रैकविधाद्यल्पतरबन्धको भूत्वा यत्र पुनरपि षड्विधादिबहुबन्धको भवति स प्रथमसमये भूयस्कारबन्धः १ । यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथमसमय एवाल्पतरबन्धः २ । यत्र तु प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः ३ । यत्र तु सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽ

१ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत् । तयो रसो नुभागः तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः ॥

यत्कस्यबन्ध, अय पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम, तासा सर्वथाऽबन्धकत्वा योगिकेवलिनि सिद्धस्य वा प्रतिपातागावेन पुनर्बन्धाभावात्।

अथ कथ त्रयो भूयस्कारबन्धा त्रयोऽल्पतरबन्धा चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति? इति चेत् उच्यते—इहैकविध बद्ध्वा उपशान्तमोहगुणस्थानात् प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायो पुन षड्विध बध्नन आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्ध १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध, ततोऽप्यधस्तात् प्रतिपत्य सप्तविध बध्नन आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्ध २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध, आयुर्बन्धकाले त्वष्टविधबन्ध गतस्य प्रथमसमय एव तृतीयो भूयस्कारबन्ध ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयो भूयस्कारा। तथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविध बद्ध्वा पुनरप्यायुर्बन्धोपरमे सप्तविध बध्नन आद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्ध १ द्वितीयादि समयेषु त्ववस्थितबन्ध, सप्तविधादपि सूक्ष्मसम्परायावस्थाया षड्विधबन्ध गतस्य प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्ध २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध, षड्विधबन्धादप्युपशान्तमोहादिक्षायामेकविधबन्ध गतस्याद्यसमये तृतीयोऽल्पतरबन्ध ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयोऽल्पतरबन्धा। तथा मूलप्रकृतिविषयाण्येकविधबन्धादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितबन्धोऽस्त्येवेति चत्वारोऽवस्थितबन्धा। अवक्तव्यबन्धस्तु मूलप्रकृतिषु न सम्भवतीत्युक्तमेवेति ॥ २२ ॥

अथैतदेव भूयस्कारादिस्वरूप व्याचिख्यासुराह—

एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥

एकादिभि—एकद्वित्र्यादिभि प्रकृतिभिरधिके बन्धे "भूय" त्ति भूयस्कारनाम बन्धो भवति। यथा—एका बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नातीति। तथा एकादिभि—एक द्वि त्र्यादिभि प्रकृतिभिरूने—हीने बन्धे 'अल्पतर' अल्पतरनाम बन्धो भवति। यथा—अष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् वा बद्ध्वा एका बध्नाति। तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु 'तन्मात्र' तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति। एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीना सम्भवन्ति। तथा य सर्वथाऽबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धक सञ्जायते तदा तस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्य सम्भवतीति। एतदेवाह—"पढमे समए अवत्तव्वो" इति स्पष्टम्। न चाय मूलप्रकृतिषु सम्भवति, न हि मूलप्रकृतीना सर्वासा बन्ध व्यवच्छेदे सति अयोगिकेवलिनि सिद्धस्य वा भूयोऽपि बन्ध सम्भवतीति एषोऽवक्तव्यबन्ध उत्तरप्रकृतिष्वेव भवति, त चोत्तरप्रकृतिषु यथास्थान दर्शयिष्याम ॥ २३ ॥

उक्ता मूलप्रकृतीरधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धा। अधुनोत्तरप्रकृती प्रतीत्य तान् प्रचिकटयिषुराह—

नव छ चउ दसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥

"दसि" त्ति भामा सत्यभामेति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचार इति दर्शनावरणे

शामप्रकृतीनां त्रीणि बन्धस्थानानि। कथम्? इत्याह—"नव छ चउ" त्ति नवविधं बन्धस्थानं षड्विधं बन्धस्थानं चतुर्विधं बन्धस्थानं चेति। तत्र निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणं निद्रापञ्चकम्, चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरणचतुष्टयं चेत्येतन्नवविधम्, एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादनगुणस्थानकं यावद् बध्यते। ततः परं स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं व्यवच्छिद्यते, अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादिषु षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः, एतच्च षड्विधमपूर्वकरणप्रथमसप्तभागं यावद् बध्नाति। ततः परं निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदे सति शेषं चतुर्विधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः, एतच्चतुर्विधं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् बध्यते। ततः कश्चित् पुनरपि प्रतिपत्य षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः। ततोऽपि प्रतिपत्य नवविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः। अत्र च नवविधादिषु त्रिष्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिषु समयेषु तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्धः इति त्रयोऽवस्थितबन्धाः। यदा तूपशान्तमोहावस्थायां दर्शनावरणप्रकृतीनां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनरद्धाक्षयेणैव प्रतिपत्य चतुर्विधं बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भूयस्काराद्यभिनवलक्षणायोगाद् भूयस्कारादिभिर्विकल्पैर्वक्तुं न शक्यत इत्यवक्तव्य, द्वितीयादिसमयेषु त्वत्राप्यवस्थितबन्धः। यदा पुनरुपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषूत्पद्यते तदा तत्र प्रथमसमय एव षड्विधं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः। तदेवमत्र द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ। अवस्थितबन्धास्तु गणनया षड् भवन्तोऽपि बन्धस्थानानि त्रीण्येवेति तद्भेदात्त्रय एव भवन्ति। अवक्तव्यबन्धौ द्वौ इति। एतदेवाह—"दु दु ति दु" त्ति द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ त्रयोऽवस्थितबन्धाः द्वाववक्तव्यबन्धाविति। भावार्थः पूर्वोक्त एवेति।

उक्ता दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धाः। इदानीमेतानेव मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु विचिन्तयन्नाह—'*मोहे दुइगवीस सत्तरस*' *इत्यादि*। '*मोहे*' मोहनीयकर्मणि दश बन्धस्थानानि भवन्ति। तद्यथा—"दुइगवीस" त्ति विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रो द्वे एका च। उक्तं च सप्ततिकायाम्—

> बावीस इक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच।
> चउ तिग दुग च एग, बंधट्ठाणाणि मोहस्स॥ (गा० ११)

तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, "नेव बंधे सम्मभीसाइं" (पंचसं० गा० १२८) इति वचनात्। न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव। हास्यरतियुगलाऽरति शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायात किन्त्वेकतरमेव युगलम्। ततो मोहनीयस्योत्कृष्टतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः—मिथ्यात्वं १ षोडश कषायाः १६ एको वेदः १ अन्यतरयुगलं २ भयं १ जुगुप्सा १ इति। सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते। ततः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वबन्धाभावादेकविंशतिः। यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि

१ द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च। चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं बन्धस्थानानि मोहस्य॥

१ न च बन्धे सम्यक्त्व-मिश्रे॥ २ पञ्चसंग्रहे तु— "बंधे नो सम्मभीसाइं" इति पाठः॥

कस्य समुदितमेवैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावद् भवति, एवमन्तरायबन्धक-स्यापि वाच्यम्। वेदनीयस्याप्येकमेव बन्धस्थानं सातमसातं वा। आयुषश्चतुर्णामायुषामन्यतरैका-युष्कलक्षणमेकमेव बन्धस्थानम्। गोत्रस्य तु नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रं वा एकं बन्धस्थानम्। अत्र च सूचकत्वात् सूत्रस्यैतत् स्वयमेव द्रष्टव्यम्, यथा—अत्र कर्मपञ्चकेऽपि भूयस्कार-ल्पतरबन्धौ न सम्भवतः, तल्लक्षणायोगात्। अवक्तव्यबन्धावस्थितबन्धौ तु वेदनीयवर्जकर्मचतुष्टये सम्भवतः। तथाहि—ज्ञानावरणा-ऽन्तराय-गोत्राणामुपशान्तमोहावस्थायां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तान्येव बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः। आयुषस्तु यदा त्रिभागादिसमयादौ बन्धकस्तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः। वेदनीयकर्मस्य त्ववस्थितबन्धोऽस्ति, प्रभूतकालमवस्थितत्वेन बध्यमानत्वात्, अवक्तव्यबन्धस्तु न सम्भवति, स हि सर्वथाऽबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनस्तदेव बध्नाति तदा सम्भवति, न चैतद् वेदनीयेऽस्ति, तस्य सर्वथाऽबन्धकत्वमयोगिकेवलिचरमसमय एव, न चायोगिकेवलिनो भगवतो भूयो बन्धोऽस्तीति। उक्तं च—

नाणावरणे तह आउयम्मि गोयम्मि अन्तराए य।
ठियअवत्तगबंधा, अवट्ठिया वेयणिज्जम्मि॥ (श० बृ० भा० गा० ३१७) इति ॥२५॥

तदेवं भूयस्कारादिप्रकारैश्चिन्तितः प्रकृतिबन्धः। साम्प्रतं स एव स्वामित्वद्वारेण चिन्तनीयः, स च गुणस्थानकान्याश्रित्य लघुकर्मस्तवटीकायां मार्गणास्थानकान्याश्रित्य पुनः स्वोपज्ञबन्धस्वामित्वटीकायां विस्तरेण निरूपितस्ततः एवावधारणीय इति [प्रकृति]बन्धः समाप्तः। इदानीं स्थितिबन्धं व्याचिख्यासुः प्रथमं मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरं तं तावदाह—

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा॥ २६॥

अतिमहत्त्वादुदधिवत् तरीतुम्—अचिरात् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराणि—सागरोपमाणि तेषां कोटिकोटयोऽतरकोटिकोटयः। 'विंशत्य' इत्याह—'विंशति' विंशतिसङ्ख्या भवन्ति। क? इत्याह—"नामे" ति नामकर्मणि गोत्रे चोत्कृष्टा स्थितिः, उत्तरगाथायां जघन्यस्थितेर्भणिष्यमाण-त्वादिहोत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते। ततोऽयमर्थः—नामकर्मणि गोत्रे च उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटिको-टयः सागरोपमाणाम्। सप्ततिकोटीकोटयः सागरोपमाणां 'मोहे' मोहनीये। 'इतरेषु' आयुषो भणि-ष्यमाणत्वेन भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणेषु चतुर्षु कर्मसु त्रिंश-त्कोटीकोटयः सागरोपमाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिर्भवति। आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'निरय' त्ति निरयायुषि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति॥२६॥

१ ज्ञानावरणे तथाऽऽयुष्के गोत्रेऽन्तराये च। स्थिता अवक्तव्यकबन्धौ अवस्थिता वेदनीये॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समस्तपुस्तकादर्शेषु °कर्मणि उत्कृष्टस्थितिर्विंशतिः कोटीकोटयः सागरोपमाणाम् तथा गोत्रेऽपि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिः कोटीकोटयः सागरोपमाणाम् इत्येवरूपः पाठः॥ ३ अस्मत्पार्श्ववर्तिनीषु सर्वास्वपि प्रतिषु °युषि उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् उदधयः सागरोपमाणि भवन्ति इत्येवरूपः पाठः॥

मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

इह वेदनीयकर्मणो द्विविधा स्थितिर्द्विधा सम्भवति—अकषायिणं प्रतीत्य सकषायिणश्च । तत्राकषायिणो वेदनीयस्य स्थितिर्द्विसमयस्थितिका, यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति सा चेह नाधिक्रियते, सकषायिस्थितिरेवास्यैवेहाधिकृतत्वात् । अत उक्तम्—'मुत्तुं' त्यक्त्वा अकषायिणाम् उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनां जघन्यां वेदनीयस्थितिम् । तर्हि सकषायिणां जघन्या किम्प्रमाणा ? इत्याह—'द्वादश मुहूर्ता' चतुर्विंशतिघटिका 'जघन्या' लघीयसी 'वेदनीये' तृतीये कर्मणि स्थितिर्भवतीति । "अट्ठऽट्ठ नामगोएसु" त्ति मुहूर्तशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् प्रत्येकमष्टावष्टौ मुहूर्ता नाम-गोत्रयोर्जघन्या स्थितिर्भवति । 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया ऽऽयु -अन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु "मुहुत्तंतो" त्ति मीयत इति मुहूर्तः, मुहुरियर्तीति वा मुहूर्तः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः, घटिकाद्वयप्रमाणः कालः, मुहूर्तस्यान्तर्—मध्यं मुहूर्तान्तः, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा जघन्या स्थितिर्भवति । इह च "सेसएसु" इत्यत्र ककारः स्वार्थिक इति । तथेहाबाधाकालः कर्मणोऽनुदयलक्षणो य उत्तरप्रकृतीरुद्दिश्य "एवइयाबाह वाससया" (गा० ३२) इति गाथावयवेन वक्ष्यते स एव तदनुसारतो मूलप्रकृतिष्वपि द्रष्टव्यः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया ऽन्तरायाणां त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा द्रष्टव्या, बद्धमपीत्यमेतत् कर्म वर्षसहस्रत्रयं यावद् विपाकोदयलक्षणां बाधां न करोतीत्यर्थः । तया च वर्षसहस्रत्रयलक्षणयाऽबाधया ऊना—हीना कर्मस्थितिः कर्मनिषेको द्रष्टव्यः । निषेको नाम—प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं रच्यते यत्र स एवम्भूतः कर्मदलिकरचनाविशेष उच्यते । अबाधां विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं कर्मनिषेको भवतीति भावना । एवमग्रेऽपि [1] । मोहनीयस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेको [2] निगदितलक्षणो द्रष्टव्यः । नाम-गोत्रयोर्द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः । आयुष्कस्य तु नरकायु-सुरायुर्लक्षणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः । अत्र च सूत्रेऽबाधा प्रपात्य 'निरयसुराउम्मि तित्तीसा' (गा० २६) इति निषेककाल एवोक्तः । अत एव श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके—

तित्तीसुदही आउम्मि केवला होइ एवमुक्कोसा । (गा० ५२)

इत्यत्र केवलाऽबाधारहितेत्युक्तम् । तथा मूलप्रकृतिस्थितिप्रस्तावेऽपि "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति यदुत्तरप्रकृतिस्थितिप्रतिपादनं तद् मन्दमतिबोधार्थमिति परिभावनीयम् । जघन्या त्वबाधा सर्वासामप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैवेति ॥ २७ ॥

प्रतिपादिता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरभेदा स्थितिः । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

---

१ स १-२ छा० त० म० °त्र एव° ॥ २ मयग्निदुत्माय आयुषि केवल भवदेवगुरुस्त्रा ॥

कर्मदलिकनिषेकः । कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननयोर्विंशतिवर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । षोडशसु कषायेषु चत्वारि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मृदु-लघु स्निग्ध उष्ण सुरभिगन्ध-श्वेतवर्ण-मधुररसलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनां वर्षसहस्रमेकमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हारिद्रवर्णा ऽम्लरसयोः सार्धद्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । लोहितवर्ण-कषायरसयोः पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । कृष्णवर्ण तिक्तरसयोर्वर्षसहस्रद्वयमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा प्रशस्तविहायोगति-उच्चैर्गोत्र-सुरगति-सुरानुपूर्वी स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यशःकीर्ति-पुरुषवेद-हास्य-रतिलक्षणानां त्रयोदशप्रकृतीनामेकं वर्षसहस्रमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मिथ्यात्वस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-स्त्रीवेद-सातवेदनीयलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा भय-जुगुप्सा ऽरति शोक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नीचैर्गोत्र तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाता ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग दुःस्वरा-ऽनादेया ऽयशःकीर्ति-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थावर-एकेन्द्रिय जाति-पञ्चेन्द्रिय जाति-नपुंसकवेदा ऽप्रशस्तविहायोगति-उच्छ्वास-उद्योता ऽऽतप पराघात-गुरु-कर्कश-रूक्ष शीत-दुरभिगन्धलक्षणानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ॥ ३२ ॥

गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥ ३३ ॥

स्थितिशब्दस्योत्तरपदस्थस्येहापि सम्बन्धाद् 'गुरु' गरीयसी—उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणां कोटीकोट्या अन्तर्-मध्ये "तित्थाहाराण" त्ति तीर्थकरनामा ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां भवतीति शेषः । किमुक्तं भवति ?—तीर्थकरनाम आहारकद्विकस्य च सागरोपमाणामन्तः कोटीकोटीप्रमाण एवोत्कृष्टः स्थितिबन्धकालो भवति नोपरिष्टादिति । "भिन्न मुहु बाह" त्ति प्राकृतत्वादकारलोपः भिन्नमुहूर्तम्—अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालम् 'अबाधा' अनुदया यस्या उत्कृष्टा, जघन्याऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैव, ततः परं दलिकरचनायाः सद्भावेनावश्य प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति । केचित् "तीर्थकरनामकर्म अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित् प्रदेशत उदेति, तदुदये चाश्चैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य सम्भवन्तीति सम्भावयामः" इति व्याचक्षते । उत्कृष्टा तीर्थकरा ऽऽहारकयोः स्थितिरुक्ता । अथैतयोरेव जघन्यां स्थितिमाह—"लहुठिइ संखगुणूण" त्ति लघुस्थितिर्स्तीर्थकरा ऽऽहारकयोः सङ्ख्येन—सङ्ख्यातकारलक्षणेन गुणेन—गुणकारेण ऊना—हीना सङ्ख्यगुणोना, उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एव सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपः सङ्ख्येयगुणहीनो जघन्यस्थितिबन्ध , सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाण इति तात्पर्यम् । तथेहाप्या

नारकस्य ये बध्यमानास्तेषामपि स्वगतिस्थितिप्रमाणेन स्थितिविशेषेति । ननु तीर्थकरनामकर्म तीर्थकरभवात्प्राक् तृतीयभव एव बध्यते । यदागमः—

बंधइ त तु भगवओ, तइयभवोसक्कइत्ताणं । (आव० नि० गा० १८३) ।

तत् कथं जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यते ? सत्युक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, "बज्झइ त तु" इत्यादिकं निकाचनापेक्षयोक्तम्, इतरथा तु तृतीयभवात् प्रागपि बध्यते । यदाहुः संशयजातपारिजातवनानिर्मिताकुण्ठकुठारकल्पाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादा विशेषणवत्याम्—

कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई ।
बज्झइ य त अणतर भवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठ ॥ (गा० ७८)

तत कथमेतत् परस्परं युज्यते ? अत्रोत्तरम्—

जं बज्झइ त्ति भणियं, निकाइय त तु तत्थ नियमोऽयं ।
तइयभवम्मि नियमा, भयणा अनिकाइयावत्थे ॥ (गा० ८०)

आह यदि तीर्थकरनाम्नो जघन्याऽपि स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तर्हि तावत्या स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तिर्यग्गतावपि तीर्थकरनामसत्कर्मा जन्तुः कियन्तं कालं यावद् भवेत् ? तथा च सति आगमविरोधः, आगमे तिर्यग्गतौ तीर्थकरनामसत्कर्मा सन् प्रतिषिध्यते । अत्रोच्यते—निकाचितस्यैव तीर्थकरनामकर्मणस्तिर्यग्गतौ सतः प्रतिषेधात् ।

उक्तं च—

जमिह निकाइयतित्थं, तिरियभवे त निसेहियं संतं ।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उव्वट्टणोवट्टणासज्झे ॥ (पञ्चसं० गा० २५१)

अस्या अक्षरगमनिका—'इह' अस्मिन् प्रवचने यत् तीर्थकरनामकर्म 'निकाचितम्' अवश्यवेद्यतया व्यवस्थापितं तदेव स्वरूपेण 'सत्' विद्यमानं तिर्यग्गतौ निषिद्धम् । 'इतरस्मिन् पुनः' अनिकाचिते उद्वर्तनाऽपवर्तनासाध्ये तिर्यग्गतावपि विद्यमाने न कश्चिद्दोषः, यतस्तत् प्रभूतस्थितिकमप्यपवर्तनाकरणेन लघुस्थितिकं क्रियते, उद्वर्तनया वा तद् अन्यप्रकृतिस्वरूपं संप्राप्यत इति ॥

'नरतिरियाणाउ पल्लतिगं' ति नरतिरश्चामायुषी 'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रिकमुत्कृष्टा स्थितिरिति । यद्यपि मूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिनिरूपणप्रस्तावे देवनारकायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणैव स्थितिरुक्ता, नरतिर्यगायुषोस्तु पल्योपमत्रयप्रमाणैव तथापि पूर्वकोटित्रिभागाधिकैवासौ सदा बध्यते इत्यवसेयम् । नन्वेवं तर्हि सूत्रे पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्वं कस्मान्नोक्तम् ? सत्यम्, असौ पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधारूपत्वेनैवापयाति न पुनरुदयमायाति अतो यावती स्थितिरायुषो वेद्यते तावत्प्रमाणैवाबाधारहिता सूत्रे उपात्तेत्यदोष इति ॥ ३३ ॥

१ बध्यते ननु भगवान् [illegible] ॥ [illegible] ।
[illegible] ॥ २ [illegible] ।
[illegible] ॥ ४ ह० १-२ छा० [illegible] ॥

इगविगल पुव्वकोडि, पलियासंखस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा, अवाह सेसाण भवतंसो ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च पूर्वाणि—आगमप्रतीतानि, तद्यथा—

पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाओ ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०२)

तेषां पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी तां पूर्वकोटीं यावदायुष उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पूर्वकोट्यभ्यधिकामपीति । आयुःशब्दश्च "आउचउ अमणा" इति पदाद् योजनीयः । इदमत्र हृदयम्—एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्चोत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव नरतिर्यक्षु समुत्पद्यन्ते न, नारकदेवाऽसङ्ख्येयवर्षायुष्कतिर्यङ्मनुष्येषु, अत एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टायुर्बन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या । एषा स्वस्वभवत्रिभागोऽबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । यदुक्तं कर्मप्रकृतौ—

सेसाण पुव्वकोडी, साउतिभागो अबाहा सिं ॥ (गा ७४)

अत्र टीका—'शेषाणां च' एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तानाम् असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चापर्याप्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां परभवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या । आयुषं उत्कृष्टस्वभवत्रिभागोऽबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ।

"परियासंखस आउचउ अमण" त्ति 'अमनस' मनोयोगरहिता, असंज्ञिनः पर्याप्ता इत्यर्थः, 'पल्योपमासङ्ख्यांश' पल्योपमासङ्ख्येयभागं आयुषां चतुष्कं बध्नन्ति, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् । किमुक्तं भवति ?—असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु चतुर्णामप्यायुषां परभवसम्बन्धिनामुत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा पूर्वकोटित्रिभागाधिका भवति, पूर्वकोटित्रिभागश्चाबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ।

यदवादि कर्मप्रकृतौ श्रीमदाराध्यपादैः—

आउचउक्कुक्कोसं, पल्लासंखिज्जभाग अमणेसु । (गा० ७४) इति ।

आयुषामुत्कृष्टां स्थितिमभिधाय तेषामेवोत्कृष्टामबाधामाह—"निरुवकमाण छमासा अवाह" त्ति 'निरुपक्रमाणां' "सत्यभामा" इति न्यायात् निरुपक्रमायुषां देवनारकाणामसङ्ख्येयवर्षायुषां नरतिरश्चां च भवान्तरप्रायोग्यायुर्बन्धकारिणां 'षण्मासाः' षण्मासप्रमाणा 'अबाधा' उत्कर्षेणेति गम्यते भवन्तीति शेषः, यतस्ते षण्मासावशेषायुषः एवोत्तरभवप्रायोग्यमायुर्बध्नन्ति ।

यदाह भाष्यपीयूषपयोधिः—

देवा नेरइया वा, असंखवासाउया य तिरिमणुया ।
छम्मासऽवसेसाऊ, परभवियाउं बंधंति ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०७)

---

१ पुव्वस्स उ [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] कोट्यायुष्काणि [illegible] ॥ २ [illegible] ॥ ३ [illegible] ॥ ४ आयुरुत्कृष्टस्थिति[illegible] ॥ ५ देवा नैरयिका वा असंख्यवर्षायुष्काः [illegible] । [illegible] पारभविकं आयुर्बध्नन्ति ॥

इति यथोक्त एवाबाधाकालः । केचित्तु मन्यन्ते— युगलधार्मिकाः पल्योपमासंख्येयभागे निजा-युषोऽवशिष्यमाणे परभवायुष्कं बध्नन्ति, तन्मतेनाबाधाऽपि युगलधार्मिकान् उद्दिश्य पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणैवेति मन्तव्यम् । तदुक्तम्—

पलियासंखिज्जंसे, जुगधम्मीण वयन्ने । (पञ्चसं० गा० २४८) इति ।

"सेसाण भवतंसो" त्ति 'शेषाणां' संख्येयवर्षायुषां सोपक्रम-निरुपक्रमायुषां नर-तिरश्चां भवस्य-स्वकीयजन्मनस्त्र्यंशः-त्रिभागो भवत्यबाधेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, यन्मते निज जन्मनः त्रिभाग एवावशिष्टे "सेसा पुणो तिभाए" (जिनभ० संग्र० गा० ३०९) इति वचनाद् उत्कृष्टतः परभवप्रायोग्यमायुर्बन्धं विदधतीति ॥ ३४ ॥

प्रतिपादिता सर्वोत्तरप्रकृतीनामबाधान्विता उत्कृष्टा स्थितिः । इदानीं तासामेव जघन्यां स्थितिं निरूपयितुकाम आह—

लहुठिइबंधो संजलणलोहपणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥

'लघुस्थितिबन्धः' जघन्यस्थितिबन्धो भिन्नमुहूर्तं भवति, क्व ? इत्याह— [illegible] पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विघ्नपञ्चके—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायरूपे [illegible] पञ्चके—मति-श्रुता ऽवधि-मनःपर्याय केवलज्ञानावरणलक्षणे, "दंसेसु" त्ति दर्शनचतुष्क-चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शनावरणस्वभावे । कोऽर्थः ? ज्ञानावरणपञ्चका [illegible] क-संज्वलनलोभलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव [illegible] एतल्लोभस्याऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके शेषचतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक [illegible] स्वबन्धव्यवच्छेदकालेऽन्तर्मुहूर्तमात्रैव स्थितिर्बध्यते । 'ते अट्ठ' त्ति "व्याख्यानतो [illegible] पत्ति" इति न्यायात् 'ते' मुहूर्ता परिकाल्यमाना 'अष्टौ' अष्टमुहूर्ता [illegible] गोत्रयोर्जघन्यस्थितिर्भवति । "बारस य" त्ति द्वादश मुहूर्ता, च पुनरर्थे [illegible] तत्र 'साते' सातवेदनीये कर्मणीति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

भिन्नमुहुत्तं आवरणविग्घदंसणचउक्कलोहन्ते ।
बारस सायमुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥ (गा० ७९) इति । ३५ ।

दो इग मासो पक्खो, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥ ३६ ॥

द्वौ मासौ एको मासः पक्षश्च जघन्या स्थितिः क्व ? इत्याह— [illegible] मायारूपे । एतदुक्तं भवति संज्वलनक्रोधे द्वौ मासौ जघन्या स्थितिः [illegible] मासो जघन्या स्थितिः संज्वलनमायायां पञ्च [illegible] जघन्या स्थितिः । [illegible] वरिसाणि त्ति पुंवेदेऽष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः । [illegible]

[illegible]

[illegible]स्थाने निजनिजबन्धव्यवच्छेदसमये प्रतिपादितप्रमाणैव स्थितिर्बध्यत इति । [illegible] [illegible]तिसंज्ञिते प्रकृतीनां स्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तादिका सम्भवति [illegible] [illegible] सा प्रतिपादिता । आहारकद्विक-तीर्थकरलक्षणप्रकृतित्रयस्य तदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादन[illegible] [illegible] एव जघन्याऽप्यभिहिता । आयुश्चतुष्टयस्य स्वामित्वप्रस्तावे वैक्रियषट्कस्य च जघन्य- [illegible] । शेषपञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेष्वेव प्राप्यमाणजघन्यस्थिति[illegible] जघन्यस्थितिनिरूपणार्थं करणमाह—"सेसाणुक्कोसाओ" इत्यादि गाथार्थम् । 'शेषाणां' [illegible] [illegible] निद्रापञ्चकादीनां पञ्चाशीतिप्रकृतीनाम् 'उत्कृष्टात्' [illegible] निजनिजोत्कृष्टस्थितिर्यथाद् 'मिथ्यात्वस्थित्या' सप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते [illegible] सा जघन्यस्थितिः । एवं च सति निद्रापञ्चकेऽसाते च [सागरोपमस्य] [illegible] । मिथ्यात्वस्य सागरोपमम् । [illegible] चत्वारः सप्तभागाः [illegible] । [illegible] चतुर्दशभागा [illegible], यत पञ्चदशानां पञ्चमे भागे गते, सप्तभ[illegible] [illegible] लभ्यन्ते । सूक्ष्मत्रिके विकलेन्द्रियजातित्रिके च [illegible] पञ्चत्रिंशद्भागा [illegible], [illegible] उत्कृष्टा स्थितिस्तस्याः सप्तत्या भागे हृते [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]योरुभयोरप्यपवर्तने सम्पन्ना [illegible] । [illegible] [illegible] मिथ्यात्वस्थितिस्य भागहारस्य [illegible] [illegible] । [illegible] शुभ सुभग सुस्वर [illegible] शुभविहायोगति [illegible] [illegible] सुरभिगन्ध [illegible] मधुररस मृदु लघु स्निग्ध उष्णस्पर्श[illegible] [illegible] । [illegible] शुभवर्णादि[illegible] द्वौ सप्तभागौ [illegible] [illegible] । भागे [illegible], तत्र सप्तभागद्वयमेव [illegible] [illegible] पञ्चत्रिंशद्भागा [illegible] । तृतीयो [illegible] [illegible] । [illegible] अष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागा [illegible] । [illegible] [illegible] बादर पर्याप्त प्रत्येक [illegible] [illegible]

[illegible]

"-कोऽ- ति 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्' इति न्यायाद् 'उत्कृष्टाद्' इति सामान्योक्तावपि वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धादिति द्रष्टव्यम्। अथ कोऽयं वर्गोत्कृष्ट स्थितिबन्ध ? उच्यते—समानजातीयप्रकृतीनां समुदायो वर्ग । यथा—ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणवर्ग, चक्षुर्दर्शनावरणादिप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणवर्ग, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयप्रकृतिसमुदाय कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्ग, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्ग, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्ग अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्ग इति। एवंविधस्य वर्गस्य सम्बन्धी उत्कृष्टो वर्गोत्कृष्ट स्थितिबन्धोऽभिधीयते, तस्माद् वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिरूपया भागे हृते 'यद् लब्ध यद् अवाप्त तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोन सद् जघन्यस्थितितया भवति' इति गम्यते। अत्र च वर्गोत्कृष्टादिति व्याख्यानेनैतदवसीयते—वर्गान्तर्गतानामन्यस्थितिकानामपि सातवेदनीयादीना प्रकृतीनां जघन्यस्थित्यानयनाय निजनिजवर्गस्थित्योत्कृष्टा त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोट्यादिस्थितिर्विभजनीया, न तु स्वकीया पञ्चदशकोटीकोट्यादिकेति। तथा यद्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोनामिति नोक्त तथापि "पलियासंखसहीण लहुबधो" (गा०३७) इति अनन्तरगाथावचनेनैकेन्द्रियाणां लब्धसप्तभागा पल्योपमासङ्ख्येयभागोना एव जघन्यस्थितितयाऽभिधास्यन्ते, अतोऽत्रापि जघन्यस्थितिप्रस्तावात् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनत्वमवसीयते।

यदवादि दुष्पदिवृध्धिदुष्प्रध्वलदनल्पनैपुण्यवैरिवृन्दै शिवशर्मसूरिपादै कर्मप्रकृतौ—

वग्गुक्कोसठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध ।
सेसाण तु जहन्ना, पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ (गा० ७९)

अस्या अक्षरगमनिका—इह ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्ग, एव दर्शनावरणवर्ग, वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयवर्ग, नामवर्ग, गोत्रवर्ग, अन्तरायवर्ग । एतेषा वर्गाणा या आत्मीया आत्मीया स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सागरोपमसप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते सति यद् लभ्यते तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोन सद् उक्तशेषाणा [पञ्चाशीते] प्रकृतीनां जघन्यस्थिते परिमाणमवसेयम् । तथाहि—ज्ञानावरण-वेदनीयवर्गयोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति 'शून्य शून्येन पातयेद्' इति वचनाद् लब्धास्त्रय सागरोपमसप्तभागा ३/७, ते पल्योपमासङ्ख्येयभागोना निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीययोर्जघन्यस्थितितया मन्तव्या । दर्शनमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थिति सागरोपमकोटाकोटीसप्ततिरूपा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या तावत्यैव भागे हृते लब्धा सप्त सागरोपमसप्तभागा ७/७, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना मिथ्यात्वस्य जघन्यस्थितितयाऽवसेया । कषायमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाश्चत्वार सागरोपमसप्तभागा ४/७, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना सज्वलनरहितकषायद्वादशकस्य जघन्यस्थितितया बोद्धव्या । नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गो

१ सं० २ छा० वर्ग दर्शनमोहनीयसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्ग कषा ॥

त्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ३/७, तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टाना नोकषायाणा जघन्यस्थितितयाऽवसेयौ। नाम-गोत्रयोश्च प्रत्येक विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो वर्गोत्कृष्टा स्थिति, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ३/७ तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग तीर्थकर-यश कीर्तिवर्जानां नाम्न शेषसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यस्थितितया बोद्धव्याविति ॥ ॥ ३६ ॥

उक्ता सर्वप्रकृतीना जघन्या स्थिति। इदानीमेकेन्द्रियाणा सर्वस्वप्रायोग्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्योत्कृष्टा जघन्या च स्थितिमाह—

अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय सहससगुणिओ ॥ ३७ ॥

'अयम्' इत्यनन्तरोद्दिष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धसप्तभागरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियेषु ज्ञातव्य। तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीना त्रय सागरोपमसप्तभागा ३/७, यत एतद्वर्गाणा त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थिति, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते त्रय एव सागरोपमसप्तभागा लभ्यन्ते इति। एवमन्यत्रापि भागभावना कार्या। ततश्च मिथ्यात्वस्य सप्त सागरोपमसप्तभागा ७/७, कषायषोडशकस्य चत्वार सागरोपमसप्तभागा ४/७, नोकषायनवकस्य द्वौ सागरोपमसप्तभागौ २/७, एकेन्द्रियबन्धयोग्यदेवगति देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरवर्जाना शेषाणा नाम्नोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीना गोत्रद्वयस्य च प्रत्येक द्वौ द्वौ सागरोपमसप्तभागाविति। उक्त एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्ध। इदानीं तेषामेव जघन्यस्थितिबन्धमाह—

"पलियासंखंस" इत्यादि। पल्यस्य-पल्योपमस्यासङ्ख्यांशेन-असङ्ख्येयभागेन हीन-न्यून पल्यासङ्ख्यांशहीनोऽयमेवोत्कृष्टस्थितिबन्ध सप्तभागत्रयादिक, किम्' इत्याह—'लघुबन्ध' जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति। अयमभिप्राय—यासा प्रकृतीना यावत्प्रमाण सप्तभागरूप एकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध उक्तस्तासा तावत्प्रमाण सप्तभागरूप एव पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनस्तेषा जघन्यस्थितितया मन्तव्य इति। निरूपित एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टो जघन्यश्च स्थितिबन्धो गाथापूर्वार्धेन। सम्प्रत्ययमेव एकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धो यैर्गुणकारैः 'सङ्गुणित' ताडितो द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्ताना प्रायोग्यस्थितितया भवति तान् गुणकारानुत्तरार्धेनाह—"कमसो पणवीसाए' इत्यादि। 'क्रमश' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थ पञ्चविंशत्या सङ्गुणित, प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोप पञ्चाशता सङ्गुणित, शतेन सङ्गुणित, सहस्रेण सङ्गुणित ॥ ३७ ॥

तत किम्' इत्याह—

विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं॥ ३८ ॥

'विकलेषु' विकलेन्द्रियेषु–द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियेषु 'असंज्ञिषु' सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय
तिर्यङ्-मनुष्येषु 'ज्येष्ठ' उत्कृष्ट स्थितिबन्धो भवति। इयमत्र भावना—एकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट
स्थितिबन्ध सागरोपमसप्तभागत्रयादिक पञ्चविंशत्या संगुणितो द्वीन्द्रियाणां ज्येष्ठ संभवत्सर्व
प्रकृतीनामिह स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध पञ्चाशता सङ्गुणित
त्रीन्द्रियाणां ज्येष्ठ स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध शतेन सङ्गुणित
चतुरिन्द्रियाणां ज्येष्ठ स्थितिबन्ध, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृतीर
...प्रकृत्य ज्येष्ठ स्थितिबन्धो भवतीति। द्वीन्द्रियादीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमाह—"कणि
...भो पल्लासंखभागूणु" त्ति पल्यस्य–पल्योपमस्य संख्येयभागेन–संख्यातततमभागेन ऊन –न्यून
उत्कृष्ट एव स्थितिबन्ध 'कनिष्ठ' जघन्यस्थितिबन्धो भवति। एतदुक्त भवति—द्वीन्द्रिय
त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिया ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामात्मीय आत्मीय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पल्योपम
संख्येयभागहीन कनिष्ठबन्धो भवति। आयुश्चतुष्टयस्य जघन्यस्थितिमाह—'सुरनारकाउसमा'
सुर-नारकायुष्कयो समा –वर्षाणि तासा दश सहस्राणि समादशसहस्राणि दशवर्षसहस्राणीत्यर्थ
जघन्या स्थितिर्भवतीति गम्यम । 'सेसाउ खुड्डभव" ति 'शेषायुषो' तिर्यङ्-मनुष्यायुष्कयो
'खुड्डभव' ति क्षुल्लक –सर्वभवापेक्षया स्तोकीयान्, लिङ्गव्यत्ययात् भव –जन्म क्षुल्लकभव स
जघन्या स्थितिर्भवतीति ॥ १८ ॥

प्ररूपिता जघन्यस्थिति । इदानीं सर्वोत्तरप्रकृती प्रतीत्य जघन्याबाधामाह—

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ १९ ॥

'सर्वासामपि सर्वप्रकृतीनां–विशेषतोत्तरप्रकृतीनामपि 'लघुबन्धे' जघन्यस्थितिबन्धे 'भिन्न
मुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तम् 'अबाधा' अनुदयकाल । किं सर्वप्रकृतीनां जघन्यबन्ध एवैव जघन्याऽ-
बाधा ? आहोस्विदन्ति कासाञ्चिदिमुत्कृष्टेऽपि ? इत्याह—"आउजिट्ठे वि" आयुषां–ज्येष्ठेऽपि
ज्येष्ठबन्धेऽपि, न केवल जघन्य एवेत्यपिशब्दार्थ, जघन्याऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीति
योग । एतेनायुष्कचतुर्भङ्गकरवापेति सूचितम्, तद्यथा—ज्येष्ठे आयु स्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा
१ ज्येष्ठे आयु स्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा २ जघन्ये आयु स्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा ३ जघन्ये
स्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा ४ इति। अधुना तीर्थकराऽऽहारकद्विकयो प्राङ्निरूपितामपि
जघन्या स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह—'केइ सुराउसम" इत्यादि। केचिदाचार्या सुरायुषा–देवा
युष्केण दशवर्षसहस्रमाणेन सम–तुल्य सुरायु सम–देवायुस्तुल्यस्थितिक जघन्यतो बध्यते।
किं तद् ? इत्याह—"जिण' ति तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते। तथा च तैरभ्यधायि—

सुरनारयाउयाणं, दसवाससहस्स लहु सतित्थाणं। (पञ्चसं० गा० २५३)

'लहु' ति जघन्या स्थिति सतीर्थयो' तीर्थकरनामसुरनारयोरित्यर्थ ।

तथा आहारं ति आहारकद्विकम्–आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्त
जघन्यतो बध्यते, भिन्नमुहूर्तस्थितिक जघन्येन बध्यत इति ब्रुवते। तथा च तैरुक्तम्—

आहारकभिन्नावरणाण किंचूण (पञ्चसं० गा० २५४)

"किंचूण' त्ति किञ्चिदून मुहूर्तं जघन्या स्थितिरिति ॥ ३९ ॥

तिर्यङ्-मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थिति क्षुल्लकभवप्रमाणा भवतीति प्रागुक्तम्, तनस्त क्षुल्लकभव सप्रपञ्च निरूपयितुकामो गाथायुगलमाह—

सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुति खुड्डभवा ।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्स पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाण दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

सप्तभिरधिका दश सप्तदश 'समधिका' किंचिदधिकाः 'किल' इत्याप्तोक्तानिवेदने । 'एकाऽऽनप्राणे' हृष्टानवकल्यादिगुणोपेतस्य जन्तोरेकस्मिन्नुच्छ्वासनिःश्वासरूपे भवन्ति क्षुल्लका । सूत्रे च "आणुपाणुम्मि" त्ति उकार "स्वराणां स्वरा" (सिद्ध० ८-४-२३७) इति प्राकृतसूत्रेण । अयमर्थ —एकस्मिन् प्राणापाने क्षुल्लकभवा समधिका सप्तदश भवन्तीति किलामा ब्रुवते । एते च साधिकसप्तदश क्षुल्लकभवा मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्वक्ष्यमाणगाथोक्तस्यैकस्य मुहूर्तान्तर्गतप्राणापानराशिनैव भागे हृते लभ्यन्ते, अत प्रथम मुहूर्तान्तर्गत [illegible] प्रमाणनिरूपणार्थमाह—"सगतीससयतिहुत्तर" इत्यादि । सप्त [illegible] त्रिसप्ततिशतानि, अङ्कतोऽपि ३७७३, "पाणु" त्ति प्राकृतत्वात् 'प्राणापाना' [illegible] पुन 'एकमुहूर्ते' घटिकाद्वयरूपे भवन्ति ॥ ४० ॥

[illegible] । अथ [illegible] मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशे प्रमाणमाह—

"[illegible]' इत्यादि । विभक्तिलोपात् पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि 'षट्त्रिंशानि' षट्त्रिं[illegible], अङ्कतो[illegible] ६५५३६, एकमुहूर्ते क्षुल्लकभवा , एकमुहूर्तक्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्ती[illegible] । [illegible] मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्भाज्यस्य मुहूर्त [illegible] त्रिसप्तत्यधिकसप्तत्रिंश[illegible]प्रमाणेन भागे हृते सति यद् लभ्यते तद् एक [illegible] क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणं भवतीति । तानि तु सप्तदश १७ । तथा [illegible] [illegible] भवन्ति ते सर्वेऽत्र प्राणापानेऽष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्यांश [illegible] [illegible] अष्टपञ्चाशदधिकत्रयोविंशतिशतानि चांशानां [illegible] [illegible] । [illegible] — १७ अं ११ ५ [illegible] ३७७३ अतो यदुक्तम्—"सत्तरस सम[illegible] [illegible] खुड्डभवा ' इति तद् युक्तमिति । क्षुल्लकभवग्रहण च [illegible] [illegible] भवन्तीति [illegible], भगवत्याम [illegible], धर्मसंग्रहण्यादिषु [illegible] [illegible] क्षुल्लकभवग्रहणस्वरूपाया प्रतिपादनात् । यद् पुनः [illegible] [illegible] इति । [illegible] [illegible] निरूपयितुकामो यावन्त [illegible] [illegible] इत्यादि । 'आवलिकानां' [illegible] [illegible] । (अनुयो० [illegible]

१ [illegible]

१७८-२) इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणा द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवन्ति एकक्षुल्लकभवे एकक्षुल्लकभवग्रहण इति ॥ ४१ ॥

प्रतिपादित स्थितिबन्धप्रसङ्गागत क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणम् । उक्त उत्कृष्टस्थितिबन्धो वैक्रियषट्कवर्जो जघन्यस्थितिबन्धश्च सर्वासु प्रकृतीराश्रित्य । साम्प्रतमेता एव प्रकृती प्रती त्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—

अविरयसम्मो तित्थ, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइ सेसपयडीण ॥ ४२ ॥

'अविरतसम्यक्त्व' अविरतसम्यग्दृष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् मनुष्य पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरक [illegible] मिथ्यात्व यत्र समये प्रतिपद्यते तस्मादनन्तरेऽर्वाक्स्थितिबन्धे "तित्थ" ति तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति, 'तित्थयरं पि मणुस्से, अविरयसम्मे समज्जेइ॥" (शत० गा० ६०) इति वचनात् । इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्तगाना बन्धका भवन्ति [illegible] स्थितिस्तु [illegible] बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति [illegible] [illegible]िनाम्स्यैवोपादानमिति भाव । तत्र नियमतो तीर्थकरनाम पूर्वप्रतिपन्न [illegible] भवत्रयेऽपि न भवतीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वबद्धनरकायुष्क [illegible] व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम्, क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च [illegible] [illegible] नरक प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वात् [illegible] नाम्नो गृह्यते, अतस्तीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वात् मिथ्यात्वाभिमुखस्य [illegible]। तथा 'आहारकद्विकम्' आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं "पमत्तु" त्ति [illegible] [illegible] [illegible] इति विशेषो द्रष्टव्य, उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति । [illegible] सङ्क्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावाभिमुख [illegible] लभ्यत इतीत्थ विशिष्यते । तथा 'अमराउ' देवायुष्क प्रमत्तसंयत पूर्वकोट्यायुष्क [illegible] [illegible] [illegible] पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकोटी[illegible] बध्नाति । पूर्वकोटि [illegible] [illegible] बध्नन् उत्कृष्ट लभ्यते, अबाधाया परिगणितत्वात् [illegible] अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषण [illegible] [illegible] इति यदुक्त [illegible] बध्यते, सा चाप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति । [illegible] मोच्यते ' इति यदुक्त [illegible] [illegible] गा० ६०) इति वचनात् प्रमत्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति वचनात् । [illegible] [illegible] [illegible]

१ [illegible] ॥

स्थितिरशुभा सक्लेशप्रत्ययया च, सक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः । अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसक्लिष्टत्वमुच्यते, यावता तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नातीति द्रष्टव्यम्, तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् । उक्तं च—

सव्वठिईण उक्कोसओ उ उक्कोससक्किलेसेण ।

विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्ज सेसाण ॥ (शत० गा० ५८) इति ।

ननु यदि विशुद्धितः इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते, स कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोक्तः ? न च वक्तव्यं तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति, तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वस्यानुज्ञानात्, तथा चोक्तमायुःसंवेधभङ्गकावसरे सप्ततिटीकायाम्—

तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । (पत्र १३१-२)

तत् कथमुक्तं "मिच्छद्दिट्ठी बधइ, निट्ठठिइं सेसपयडीण ॥" ? इति । अत्र प्रतिविधीयते—सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्य तिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसङ्ख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं मनुष्यायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति, सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद् विशुद्ध्याधिक्यस्यानवगम्यमानत्वात्, शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धाः पठ्यन्ते, न सास्वादन । न चैतन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितम्, यदाहुः शिवशर्मसूरिपूज्याः —

सव्वुक्कोसठिईण, मिच्छद्दिट्ठी उ बधओ भणिओ ।

आहारग तित्थयर, देवाउ वा वि मुत्तूण ॥ (शत० गा० ५९) ॥ ४२ ॥

इह पूर्वं सक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनोक्तः । स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति, ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक् केषां कर्मणां स्थितिमुत्कृष्टां बध्नन्ति ? इति भेदतश्चिन्तयन्नाह—

विगलसुहुमाउगतिग, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग ।

एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोस ॥ ४३ ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणरूपम्, आयुस्त्रिक—आयुर्त्रितयं नारकतिर्यङ्-मनुष्यायुर्लक्षणम्, द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विक—सुरगति-सुरानुपूर्वीरूपम्, वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, नरकद्विक—नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं तिर्यङ्-मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देव-नारकाः । तथाहि—देव-नारका मध्ये तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषासामासां त्रयोदशप्रकृतीनां भवप्रत्ययादेव न

१ [illegible] । [illegible] ॥

२ [illegible] मिच्छद्दिट्ठी बधओ भणिओ । आहारग तित्थयर देवाउ वा वि मुत्तूण ॥

घ्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषोरपि देवकुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टत्रिपल्योपमलक्षण स्थितिबन्ध प्रकृत, तत्र च देव-नारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न सम्भवति, तस्मादेते तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्-मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्य विशुद्धा स्वायुस्त्रिभागावशेषे वर्तमाना बध्नन्ति, सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धस्यादिति मिथ्यादृष्टित्व-तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणद्वयम्। नारकायुष पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्या, अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति। नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टा पूर्वोक्तोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्या। विकलजातित्रिक सूक्ष्मत्रिकयोस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्या, अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निबध्नीयु, विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य वा मनुष्यप्रायोग्य वा देवप्रायोग्य वा रचयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम्। देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्या, अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गात्, विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भावना पञ्चदशापि प्रकृतय। तथा एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा ऽऽतपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य 'आ ईशानात्' ईशानदेवलोकमभिव्याप्य 'सुरा' देवा, कोऽर्थ ? भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्का सौधर्मेशानदेवा 'उक्कोसं' ति उत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्ति। तथाहि—ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेध, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेध, ईशानान्तास्तु देवा सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतस्त एव स्थावर-एकेन्द्रिया ऽऽतपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ॥ ४३ ॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस रई ॥ ४४ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् तिर्यग्द्विक–तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपम्, औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, उद्योतनाम सेवार्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुर-नारका बध्नन्ति, सर्वत्र विभक्तिलोप प्राकृतत्वात्, न मनुष्य-तिर्यञ्च, ते हि तद्बन्धाहसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति, अथाऽभ्यधिकसंक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयु, देव-नारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यम्, तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्, तस्माद् देव-नारका एव सर्वसंक्लिष्टा प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति। अत्र च सामान्योक्तावपि सेवार्तसंहनन औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्या नेशानान्ता देवा, ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमाना प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति। अथ

सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्णन्ते तर्ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयु, न चैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वे एते प्रकृती बध्येते, तेषा सहननोपाङ्गाभावात्, “सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणी” (जिनभ० सं० गा० १६४) इति वचनात्। सनत्कुमारादिदेवा पुन सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यम्, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात्। तस्मात् प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टा सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति। तदेव जिननामा-ऽऽहारकद्विक-देवायु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिका-ऽऽयुष्कत्रिक-देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विक-एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनाम तिर्यग्द्विक-औदारिकद्विक-उद्योतनाम-सेवार्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ता, शेषप्रकृतीना तु का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह—“सेस चउगइय” त्ति भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्य ‘शेषाणा’ द्विनवतिसङ्ख्यप्रकृतीना मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्ति। तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा मिथ्यात्व-कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाना सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीना पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणा तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि मध्येऽसाता ऽरति शोक-नपुंसकवेद-पञ्चेन्द्रियजातिहुण्डसंस्थान-पराघात-उच्छ्वासा ऽशुभविहायोगति त्रस-बादरपर्याप्त प्रत्येका ऽस्थिरा ऽशुभ-दु स्वर-दुर्भगा ऽनादेया ऽयश कीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणाना च विंशते प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टा स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति। शेषाणा त्वध्रुवबन्धिनीना सात-हास्य-रति-स्त्री-पुंवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुण्डवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगति स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणाना पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्तीति। उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन, अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह—“आहारजिनमपुव्वो” इत्यादि। आहारकद्विकं जिननाम “लहु” ति ‘लघुस्थितिकं’ जघन्यस्थितिकं करोतीति शेष। क ? इत्याह—“अपुव्वु” त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् ‘अपूर्व’ अपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमान स्थितिमाश्रित्येत्यर्थ, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्, तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जकर्मणा च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात्। तथा “अनियट्टि संजलण पुरिस लहु” त्ति संज्वलनाना—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणाना चतुर्णां ‘पुरुषस्य’ पुरुषवेदस्य च “लहु” त्ति ‘लघुस्थितिं’ जघन्यस्थितिबन्धम् “अनियट्टि” त्ति अनिवृत्तिबादर क्षपकस्तद्बन्धस्य स्वस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमान करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥४४॥

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नी वि आउ बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥

‘सात’ सातवेदनीयं ‘जस’ त्ति यश कीर्तिनाम “उच्च” त्ति उच्चैर्गोत्रम् “आवरण” त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं ‘विग्घं’ अन्तरायपञ्चकं “सुहुमो” त्ति सूक्ष्मसम्पराय क्षपक उत्कृष्टविशुद्धौ वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्। “विउव्विछ

१ सुरनैरयिका एकेन्द्रियाश्च सर्वेऽसंहननाः ॥

अमणि" त्ति 'वैक्रियषट्कं' नरकद्विक-वैक्रियद्विक-देवद्विकलक्षणम्, असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति। किमुक्तं भवति ?—वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतयः, तासां च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः प्रतिपादिता, सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति, वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयः, ते चासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि, यदुक्तम्—

वेउव्विछक्कि त सहसताडियं जं असण्णिणो तेसिं ।
पलियासंखंसूणं, ठिई अबाहूणिय निसेगो ॥ (पञ्चसं० गा० २५६)

अस्या अक्षरगमनिका—"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसियाइ" (कर्मप्रकृ० गा० ७९) इत्यनेन करणेन यद् लब्धं तद् 'सहसताडितं' सहस्रगुणितं सत् पल्योपमासङ्ख्येयभागेन न्यूनं सद् 'वैक्रियषट्के' देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम्। कुत ? इत्याह—'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेषां' वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकाः, ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनाम्। अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति ॥

किञ्च एताः षट् प्रकृतयो यथासम्भवं नरक-देवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते। तत्र च देव नारका असंज्ञिमनुष्य-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया नरकेषु देवलोकेषु [च] नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतद्बन्धासम्भव। तिर्यङ्-मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमामुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः। "सन्नी वि आउ" त्ति संज्ञी अपिशब्दाद् असंज्ञी गृह्यते, ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुष्प्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति। तत्र देव-नारकायुषी पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याः, मनुष्य-तिर्यगायुषी पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः। उक्ता पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं" ति शेषाणां भणितोद्धरितानां—निद्रापञ्चक-असातवेदनीय-अनन्तानुबन्धिचतुष्क-अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क-मिथ्यात्व-मनुष्यगति-तिर्यग्गति-जातिपञ्चक-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-प्रशस्ता-प्रशस्तविहायोगति-पराघात-उच्छ्वास-आतप-उद्योत-अगुरुलघु-निर्माण-उपघात-त्रसनवक-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरपर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति। अत्र एकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् एकेन्द्रिया स्थितिमुत्कर्षयन्ति। विकलेन्द्रियपर्याप्तकेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते एव, तथापि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण एकेन्द्रियग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम्। अथ स्थितिबन्धमेवोत्कृष्टानुत्कृष्टादिप्रकारान् विचारयितुमाह

उक्कोसजहन्नेयर, भगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४३ ॥

बन्धशब्द प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्ध १ जघन्यबन्ध २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्ध प्रतिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्ध ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्ध ४ इति चत्वारो भङ्गा । तत्र यतोऽन्यो वृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्ध , ततोऽधस्तात् समयहानिमार्गे कृत्वा यावद् जघन्यबन्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्या सर्वे स्थितिविशेषा सङ्गृहीता । यस्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्ध , तत पर समयवृद्धिमार्गे कृत्वा यावद् उत्कृष्टस्तावत् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकाराभ्या वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषा सङ्गृहीता । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गा , तद्यथा—सादिबन्ध १ अनादिबन्ध २ ध्रुवबन्ध ३ अध्रुवबन्ध ४ चेति । तत्र य पूर्वं व्यवच्छिन्न पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्ध । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्न सोऽनादिबन्ध । य पुनरभेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेद प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुव । य पुनरायत्या कदाचिद् व्यवच्छेद प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्ध । एव "चउहा सग अजहन्नु" त्ति "सग' त्ति सप्ताना मूलप्रकृतीना ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायलक्षणाना सम्बन्धिन्यो या स्थितयस्तासा य 'अजघन्य' अजघन्यबन्ध स 'चतुर्धा' चतुर्विकल्प सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्चेति । तथाहि—एतासा प्रकृतीना मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे जघन्य स्थितिबन्ध प्राप्यते, शेषप्रकृतिषट्कस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धेऽसौ लभ्यते, ततोऽन्य सर्वोऽप्युपशमश्रेणावप्यजघन्यो भवति, उपशमकस्यापि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादजघन्य एव भवतीति भाव । ततश्चोपशान्तमोहावस्थायामजघन्यबन्धस्याबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनरपि प्रस्तुतप्रकृतिसप्तकस्याजघन्य बध्नाति तदाऽजघन्यबन्ध सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । उपशान्तमोहावस्था चाऽप्राप्तपूर्वाणा बन्धव्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्निरन्तरं बध्यमानत्वादनादि । अभव्याना ध्रुवोऽभाविपर्यन्तत्वात् । भव्यानामध्रुवो भाविपर्यन्तत्वात् । "सेसतिगे आउचउसु दुह' त्ति 'शेषत्रिके' जघन्योत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टलक्षणे एतासा मूलप्रकृतीना बन्ध "दुह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—एतासा प्रकृतीना मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे, शेषाणा तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यो बन्धोऽनन्तरमेवोक्त , स चाऽनवाप्तपूर्वोऽजघन्यबन्धादवतीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये बध्यत इति सादि , तत पर क्षीणमोहाद्यवस्थाया सर्वथा न भवतीत्यध्रुव इति द्वावेव विकल्पौ सम्भवतो न शेषौ । उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिक सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिये लभ्यते, स चानुत्कृष्टबन्धादवतीर्य कदाचिदेव बध्यते न सर्वदेति सादि , अन्तर्मुहूर्तात्तु पर नियमादनुत्कृष्ट बध्नतोऽसौ निवर्तत इत्यध्रुव , उत्कृष्टश्च प्रतिपत्य अनुत्कृष्ट बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽपि सादि , तत पर जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तादुत्कृष्टेनानन्तेनापि कालेन पर्यवसाने पुनरुत्कृष्ट बध्नतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुव इति । एव उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टौ पर्यायेण परिभ्रमन्ताविति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भव । "आउचउसु दुह" त्ति

प्राकृतत्वान्निर्देशस्य सास्वादनमादौ यस्य तत् सास्वादनादि, अपूर्वकरणमन्ते यस्य गुणस्थानककदम्बकस्य तद् अपूर्वान्तम्, सास्वादनादि च तत् अपूर्वान्तं च सास्वादनाद्यपूर्वान्तं तस्मिन् सास्वादनाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानककदम्बकेऽतराणां—सागरोपमाणाम् अन्तर्-मध्ये कोटी कोटी अतरान्त कोटीकोटी तस्या अतरान्त कोटीकोटीत, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्यय, 'न' नैवाऽधिको बन्धो भवति, किन्तु मिथ्यादृष्टेरेव भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते। इदमुक्त भवति—सास्वादनादीनामपूर्वकरणान्तानां भिन्नग्रन्थिकत्वात् सागरोपमान्त कोटीकोटीरूपैव स्थितिरुच्यते, न तु परतोऽपि। ननु भिन्नग्रन्थिकानप्याश्रित्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो मिथ्यात्वस्योत्कृष्ट स्थितिबन्ध कर्मप्रकृत्यादिषु निरूपित तत् कथमुच्यते भिन्नग्रन्थिकत्वादन्त कोटीकोटीरूपैव स्थितिर्युज्यते न परतोऽपि ? सत्यम्, अस्ति भिन्नग्रन्थिकानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्ध, केवल परित्यज्य सम्यक्त्व मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक प्राप्तानामेवासौ सम्भवति, अत्र तु भिन्नग्रन्थिकाना सास्वादनादीनामेवान्त सागरोपमकोटीकोटीपरत स्थितिबन्धो निषिध्यत इत्यदोष। यत् पुन "बंधेणं न वोलइ कयाई" ( ) इति वचनाद् आवश्यकादिषु भिन्नग्रन्थिकस्य मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रतिषिध्यते तत् सैद्धान्तिकमतमेव। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायतस्तु भिन्नग्रन्थिभिर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टाऽपि स्थितिर्बध्यते, केवल तथाविधतीव्रानुभागयुक्ताऽसौ न भवति। ननु सागरोपमान्त कोटीकोटीत समर्गलतर सास्वादनादीना बन्धो मा भूद् अध स्तात् ततो भवति वा न वा ? इत्याह—'न हु' नैव 'हीन' न्यून सागरोपमान्त कोटीकोटीत सकाशात् स्थितिबन्धो भवति। एतदुक्त भवति—सास्वादनादिष्वपूर्वकरणपर्यन्तेषु गुणस्थानकेषु सागरोपमान्त कोटीकोटीप्रमाणैव स्थितिर्भवति, नाधिका नाप्यूनेत्यर्थ। ननु यदा एकेन्द्रियादि सास्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमत्र्यादिसप्तभागरूपमेव स्थितिबन्ध विधत्ते, अत सास्वादनाद्यपूर्वान्तेषु न हु हीनो बन्ध इति कथ घटाकोटीमाटीकते ?, सत्यमेतत्, केवल कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति सम्भावयामि, अपूर्वकरणात् परतोऽनिवृत्तिकरणादौ सागरोपमान्त कोटीकोटीतोऽपि हीन स्थितिबन्धो भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते। अथ किं सास्वादनादिष्वेवान्त सागरोपमकोटीकोटीतो हीन स्थितिबन्धो न लभ्यते ? आहोस्विन्मिथ्यादृष्टेरपि प्रतिनिशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तो ? इत्याह—"न य मिच्छे भवियरसन्निम्मि" त्ति 'न च' नैव "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टौ, संज्ञिशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् भव्यश्चासौ सनी च भव्यसनी तस्मिन् भव्यसंज्ञिनि, इतरश्च—अभव्य स चासौ संज्ञी चेतरसंज्ञी तस्मिन्नितरसंज्ञिनि अभव्यसंज्ञिनीत्यर्थ, आयुर्वर्जाना सप्ताना कर्मप्रकृतीना सागरोपमान्त कोटीकोटीतो हीनो भवति। भव्यसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ग्रहणाद् भव्यसंज्ञिन कस्मिंश्चिद् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिबादरादौ हीनोऽपि बन्धो भवतीत्याचष्टे। संज्ञिग्रहणाच्चाऽभव्येऽप्यसंज्ञिनि हीन एव, प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव प्रागसंज्ञिन प्रतीत्य स्थितेर्भणनात्। अभव्यसंज्ञिनि तु सागरोपमान्त कोटीकोटीतो हीनो बन्धो न भवत्येव, यतो भिन्नग्रन्थिकस्यैव हीनो बन्ध स्यात्, अभव्यसंज्ञी चोत्कृष्टतोऽपि ग्रन्थि

१ बन्धेन न अतिक्रामति कदाचित् ॥ २ सं० च भव्यस्य° ॥

...भेदस्त्रयोऽपि तदात्वं प्राप्य मध्ये सूक्ष्मोऽपि तिरौ, तिरस्य च प्रभूत स्थितिबन्ध तीति ॥ ४८ ॥

कियति लघुगुरुभावेषु स्थितिबन्ध । साम्प्रतमेकेन्द्रियादिनां जीवानामित्य स्थितिबन्धाना-
मल्पबहुत्व गाथाद्वयेनाह—

जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो ।
एसिं अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥

यतः केवलो यतिलघुबन्धो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थ, सूक्ष्मसम्पराये आन्तर्मौहूर्तिक एव
सर्वेभ्यः स्तोका १ । ततो यतिलघुस्थितिबन्धात् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसङ्ख्या-
तगुण २ । तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्ध 'अहिगु' त्ति विशेषाधिक ३ । तत
एषा: इति आद्योबादर-सूक्ष्मयोरपर्याप्तयो "लघु" त्ति जघन्यस्थितिबन्धोऽधिको वाच्य ।
इदमुक्तं भवति—तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धात् बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थि
तिबन्धो विशेषाधिक ४, तत सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक ५ ।
'सुहुमेअरअपजपज्ज गुरु' त्ति तत सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य "गुरु" त्ति उत्कृष्ट स्थितिबन्धो
विशेषाधिक ६ तत "इतर" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ७,
तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ८, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्यो-
त्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ९ ॥ ४९ ॥

लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥

तत्र "लहु" त्ति 'लघु' जघन्य स्थितिबन्ध "बिय" त्ति द्वीन्द्रिये "पज्ज" त्ति पर्याप्ते
वाच्य । कियन्मात्र ? इत्याह—"संखगुणो बियअमणपज्जे" इति वचनात् सङ्ख्यातगुण
इत्यर्थ । ततस्तस्मिन्नेवापर्याप्तेऽधिको लघु स्थितिबन्ध, ततोऽपर्याप्तेतरद्वीन्द्रिये गुरु स्थिति-
बन्धोऽधिको वाच्य । एव द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण "ति" त्ति त्रीन्द्रियेऽपर्याप्त-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ
द्वौ, त्रीन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते द्वौ गुरुस्थितिबन्धौ वाच्यौ । "चउ" त्ति चतुरिन्द्रियेऽप
र्याप्त-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, चतुरिन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ ।
'असन्निसु' त्ति असञ्ज्ञिनि पर्याप्ताऽपर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, असञ्ज्ञिनि एवापर्याप्त-पर्याप्ते
गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ । किंप्रमाणा पुनरेते स्थितिबन्धा वाच्या ? इत्याह—"अहिगु"
त्ति 'अधिका' विशेषाधिका वाच्या । किं सर्वेऽपि स्थितिबन्धा विशेषाधिका एव वाच्या ?
उताहो कुत्रचिदस्ति विशेषोऽपि ? इत्याह— 'नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे' त्ति 'नवरं'
इत्ययमियान् विशेष, सङ्ख्यातगुणो वाच्य, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् द्वीन्द्रिये पर्याप्ते
असञ्ज्ञिनि पर्याप्ते अन्यत्र सामर्थ्यात् सर्वत्र विशेषाधिक इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—
बादरपर्याप्तैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धात् द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण १०
ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक ११ ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्ट
स्थितिबन्धो विशेषाधिक १२ तत पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक १३

तत पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १४ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १५ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक १६ तत पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक १७ तत पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १८ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १९ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक २० तत पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक २१ तत पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुण २२ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक २३ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक २४ तत पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक २५ ॥ ५० ॥

तो जइजिट्ठो बंधो, सखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम सखगुणा ॥ ५१ ॥

ततो यते –सयतस्य ज्येष्ठो बन्ध सख्यातगुण , ततो देशविरतस्य 'ह्रस्व ' जघन्य 'इतर ' उत्कृष्ट , तत "सम्मचउ" त्ति सम्यग्दृष्टेश्चत्वार स्थितिबन्धा क्रमेण भवन्ति । तद्यथा— अविरतसम्यग्दृष्टे पर्याप्तस्य जघन्यस्तस्यैव चोत्कृष्ट स्थितिबन्ध इति द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि द्वौ, मिलिताश्चत्वार इति । "सन्निचउर" त्ति सज्ञिना–सज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा मिथ्यादृष्टीनामिति सामर्थ्याद् गम्यते चत्वार स्थितिबन्धा , तद्यथा—सज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ एव स्थितिबन्धानिति सर्वे चत्वार । एते प्रदर्शितरूपा सर्वेऽपि स्थितिबन्धा यथा यावद्गुणा भवन्ति तदाह—"ठिइबंधाणुकम सखगुण" त्ति स्थितीना बन्धा स्थितिबन्धा –प्रदर्शितरूपा 'अनुक्रमेण' उत्तरोत्तरपरिपाट्या 'सखगुणा ' सङ्ख्येयगुणा भवन्तीत्यक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्—पर्याप्तासज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् यतेरुत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण २६ ततो देशविरतस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण २७ ततो देशविरतस्योत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण २८ ततोऽविरतापर्याप्तस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण २९ तत पर्याप्ताविरतस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३० ततोऽपर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३१ तत पर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३२ ततोऽपर्याप्तसज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३३ तत पर्याप्तसज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३४ तत सज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३५ तत पर्याप्तसज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण ३६ ॥ अथैतद्गाथात्रयोक्ताल्पबहुत्वपदाना सुखावबोधार्थं विनेयजनानुग्रहाय यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

एकोनपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य जघन्य स्थितिबन्ध सर्व स्तोक १	बादरप० एके० ज० स्थि असंख्येयगुण २	सूक्ष्मप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिक ३	बादराप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिक ४	सूक्ष्माप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिक ५
	बादरप० एके० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक ९	सूक्ष्मप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ८	बादराप० एके० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक ७	सूक्ष्माप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ६

पञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

द्वीन्द्रियप० ज० स्थि संख्येयगुण १०	अप० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १२	पर्या० त्रीन्द्रि० ज० स्थि विशेषाधिक १४	अप० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक १६
अप० द्वीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक ११	पर्या० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक १३	अप० त्रीन्द्रि० ज० स्थि विशेषाधिक १५	पर्या० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १७
पर्या० चतुरि० ज० स्थि विशेषाधिक १८	अप० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २०	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुण २२	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक २४
अप० चतुरि० ज० स्थि० विशेषाधिक १९	पर्या० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २१	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० विशेषाधिक २३	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि विशेषाधिक २५

एकपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्येयगुण २६	देशवि० ज० स्थि संख्येयगुण २७	अविरतपर्या० ज० स्थि० संख्येयगुण २९	अप० अविर० उत्कृ० स्थि संख्येयगुण ३१	अप० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुण ३३	संज्ञिपञ्चे०अप० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण ३५
	देशवि० उत्कृ० स्थि संख्येयगुण २८	पर्या० अवि० ज० स्थि० संख्येयगुण ३०	पर्या० अविर० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण ३२	पर्या० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुण ३४	पर्या० संज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण ३६

अत्र च विशेषानिर्देशेऽपि संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धादारभ्य संज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् ये केचन स्थितिबन्धा निरूपितास्ते सर्वेऽपि सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाणा एवावसेयाः, कर्मप्रकृत्यादिषु तथैवोक्तत्वात् । सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेः पर्याप्तस्यैव भवति नान्यस्य, "सव्वाण वि पगईणं, उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं" (पञ्चसं० गा० २७०) इति वचनात् ॥ ५१ ॥

तदेवं स्थितिबन्धस्याल्पबहुत्वद्वारेण स्वामिताभिचिन्तिता । अधुना बन्धस्थितेः शुभाशुभप्ररूपणां मत्स्यप्ररूपणामभिमह—

१ सर्वासामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टां संज्ञिनः कुर्वन्ति स्थितिम् ॥

सव्वाण वि जिट्ठ ठिई, असुभा ज साऽइसंकिलेसेणं।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ ५२ ॥

'सर्वासामपि' शुभानामशुभानामपि कर्मप्रकृतीनां 'ज्येष्ठा स्थिति' उत्कृष्टा स्थिति 'अशुभा' अप्रशस्ता, कुतो हेतो ? इत्याह—"ज साऽइसंकिलेसेण" ति 'यत्' यस्मात् कारणात् 'सा' ज्येष्ठा स्थिति 'अतिसंक्लेशेन' अत्यन्ततीव्रकषायोदयेनोत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेन जन्तुभिर्बध्यत इति शेष । ननु कै स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरियमुत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते ? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञानावरणादिकर्मण सर्वजघन्याया अपि स्थितेर्निर्वर्तकानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतैश्च सर्वैरप्येकैव जघन्या स्थितिर्नानाजीवानाश्रित्य जन्यते, पृथग्भेदं कालत्रयभवनात्पुरुषैरोकस्वरूपेण निर्वर्त्यमानकटादिवत् । तत समयोत्तरां स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि यथोत्तर विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यन्यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, केवल पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानि । ततो द्विसमयोत्तरा स्थिति निर्वर्तयन्ति यानि तान्यनन्तरेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, त्रिसमयाधिका तु ता यानि निर्वर्तयन्ति तान्यमीभ्योऽपि विशेषाधिकानि, तामेव चतु समयाधिका यानि निर्वर्तयन्ति तानि तेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, एव तावन्नेय यावत् सर्वोत्कृष्टा स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्योऽन्यानि विशेषाधिकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमापूरयन्ति । स्थापना— तत्र प्रथमपङ्क्तावप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि द्रष्टव्यानि, किन्त्वसत्कल्पनया चतु सङ्ख्यात्वेन दर्शितानि, द्वितीयादिपङ्क्तिषु तान्येव विशेषाधिकानीति पञ्चादित्वेन दर्शितानि । एताश्चैव पङ्क्तयो जघन्याया स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिस्तावत्समया भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्येया द्रष्टव्या, असत्कल्पनया च पञ्च दर्शिता । तत्रैत तत् स्यात्—इहैकस्थितिजनकान्यप्यध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयानि परस्पर विचित्राण्यभ्युपगम्यन्ते, तद्वैचित्र्याभ्युपगमे च स्थितेरपि वैचित्र्य प्राप्नोतीति, तदयुक्तम्, तानि ह्येकस्थितिजनकान्यपि सन्ति क्षेत्र-काला-ऽनुभाग-योगादिवैचित्र्याद् विचित्राण्युच्यन्ते, न स्थितिमाश्रित्य, तेषामेकस्थितिजनकाविशेषेण वैचित्र्यासिद्धेरित्यलमप्रस्तुतेन । प्रस्तुतमुच्यते—इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषा मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थान तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, तेषामेवाद्यमीषदुच्यते, उभयान्तरालवर्तीनि तु मध्यमानि, ततश्चैतैरीषन्मध्यमोत्कृष्टै स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते । अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, शेषाणि तु चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि ईषन्मध्यमान्युच्यन्ते, तैश्चरमपङ्क्तिनिदर्शितै सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकै सर्वैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्जन्यत इति भाव । यदुक्त बृहच्छतके ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे—

उक्कोससकिलेसेण इसिमह मज्झिमेणावि[1] ॥ (गा० ६२)

---

1 उत्कृष्टसंक्लेशेन ईषदथ मध्यमेनापि ॥

तत्रश्चायं प्रस्तुतार्थः—सर्वासामपि प्रकृतीनां ज्येष्ठा स्थितिरशुभा, यस्मात् साऽतिसंक्लेशेनात्यन्ततीव्रकषायोदयेन बध्यते । एतदुक्तं भवति—सर्वासां शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां स्थितयः संक्लेशवृद्धौ वर्धन्ते तदपचये तु हीयन्त इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां संक्लेशमेव स्थितयोऽनुवर्तन्ते इत्यशुभाः, अशुभकारणनिष्पन्नत्वात्, अशुभवृक्षाशुभफलवत् । नन्वेवं तर्हि "ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ" (शत० गा० ९९) इति वचनाद् अनुभागोऽपि कषायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वाद् अशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतः सत्यपि हि कषायजन्यत्वे कषायवृद्धावनुभागोऽशुभप्रकृतीनामेव वर्धते शुभानां तु परिहीयत एव, कषायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीनां तु हीयत इति न कषायमनुवर्तते । स्थितयस्तु शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां कषायवृद्धौ नियमाद् वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कषायान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाद् अशुभा एवेति । यदि वा यथा यथा शुभप्रकृतीनां स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्सम्बन्धी हीयते, परिगलितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्माणि भवन्तीत्यर्थः, अशुभप्रकृतीनां तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभानुभागक्षयहेतुत्वाद् अशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति । ननु ज्येष्ठा स्थितिः संक्लेशेन बध्यते, जघन्या तु किम्प्रत्यया ? इत्याह—"इयरा विसोहिओ पुण" त्ति 'इतरा' जघन्या पुनः 'विशोधितः' विशुद्ध्या कषायापचयरूपया बध्यते । इदमुक्तं भवति—इह ये ये विवक्षितमूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धकास्तेषां मध्ये यो यः सर्वोत्कृष्टविशुद्धियुक्तः स स तद्विवक्षितकर्मस्थितिं जघन्यां बध्नातीति भावः । किं सर्वप्रकृतीनामयमेव न्यायः 'यदुतोत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशेनैव बध्यते अशुभा च भवति, जघन्या पुनर्विशुद्ध्यैव', न, इत्याह—"मुत्तु नरअमरतिरियाउ" त्ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'मुक्त्वा' त्यक्त्वा नरायुरमरायुस्तिर्यगायुः । अयमर्थः—नरा ऽमर तिर्यगायुषां स्थितिं मुक्त्वा शेषस्थितीनामेवाऽशुभत्वं द्रष्टव्यम्, एतत्स्थितिः पुनः शुभैव भवतीत्यर्थः, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात् । मनुष्य-तिर्यगायुषोर्हि वृद्धिस्त्रिपल्योपमावसाना, देवायुषस्तु वृद्धिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावसानाऽपि शुभा, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात्, विशुद्धितारतम्यादेव च भवति, अतो मनुष्य-तिर्यग्-देवायुःस्थितिः शुभा, शुभकारणप्रभवत्वात्, शुभद्रव्यनिष्पन्नघृतपूर्णादिद्रव्यवदिति । अथवा प्रस्तुतायुष्कत्रयस्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते, स च शुभः, सुखजनकत्वाद् इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थितेः शुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् । किञ्च नरा ऽमर-तिर्यगाऽऽयुर्लक्षणप्रकृतित्रयं मुक्त्वा शेषप्रकृतीनां प्रकृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां स्थित्युपचयाऽपचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिरुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, सर्वजघन्यसंक्लिष्टस्तु सर्वजघन्यामिति विपरीतं तद् द्रष्टव्यमिति ॥ ५२ ॥

सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन कषायरूपेण बध्यत इत्युक्तम्, न च केवलकषायेण स्थितिर्बध्यते, किं तर्हि [1] योगसहचरितेन, अनन्तं योगं सर्वजीवेष्वल्पबहुत्वद्वारेण चिन्तयन्नाह—

1 ख० १-२ त० °परीतं द्र° ॥

सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज्ज हस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥

इह योगो वीर्यं स्थाम इत्यादि पर्याया । तथा चाह—

जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ (पञ्चस० गा० ३९६)

स च योगस्त्रिधा—मनोयोगो वाग्योग काययोगश्चेति । उक्त च कर्मप्रकृतौ—

परिणामा ऽऽलम्बण-गहणसाहणं तेण लद्धनामतिग ।
कज्जब्भासा ऽन्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएस ॥ (गा० ४)

अस्या अक्षरगमनिका—परिणमन परिणाम , अन्तर्भूतणिगर्थाद् घञ्प्रत्यय , परिणामापादनमित्यर्थं , आलम्ब्यत इत्यालम्बन भावेऽनट्प्रत्यय , गृहीतिर्ग्रहणम् , तेषा साधन-साध्यतेऽनेनेति साधन-योगसंज्ञ वीर्यं "करणाधारे" (सिद्ध० ५-३-१२९) इत्यनट्प्रत्यय । तथाहि—'तेन' वीर्यविशेषेण योगसंज्ञितेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च भाषा ऽऽनादिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते, यथा मन्दशक्ति कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेष सन् तान् भाषा ऽऽनादिपुद्गलान् विसृजतीति परिणामा ऽऽलम्बन-ग्रहण साधन वीर्यम् । तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन "लद्धनामतिग" ति लब्ध नामत्रिक—मनोयोगो वाग्योग काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोग , वाचा योगो वाग्योग , कायेन योग काययोग । स्यादेतत्—सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षयोपशमिकभावेऽपि किमिति क्वचित् स्तोक क्वचित् प्रभूत क्वचित् स्तोकतरमित्येववैषम्येण वीर्यमुपलभ्यते ? इत्यत आह—"कज्ज" इत्यादि । यदर्थं चेष्टते तत् कार्यं तस्याभ्यास —अभ्यसनमभ्यास ' असूद् क्षेपे ' इत्यस्याभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोग , कार्याभ्यास —कार्याभ्यासवशात् निवर्तनवर्तनमित्यर्थ , तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्य-परस्पर प्रवेश —शृङ्खलावयवानामिव परस्पर सम्बन्धविशेष , ताभ्या कृत्वा विषमीकृता —सुप्रभूता ऽल्पा-ऽल्पतरसद्भावतो विसंस्थुलीकृता प्रदेशा येन वीर्येण तत् कार्याभ्यासा ऽन्योन्यप्रवेशाभ्या विषमीकृतप्रदेशम् । तथाहि—येषामात्मप्रदेशानां हस्तादिकर्मण्यासन्नत्वेन व्यापार तेषां प्रभूततरा चेष्टा, दूरस्थानामल्पतरा, दूरतरस्थाना तु पादादिगताना स्वल्पतरा, अनुभवसिद्ध चैतत्, अपि च शीर्षादिना शिरसि वेदनोत्पत्तौ यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद् वेदनोत्पद्यते तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातक्षेत्रा सन्निकृष्टत्व तेषा तीव्रतरा वेदना, शेषाणां तु मन्दा मन्दतरा, तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दरूपं वीर्यमुपजायमान कार्यदेशाभ्यासवशात् केषुचित् प्रभूतम् केषु मध्यमरूपेषु मन्दतरम्

१ [illegible] ॥
२ कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु—[illegible] कर्मप्रकृतिचूर्णौ ॥
३ कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु—[illegible] ॥

भवति । एवमेव जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषे भवति नान्यथा, यथा शृङ्खलावयवानाम् । तथाहि—तेषां शृङ्खलावयवानां परस्परं सम्बन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरे-ऽप्यवयवा परिस्पन्दन्ते, केवलं केचित् स्तोकमपरे तु स्तोकतरमिति, सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिन्चलति नापरस्यावश्यम्भावि चलनम्, यथा गोधुरयो । [illegible] शवातो जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषतश्च वीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित् प्रभूतं केषु स्तोकमपरेषु तु स्तोकतरमित्येव वैषम्येणोपजायमानं न विरुध्यत इत्यलं [illegible] ॥

प्रकृतमनुस्रियते—तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य—सूक्ष्मसाधारणस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्य-स्येति च सामर्थ्याद् द्रष्टव्यम्, तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य सम्भवात्, आदिमः—प्रथमसमये वर्त-मानस्य सूक्ष्मनिगोदादिक्षणस्तत्र, सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात् । किम् ? इत्याह—"अप्पजोगो" त्ति अल्प—सर्वस्तोको योगः—वीर्यं व्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य [illegible] विकलत्रिकस्य "अमण" त्ति असंज्ञिन "मण" त्ति संज्ञिन "अपज्ज" त्ति प्रत्येकं सम्बध्यते [illegible] दीनां सप्तानामप्यपर्याप्तानां "लहु" त्ति जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः [illegible] सर्वत्र वाच्यम्, ततः प्रथमद्विकस्य—अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोद-बादरयोर्जघन्य [illegible] सङ्ख्येयगुणो वाच्यः । ततः प्रथमद्विकस्य "पज्ज हस्सियरो असंखगुणा" त्ति पर्याप्तस्य ह्रस्व—जघन्य इतरः—उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसङ्ख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगः [illegible] १ [illegible] बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २ [illegible] द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ३ [illegible] यस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ४ [illegible] लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ५ [illegible] लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ६ [illegible] लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ७ [illegible] दस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ८ ततो बादरैकेन्द्रियस्य [illegible] स्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ९ ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो [illegible] १० ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ११ [illegible] पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १२ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो [illegible] सङ्ख्येयगुणः १३ ॥ ५३ ॥

अपज्जत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा, परमपजबिए असंखगुणा ॥ ५४ ॥

[illegible]

[illegible] १३ [illegible]

त्रस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १५ ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १६ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १७ तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १८। "पज्जजहन्निय" त्ति ततस्त्रसाना पर्याप्ताना जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य, ततोऽपि "इयरु" त्ति त्रसाना पर्याप्तानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य इत्यक्षरार्थ। भावार्थस्त्वयम्—तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात् पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण १९ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २० ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २१ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २२ तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २३ तत पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २४ तत पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २५ तत पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २६ तत पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २७ तत पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २८ तत पर्याप्तसंज्ञ्युत्कृष्टयोगाद् अनुत्तरोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २९ ततो ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३० ततो भोगभूमिजाना तिर्यङ्-मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३१ ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३२ तत शेषदेव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणा यथोत्तरमुत्कृष्टयोगोऽसङ्ख्येयगुण ३३। अथ सुखावबोधाय अल्पबहुत्वपदाना यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

सूक्ष्मनि० लब्ध्य० ज० योग० १	बादर एके० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण २	द्वीन्द्रि० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ३	त्रीन्द्रि० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ४	चतुरिन्द्रि० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ५	असंज्ञिपञ्चे० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ६	संज्ञिपञ्चे० लब्ध्य० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ७
सूक्ष्मनि० लब्ध्य० उत्कृष्टयोगोऽसङ्ख्येयगुण ८	बादर एके० लब्ध्य० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण ९	सूक्ष्मनि० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण १०	बादर एके० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ११	सूक्ष्मनि० पर्या० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १२	बादर एके० पर्या० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १३	द्वीन्द्रि० लब्ध्य० उ० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १४

त्रीन्द्रि० ल० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १५	चतुरि० ल० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १६	असंज्ञिपञ्चे० लब्ध्य० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १७	संज्ञिपञ्चे० लब्ध्य० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण १८	पर्या० द्वीन्द्रि० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण १९	त्रीन्द्रि० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण २०	चतुरि० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण २१	असंज्ञिपञ्चे० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण २२	संज्ञिपञ्चे० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण २३
पर्या० द्वीन्द्रि० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २४	पर्या० त्रीन्द्रि० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २५	पर्या० चतुरि० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २६	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २७	पर्याप्तसंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २८	अनुत्तरसुर उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण २९	ग्रैवेयक० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण ३०	भोगभूमिज० उ० योगोऽसङ्ख्येयगुण ३१	आहारकशरीरी उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येयगुण ३२

[illegible] प्रत्येकं ज्ञेया। तत्र जघन्ययोगी [illegible] जघन्यस्थितिं च विदधाति, उत्कृष्टो च तद्विपरीतं [illegible]।

"एव ठिइठाणा" इत्यादि । 'एव' मकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीनां स्थानानि स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः । तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं पुनरेतानि वाच्यानि ? इत्याह—"अपज्जेयर संखगुण" त्ति प्रथममपर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानि, ततः "इयर" त्ति पर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानीति । किंगुणानि पुनरेतानि ? इत्याह—सङ्ख्यगुणानि, तत्र सङ्ख्याः सञ्जाता अस्येति(ती)ति सङ्ख्यः, दण्डादिभ्यो यः इति यप्रत्ययः, ततः सङ्ख्यः—सङ्ख्येयः सङ्ख्यात इत्यर्थः गुणः—गुणकारो येषां तानि सङ्ख्यगुणानि, सङ्ख्यातगुणितानीत्यर्थः । किं सर्वपदेषु सङ्ख्यातगुणान्येव ? आहोस्विदस्ति कस्मिंश्चित् पदे विशेषः ? इत्याह—"परमपज्जबिए असंखगुण" त्ति 'परं' केवलम् 'अपर्याप्तद्वीन्द्रिये' अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे तानि स्थितिस्थानानि 'असङ्ख्यगुणानि' असङ्ख्यातगुणितानि वाच्यानि । एतदुक्तं भवति—सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि स्तोकानि १ ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि २ ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि ३ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि, एतानि च पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, यत एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति ४ ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसङ्ख्यातगुणितानि पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ६ ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ७ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ८ ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ९ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १० ततोऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ११ ततोऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि १२ ततः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १३ ततः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि भवन्ति १४ ॥ ५४ ॥ स्थापना—

सूक्ष्मैके० अप० स्थितिस्थानानि स्तोकानि १	सूक्ष्मैके० पर्या० स्थि० स्था० सङ्ख्यातगुणानि ३	अप० द्वीन्द्रि० स्थिति० अस० ख्यातगुणानि ५	त्रीन्द्रि० अप० स्थिति० सङ्ख्या० तगुणानि ७	चतुरि० अप० स्थिति० सङ्ख्या० तगुणानि ९	असंज्ञिपञ्चे० अप० स्थिति० सङ्ख्यातगुणानि ११	संज्ञिपञ्चे० अप० स्थि० सङ्ख्यातगुणानि १३
बादरैके० अप० स्थि० सङ्ख्यात० गुणानि २	बादरैके० पर्या० स्थि० सङ्ख्यात० गुणानि ४	द्वीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सङ्ख्या० तगुणानि ६	त्रीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सङ्ख्या० तगुणानि ८	पर्या० चतुरि० स्थिति० सङ्ख्या० तगुणानि १०	असंज्ञिपञ्चे० पर्या० स्थि० सङ्ख्यातगुणानि १२	संज्ञिपञ्चे० पर्या० स्थि० सङ्ख्यातगुणानि १४

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि । सम्प्रति योगप्रवृत्तः एवापर्याप्तावस्थायां वर्तमाना अन्तवः प्रतिसमयं यावत्या योगवृद्ध्या वर्धन्ते तन्निरूपणार्थमाह—

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥ ५५ ॥

"अपज" त्ति 'अपर्याप्ता' असमर्थितचतुर्ष्यादिपर्याप्तयो जीवा भवन्ति। किंभूता ? इत्याह— 'प्रतिक्षणं' प्रतिसमयं 'असङ्ख्यगुणवीर्या' असङ्ख्यगुणयोगाः । यदुक्तम्—

सेव्वो वि अपज्जत्तो पइखण असंखगुणाए जोगवुड्डीए वड्डइ । ( )

अपर्याप्तानां योगवृद्धिमभिधाय साम्प्रतं प्राग्दर्शितानि स्थितिस्थानानि यैरध्यवसायैर्जन्यन्ते, ते एकैकस्मिन् स्थितिबन्धे जनकतया यावन्तो भवन्ति तदेतद् निरूपयन्नाह—"पइठिइमसंखलोगसमा" इत्यादि । स्थितिं स्थितिं प्रति प्रतिस्थिति, वीप्सायां "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" (सिद्ध० ३-१-४०) इत्यव्ययीभावः । तत्र स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायास्तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द-मन्दतर-मन्दतमकषायोदयविशेषा भवन्ति । कियन्तो भवन्ति ? इत्याह—'असङ्ख्यलोकसमा' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः । ननु किमेतेऽध्यवसायाः सर्वप्रकृतीनां सर्वस्थितिबन्धेष्वपि तुल्याः ? आहोश्विदस्ति कश्चित् प्रतिनियतो विभागः ? इत्याह—"अहिया सत्तसु" त्ति 'अधिकाः' विशेषाधिकाः 'सप्तसु' आयुर्वर्जसप्तकर्मसु । इयमत्र भावना—ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याः स्थितिबन्धाध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, ततो ज्ञानावरणस्यैव द्वितीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य तृतीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य चतुर्थस्थितौ विशेषाधिकाः, एवं यावदुत्कृष्टस्थितौ विशेषाधिकाः । एवमायुर्वर्जानां दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणामपि द्वितीयादिस्थितिबन्धादारभ्य विशेषाधिकत्वमध्यवसायस्थानानां तावद् नेयं यावदुत्कृष्टः स्वकीयस्वकीयः स्थितिबन्ध इति । तथाऽऽयुष्केषु स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायाः कियद्वृद्ध्या भवन्ति ? इत्याह—"आउसु असंखगुणा" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वप्यसङ्ख्यातगुणिता अध्यवसाया भवन्ति । तद्यथा—आयुष्काणां चतुर्णामपि जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, तेषामेव द्वितीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव तृतीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव चतुर्थस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, एवमसङ्ख्यातगुणास्तावद् नेया यावदायुषामुत्कृष्टस्थितिरिति ॥ ५५ ॥

प्रदर्शिताः स्थितिबन्धमाश्रित्य सकलकर्मणामध्यवसायाः । सम्प्रति यासां प्रकृतीनामेकत्र [illegible] पञ्चेन्द्रियेषु यावन्न [illegible] बन्धो न भवति तावन्तं कालमादर्शन [illegible] गाथाद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

तिरिनिरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥

तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तेषां "ति" त्ति त्रिकं तथा "जोय" त्ति उद्योतं च तिर्यग्-नरकत्रिकोद्योतानाम् । इह त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तत्र तिर्यक्त्रिकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-तिर्यगायुर्लक्षणम्, नरकत्रिकं-नरकगति-नरकानुपूर्वी

१ [illegible]

नरकानुपूर्व्यम्, उद्योतम् इत्येतासां सप्तप्रकृतीनाम् । किम्? इत्याह—"नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ" ति नराणां—मनुष्याणां भवा—जन्मानि नरभवास्तैर्युत—सहित नरभवयुत, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, सह चतुर्भिः पल्योपमैर्वर्तते इति सचतुःपल्यं "तेसट्ठ" ति त्रिषष्ट्यधिक शतमतरागान्(?) कोऽर्थः? नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमशतं पञ्चेन्द्रियेषु परमोऽबन्धस्थितिरासां सप्तप्रकृतीनां भवतीति द्वितीयगाथोत्तरार्धेन सम्बन्धः कार्यः । अयमभिप्राय —यदा किल कश्चिद् जन्तुस्त्रिपल्योपमायुष्केषु देवकुर्वादिषु युगलधार्मिकेषु मनुष्यत्वेनोत्पद्यते, तत्र चैताः सप्त प्रकृतीर्न बध्नाति, एता हि नारक-तिर्यग्भवयोग्या एव बध्यन्ते, युगलधार्मिकाश्च देवभवयोग्या एव बध्नन्ति, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य पल्योपमस्थितिषु देवेषूत्पन्नस्तत्रापि सम्यक्त्वप्रत्ययादेता न बद्धवान्, ततोऽपरिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य दीक्षामनुपाल्य नवमग्रैवेयके त्रिदशः एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः समुत्पन्नः, ततोऽन्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्वं जगाम, अग्रे षट्षष्टिद्वय सम्यक्त्वकालो वक्ष्यते, स चात्र सम्यक्त्वावस्थाने सति न सङ्गच्छत इति मिथ्यात्वगमनमभिधीयते, तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैता प्रकृतीर्न बध्नाति तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यग्दर्शनमवाप्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिं परिपाल्य तत्रैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयषट्षष्टिप्रमाणं सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । इह च सम्यक्त्वात् प्रच्युतस्य मिश्रगमनं यद् उच्यते तत् कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्मतमेवेति, सैद्धान्तिकानां तु न सम्मतमिति । उक्तं च—

निच्छया सकती, अविरुद्धा होइ सम्मनासेनु ।
मासाणो वा होनु, सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ (वृहत्क० भा० गा० ११४) इति ।

सवत्र च सम्यग्दर्शननिमित्तोपवर्तमान एता प्रकृतीर्न बध्नातीत्यनेन प्रकारेणासां तिर्यक्त्रिक-नरकत्रिक-उद्योतलक्षणसप्तप्रकृतीनां नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतं परमा—प्रकृष्टा पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः—अबन्धकाल इति । उक्तं च—

पल्लियाइ तिन्नि भोगावनिम्मि भवपच्चयं पलियमेगं ।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरइणा ॥
मिच्छो भवपच्चयओ, गेविज्जे सागराइं इगतीसं ।
अन्तमुहुत्तूणाइं सम्मत्तं तम्मि लहिऊणं ॥
विरयनरभवतरिओ, अणुत्तरसुरो उ अयर छावट्ठी ।
मिस्सं मुहुत्तमेगं, पल्लिन मणुओ पुणो विरओ ॥

१ मिथ्यात्वाद् यदि सम्यक्त्वं प्राप्नोति तदा पूर्वं ...... सम्यक्त्वमेव । मिश्रादिस्तो सम्यक्त्वाद् मिथ्यात्वं न पुनर्मिश्रम् ॥ २ ...... भवप्रत्ययं पल्योपमम् ...... सौधर्मे सम्यक्त्वेन नरभवे सर्वविरत्या ...... मिथ्यात्वं भवप्रत्ययाद् ...... । अन्तर्मुहूर्तोनानि सम्यक्त्वं लब्ध्वा । विरतनरभवान्तरितोऽनुत्तरसुरस्तु ...... मिश्रं मुहूर्तमेकं ...... मनुष्य ...... अनन्तरं ...... ।

छावट्ठी अयराणं, अच्चुयए विरयनरभवंतरिओ ।
तिरिनरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबंधम्मि ॥ (   )

स्थावरचतुष्क–स्थावर-सूक्ष्मा ऽपर्याप्त-साधारणलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति, विकला –द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातय , आतपम् एतेषा द्वन्द्व , तेषु, एतासु नवसु प्रकृतिषु पञ्चाशीत्यधिक शत पञ्चाशीतिशतम् "अतर" त्ति न तीयन्ते बहुकालतरणीयत्वाद् 'अतराणि' सागरोपमाणि, षष्ठ्यर्थे चात्र प्रथमा, यत प्राकृते हि विभक्तीना व्यत्ययोऽपि भवति, यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति, तेषामतराणा "नरभवयुत सचतु पल्यम्" इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततश्चतु पल्योपमाधिक पञ्चाशीत्यधिक सागरोपमशत नरभवयुतमासामबन्धस्थिति परमा । अयमर्थ —यथा किल कश्चिद् जन्तुस्तमो ऽभिधानाया षष्ठपृथिव्या द्वाविंशतिसागरोपमाणि भवप्रत्ययादेता प्रकृतीरबद्ध्वा पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येषूत्पद्य देशविरतिमासाद्य चतु पल्योपमस्थितिषु देवेषु देवत्वमनुभूयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषूत्पद्य सम्पूर्णं संयम परिपाल्य नवमग्रैवेयक एकत्रिंशत्सागरोपम स्थितिक सुरसद्मजन्मा समजनि, तत्र चान्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्व जगाम, पुनरेव तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैता प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमवाप्याऽप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिमनुपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वय विजयादि गमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकाल पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरित द्वितीय षट्षष्टिप्रमाण सम्यक्त्वकाल वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेव नरजन्म सहित चतु पल्योपमाधिक पञ्चाशीत्यधिक सागरोपमशतमासां स्थावरचतुष्टय-एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियजाति-आतपलक्षणानां नवानां प्रकृतीनां पचेन्द्रियेष्वबन्धस्थिति परमा भवति ।

यथा चावाचि—

छट्ठीए नेरइओ, भवपच्चयओ उ अयर बावीसं ।
देसविरओ उ भविउ, पलियचउक्क पन्मकप्पे ॥
पुत्ततुल्लनीगेमो, पचासीय सय सचउपल्ल ।
आयवथावरचउनिगलतियगणगिन्दिय अबधो (   ) ॥ इति ॥ ५६ ॥

अपढमसंघयणागिइखगईअणमिच्छदुहगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं, पणिंदिसु अबंधठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अप्रथमशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् अप्रथमसंहननानि–ऋषभनाराच-नाराचार्धनाराच कीलिका-सेवार्तसंहननलक्षणानि पञ्च, अप्रथमा आकृतय –संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि वामन-कुब्ज-हुण्डसंस्थानानि, अप्रथमखगति अप्रशस्तविहायोगति, "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन -क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणाश्चत्वार , मिथ्यात्वम्, द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् दुर्भगद्विक–दुर्भग-दुःस्वर अनादेयलक्षणम्, स्त्यानर्द्धित्रिक–निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धि

१ [illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥

रूपम्, "तिग" त्ति नीचैर्गोत्रं "नरु" त्ति नरभवाधिकं भवेद् इति, एतावता पर्यायेणाऽतिक्रान्तेन नरभवसहितं "दुतीसं" ति द्वात्रिंशं शतं सागराणां भवतीति शेषः । एतदुक्तं भवति—कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं सम्पूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिनाम सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । एवमेतावता पर्यायेणाऽतिक्रान्तेन सम्यक्त्वादिद्युत्कम्य विजयादिगमनक्रमेण द्वात्रिंशं शतं ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

पंचासीयाइ अबन्धो, उक्कोसो होइ सम्मगुणजुत्ते ।
बत्तीसं सयमयराण हुंति अहिया मणुअभवा ॥ (   )

एवमेकत्रिंशतः प्रकृतीनां विशिष्टोऽबन्धकालः प्रतिपादितः । साम्प्रतं स एव यदा भवे[illegible] येषु जीवेषु भवतीत्येतदाह—"पणिंदिसु" इत्यादि । 'पञ्चेन्द्रियेषु' [illegible] 'अबन्धस्थिति' अबन्धनाद्धा 'परमा' महती उत्कृष्टा, न तु सर्वजीवेषु । उक्तं च—

तेयालसय पयडीण, अबन्धकालो उ होइ मज्झिमओ ।
उक्कोसो विसेसो, न उ सव्वजियाण एस विही (   ) ॥ इति ॥ ५७ ॥

साम्प्रतं पूर्वोदितद्वात्रिंशदधिक[illegible]—

विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबन्धो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥

"दहिसय" त्ति उकारलोपाद् उदधिशत-सागरोपमशतम्, तत्र [illegible] सम्बन्धः कार्यः । ततश्चायमर्थः—विजयादिषु गतस्य जीवस्य शेषः, [illegible] भवति । तथा ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य [illegible] । तथा "तमाइ" त्ति तमःप्रभायां षष्ठपृथिव्यां ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य [illegible] [illegible]दधिशतं भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—विजय-वैजयन्त-जयन्त-[illegible] चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयम् [illegible], [illegible] सम्यग्मिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयम् [illegible],

यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

"दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं नाणाजीवाण सव्वद्धा ॥ (विशे० [illegible])

एवं च [illegible] द्वात्रिंशं [illegible] [illegible] इति । तथा [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible]

मनुष्येषूत्पद्य इत्यादिप्रागुक्तन्यायेन पुनर्विजयादिगमनेन पञ्चेन्द्रियं पूरयति तत त्रिषष्ठि रमुदधिशतं भवतीति । तथा तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततो नव मग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाणि ततस्तु विजयादिषु पञ्चेन्द्रियमिति मिलित पञ्चाशीत्यधिक-मुदधिशतमिति । सर्वत्र चान्तरालभाविनरभवाधिक्यं स्वयमत्र वाच्यमिति । एवं यासां प्रकृतीनां येषु जन्तुषु सर्वथैव बन्धो न भवति तासां द्वारेण प्ररूपिता । सम्प्रति त्रिसप्ततिसङ्ख्यानामप्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमुत्कृष्टं च सततबन्धकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—"समयादसं" इत्यादि । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् सुरद्विके-सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे वैक्रियद्विके-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गसरूपे 'पल्यत्रिक' पल्योपमत्रयं सतत बन्ध सततबन्धः "नाम नाम्ना काऱ्ये समासो बहुलम्" (सिद्ध० ३ १-१८) इति समास, यथा त्रिस्पष्ट पटु त्रिस्पष्टपटुरित्यादौ इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—सुरद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य पल्योपमत्रिक सततबन्धकाल "तित्तीसयरा परमो" (गा० ६२) इति पदात् परमशब्दस्येहाकर्षणात् 'परम' उत्कृष्टो भवति, यतो युगलधार्मिकेषु वर्तमानो जन्मत आरभ्य देवप्रायोग्यमिदं प्रकृतिचतुष्टयं पल्योपमत्रयं यावत् सततमेव-निरन्तरमेव बध्नातीति भाव , जघन्यतस्तु समय परावर्तमानत्वादासामपीति ॥ ५८ ॥

समयादसंखकालं, तिरिदुगनीएसु आउ अन्तमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

समय—अत्यन्तसूक्ष्म कालांश , स च समयप्रसिद्धात् पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्रशतवेधोदाहरणाद्वाऽवसेय , तस्मात् समयादारभ्य समयमादौ कृत्वा एकोत्तरसमयवृद्ध्या तावत्सततं बन्धकालो ज्ञेयो यावदसङ्ख्येयकाल इति । तत्रासङ्ख्य—सङ्ख्यातिक्रान्त समयपरिभाषितं स चासौ कालश्चासङ्ख्यकाल तम्, सङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिरूप यावदित्यर्थ । इह च समयशब्देन जघन्यो बन्धकाल उक्त , स च सर्वत्र मन्तव्य , क ? इत्याह—तिर्यग्द्विके-तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपे नीचैर्गोत्रे च द्वन्द्वे च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो । अयमाशय —तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयमिद जघन्यत समयमेकं बध्यते, द्वितीयसमये परावृत्त्या तद्विपक्षस्य बन्धसम्भवात् । यदा तु तेज -वायुषु जन्तुरुत्पद्यते तदा भवस्वभावादेवातिसंक्लिष्टो नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकं एव बध्नाति, न तद्विपक्षमुच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं वा, अतस्तेज -वायूनां कायस्थितिरूपमसङ्ख्येयकाल यावत्तासां तिसृणामपि प्रकृतीनां परम सततबन्धकाल प्राप्यत इति । "आउ अन्तमुहू" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वपि अन्तर्मुहूर्तमेव कालं यावत् परम सततबन्धकाल , जघन्योऽपि चैतावानेवेति वक्ष्याम इति । तथै कदेशे समुदायोपचाराद् 'औदारिक' औदारिकशरीरविषयेऽसङ्ख्या —सङ्ख्यातिक्रान्ता "परट्ट" त्ति परावर्ता —पुद्गलपरावर्ता वक्ष्यमाणस्वरूपा परम सततबन्धकाल इति । इहापि जघन्यत समयमेक सततबन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ता । कथम् ? यतो व्यावहारिक सत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगता कायस्थित्या इयन्तं कालं तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रिया ऽऽहारकयोस्तद्विपक्षयोर्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम् । तथा "सायठिइ पुव्वकोडूण" त्ति सातस्य-सात

असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥ ६१ ॥

सुशब्द प्रशसायाम्, न सु असु –अप्रशस्त इत्यर्थ । ततोऽसुशब्द प्रत्येक सम्बध्यते, ततश्चासुखगति –अप्रशस्तविहायोगति , असुजातय –एक-द्वि त्रि चतुरिन्द्रियजातिलक्षणाश्चतस्र , असुसंहननानि–ऋषभनाराचादीनि पञ्च, असुआकृतय –आकारा सस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलादय पञ्च, द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् आहारकद्विकम्–आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण नरकद्विक–नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षण "जोयदुग" त्ति उद्योतद्विकम्–उद्योताऽऽतपलक्षणम् "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति संज्ञागाथाया पठनात्, स्थिरनाम शुभनाम "जस" त्ति यश कीर्तिनाम स्थावरदशक प्रतीतमेव "नपु" त्ति नपुसकवेद स्त्रीवेद द्वयोर्युगलयो समाहारो द्वियुगल–हास्य-रति-अरति शोकलक्षणम् 'असायम्' असातवेदनीयमिति ॥ ६१ ॥

समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ६२ ॥

समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

एतासा पूर्वोक्तानामसुखगतिप्रभृत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीना किम् ? इत्याह—'समयात्' सूक्ष्मकालादारभ्य अन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टतोऽपि सततबन्धो न परतोऽपि । किमुक्त भवति ?—समयमात्रो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाण , यत समयादन्तर्मुहूर्ताद् वा उपरि कालनियममध्रुवबन्धित्वेनासाम् परावृत्ते सद्भावात् सङ्गच्छत एव यथोक्तकाल इति। तथा "मणुदुग" त्ति मनुजद्विक–मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूप जिननाम "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्गम् ततो मनुजद्विकादीनां द्वन्द्वस्तेषु, एतासु प्रकृतिषु विषये त्रयस्त्रिंशदतराणि 'परम' प्रकृष्ट सततबन्धो निरन्तरं बन्धकाल इति योग । अत्रापि जिननामवर्जाना चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यत समयमेक बन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशदतराणि, यतो बद्धजिननामकर्मा अनुत्तरसुरेषु स्थित एतावन्त कालमेतदेव मनुजप्रकृतिपञ्चक सतत बध्नातीति । ननु किमासा प्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यबन्धकाल समयमात्र एव ? किमुत कासाञ्चिदन्यथापि ? अत आह—"अंतमुहु लहू वि आउजिणे" त्ति 'लघुरपि' जघन्यबन्धोऽपि ह्रस्वबन्धकालोऽपि न केवलमसुखगतिप्रभृतीनामुत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणो बन्धकाल इत्यपिशब्दार्थं , आयु षु चतुर्षु जिननामनि चेत्यर्थ , "अंतमुहु" त्ति एकदेशे समुदायोपचाराद् अन्तर्मुहूर्तलक्षणो न तु समयमात्र इति । अयमत्र भावार्थ —इह कश्चिद् बद्धतीर्थकरनामबन्धक उपशमश्रेणिमारूढ , तत्र चानिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकत्रये वर्तमानोऽबन्धक सम्पेदे, तत श्रेणि समाप्य प्रतिपतित पुनरप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तदेव बद्ध्वा तदूर्ध्वं द्वितीयवारं श्रेण्यारोहणे कृते पुनरबन्धको भवति तदाऽसौ कालो लभ्यते । न च वाच्य कथमेकस्मिन्नेव भवे वारद्वयं श्रेण्यारोहणम् ? इति यत एकस्मिन् भवे तस्याभिहितत्वात् । उक्त च—

एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा ॥ (कम्मप० ३७६) इति ।

---

१ [illegible] ॥ २ [illegible] ॥ ३ [illegible] ॥

प्ररूपितः प्रसङ्गागतोऽपि स्थितिबन्धः । इदानीमनुभागबन्धस्यावसरः—अनुभागो रसोऽनुभाव इति पर्यायाः । तत्रानुभागस्य किञ्चित् तावत् स्वरूपमुच्यते—इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविवर्ती रागादिविवशो जन्तुः पृथक् सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति, तत्र च प्रतिपरमाणु कषायविशेषात् सर्वजीवानन्तगुणाननुभागस्याविभागपलिच्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्तं च—

बुद्धीए[1] छिज्जमाणो, अणुभागंसो न देइ जो अद्धं ।
अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि ॥ (शत० बृ० भा० गा० ४५९)

तत्र कस्मिंश्चित् कर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति । अन्यस्तु परमाणुस्तानविभागपलिच्छेदानेकाधिकान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि त्र्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि चतुरधिकानित्यादिवृद्ध्या तावज्ज्ञेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्जीवराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च सर्वजघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसभागानां परिकल्प्यते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अन्येषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपाः प्रागुक्तसिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्यभिधीयते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा असत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि ? सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति तेनैव क्रमेण द्वितीयं रसस्पर्धकमारभ्यते, ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावदनन्तानि रसस्पर्धकानि उत्तिष्ठन्ते ।

अथ चानुभागः शुभाऽशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां तीव्र-मन्दरूपतया द्विविधो भवत्यतोऽशुभ-शुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो बध्यते येन च मन्दस्तन्निरूपणार्थमाह—

तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥

तत्र प्रथमं तावत् तीव्र-मन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थः । इह घोषातकी-पिचुमन्दाद्यशुभवनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽपावर्तो द्विभागावर्तो भागत्रयावर्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च, तथेक्षु-क्षीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी सहजोऽपावर्तो द्विभागावर्तो भाग

१ बुद्ध्या छिद्यमानोऽनुभागांशो न ददाति योऽर्धम् । अविभागपरिच्छेदः सोऽत्रानुभागबन्धे ॥

भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्याम । उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्यय, इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह—"सुहऽसह" त्ति शुभप्रकृतीनाम् 'अन्नहा' उक्तवैपरीत्येन हेतुविपर्ययाच्चतु स्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुका-जलरेखासदृशैः कषायैश्चतु स्था निको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो भवति । गिरिरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्ध शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासा प्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतु स्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्ध सम्भवति, यासा चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह—"निग्घदेसघाइआवरणा" इत्यादि । विघ्नानि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदात्पञ्चान्तरायाणि पञ्च, 'देसघाइआवरणा' देशघात्यावारिका सप्त प्रकृतय, तद्यथा—मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान-मन पर्यायज्ञानावरणाश्चतस्र, चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शनावरणास्तिस्र इत्येता, "पुम" त्ति पुवेद, सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभा इत्येता सप्तदशप्रकृतय । किम् ? इत्याह—"इगदुतिचउठाणरस" त्ति स्थानशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् एकस्थान-द्विस्थान त्रिस्थान चतु स्थाना रसा यासा ता एक द्वि त्रि चतु स्थानरसा, एता सप्तदशापि प्रकृतय एक द्वि त्रि-चतु स्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन सयुक्ता बध्यन्त इति तात्पर्यम् । तत्रापि निवृत्तिबादरे गुणस्थाने सख्येयेषु भागेषु गतेष्वनन्तरं सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रस प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्तस्मादर्वाक् संक्लि स्यान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषा प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ति ? इत्याह—"सेस दुगमाई" इति । 'शेषा' भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिता सर्वा शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते "दुगमाइ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् द्विस्थानादिरसा, आदिशब्दात् त्रिस्थान रसाश्चतु स्थानरसाश्च, शेषा प्रकृतयो द्विस्थानिक त्रिस्थानिक चतु स्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भाव । अयमत्राशय —सप्तदशप्रकृतिव्यतिरेकेणान्यासु एकस्थानिको रसो बध्यते, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरस्य सख्येयेषु भागेषु गतेष्वेव, तत्र च सप्तदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्ति अत शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । ये अपि केवलज्ञान-केवलदर्शनावरणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते, तयोरपि सर्वघातित्वात् द्विस्थानिक एव रसो न त्वेकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति, यत इहासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्लेशस्थानानि भवन्ति, विशुद्धिस्थानान्यपि तावन्त्येव, यथा चान्यत्र कश्चित् पुरुषः संक्लेशस्थानान्यारोहति तान्येव विशुध्यमानोऽवतरति, तन्न यथा प्रासादस्योपरि यावन्ति सोपानस्थानानि अवतरतामपि तावन्त्येव, तदाऽऽरोहति भाव, यवत विशुद्धिस्थानानि विशेषाधिकानि । कथम् ? इति चेद् उच्यते—क्षपको यस्मात्क्षपकश्रेणिमारोहति न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य संक्लेशाभावात् अ । ।। विशुद्धिस्थानानि भवन्ति न संक्लेशस्थानानीति तैरभ्यधिकानि विशुद्धिस्थानानि । एव च स्थितेऽत्यन्त शुद्धो वर्तमान शुभप्रकृतीनां चतु स्थानिक रसमभिनिवर्तयति, अत्यन्तशुद्धस्तु बन्धमेव न मह

तयो बन्ध एव नागच्छति । या अपि वैक्रिय-तैजस-कार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्या सं
ष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात् सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं निर्वर्तयति । यदु
मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध
नैकस्थानिक, मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससम्भव इति ॥६

कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । सम्प्रति शुभाऽशुभरसस्यैव विशेष
किञ्चित् स्वरूपमाह—

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाण तु ॥ ६५ ॥

इहैवमक्षरघटना—'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभ, अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात
क इव ? इत्याह—'निम्बवत्' पिचुमन्दवद्, वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्य । तथा '
मानां' शुभप्रकृतीनां रस शुभ, शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'इक्षुवद्' इ
यष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाद् निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते—यथा निम्बरस एव इक्षुर
एव 'सहज' स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वि त्रि-चतुर्भागक
तैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थ ? द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वि-त्रि-चत्वार, ते च
भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागा, द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग् विभिन्न विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वि
त्रि-चतुर्भागक्वथितास्तेषाम् एक –एकसङ्ख्यो भागोऽन्ते–अवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वि-त्रि
चतुर्भागक्वथितैकभागान्त । स किम् ? इत्याह—एकस्थानिकादि, आदिशब्दाद् द्विस्थानि
त्रिस्थानिक-चतु स्थानिकरसपरिग्रह इत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-घोषातकी
प्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहज–अक्वथित कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्व
प्रमाण स्थाल्या क्वथितोऽर्द्धावर्तित कटुकतरो द्विस्थानिक, स एव भागत्रयप्रमाण स्थाल्
क्वथितस्त्रिभागान्त कटुकतमस्त्रिस्थानिक, स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतु
भागान्तोऽतिकटुकतमश्चतु स्थानिक । तथा इक्षु-क्षीरादीनां सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते
स एव सहजो भागद्वयप्रमाण पृथग्भाजने क्वथितोऽर्धावर्तितो मधुरतरो द्विस्थानिक, स ए
भागत्रयप्रमाण पृथक्स्थाल्या क्वथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिक, स एव भागचतु
प्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतु स्थानिक । एवमशुभानां प्रकृती
तादृशतादृशकषायनिष्पाद्य कटुक कटुकतर कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च, शुभप्रकृतीनां तु मधु
मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासङ्ख्यमेव द्वि-त्रि-चतु स्थानिको भवति । ए
च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभ शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे, स चैव विशिनष्टि—
यथा सर्वदेशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयव्यक्तिव्यक्तत्वाद् असङ्ख्येयानि भवन्ति
तत्र च सर्वजघन्यस्पर्धकरसस्येव निम्बाद्युपमा, तदनु चानन्तेषु रसपरिच्छेदेष्वधिकेषु तेषु तद
सर द्वितीयस्पर्धक भवति, एवमुत्तरोत्तरक्रमेण प्रवृद्ध-प्रवृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्धकान्यपि भवन्ति
एव शेषाशुभप्रकृतीनामपि द्वि त्रि-चतु स्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयव्यक्तिव्यक्तानि प्रत्येकमस
ङ्ख्येयानि भवन्ति, तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपरिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परम्परमनन्तगुणरसानि, अ

उत्तरोत्तरस्पर्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभाना द्वि त्रि चतु स्थानिका रसा इति । तथाहि—अशुभाना निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्माद् अनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिक, ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिक, तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतु स्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीना पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति । यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहित स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्धक एव द्रष्टव्य, तदुत्तरस्पर्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति, एतत् सर्वं पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम् । किञ्च केवलज्ञानावरणादिरूपाणां सर्वघातिनीना विंशतिसङ्ख्याना प्रकृतीना सर्वाण्यपि रसस्पर्धकानि सर्वघातीन्येव । देशघातिनीना पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीना रसस्पर्धकानि कानिचित् सर्वघातीनि, कानिचिद् देशघातीनि। तत्र यानि चतु स्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्धकानि तानि नियमत सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुन कानिचिद् देशघातीनि कानिचित् सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव । उक्त च—

यानि [सर्वघातीनि] रसस्पर्धकानि सकलमपि स्वघात्य ज्ञानादिगुण घ्नन्ति, तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवद् निश्छिद्राणि, घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीवनिर्मलानि । (   ) उक्त च—

जो घाएई नियगुण, सयल सो होइ सव्वघाइरसो ।
सो निच्छिद्दो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥ (पञ्चसं० गा० १५८)

यानि च देशघातीनि रसस्पर्धकानि तानि स्वघात्य ज्ञानादिगुण देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽप्यस्य क्षयोपशमसम्भवात्, तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसङ्कुलानि। तथाहि—कानिचित् कट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसङ्कुलानि, कानिचित् कम्बल इव मध्यमविवरशतसङ्कुलानि, कानिचित् पुनरतिसूक्ष्मविवरनिकरसङ्कुलानि यथा वासांसि, तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति वैमल्यरहितानि च । उक्त च—

देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥ (पञ्चसं० गा० १५९) इति ॥ ६५ ॥

प्ररूपित सप्रपञ्चमनुभागबन्ध । इदानीमुत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामिनो निरूपयन्नाह—

तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिग ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥ ६६ ॥

"इग" त्ति एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम आतपनाम इत्येतस्य प्रकृतित्रयस्य 'सुरमिच्छ' त्ति सुरा—देवा मिथ्यादृष्टय तीव्रमनुभागमुत्कृष्टानुभाग कुर्वन्तीति शेष । अत्र यद्यपि सामान्येनोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् सुरा ईशानान्ता एव द्रष्टव्या सनत्कुमारादिदेवाना, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतित्रयबन्धाभावात् । अथवापि

१ जो घायइ निजगुणं सकलं स भवति सर्वघातिरस । स निश्छिद्र स्निग्ध तनुक स्फटिकाभ्रहरविमल ॥ २ पञ्चसङ्ग्रहे तु "इ गईसाय सय इति पाठ ॥
३ देशविघातित्वादितर कटकम्बलांशुकसंकाश । विविधबहुच्छिद्रभृत अल्पस्नेहोऽविमलश्च ॥

चेशानान्तो देव एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभाग सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, आतपस्य तु तत्प्रा योग्यविशुद्ध इति द्रष्टव्यम् । इदं हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्धया उत्कृष्टरसं जन्यते । सोऽपि विशु द्धिर्यद्यधिकतरा गृह्यते तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य मनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नीयात्, न चातप तत्प्रा योग्यबन्धे बध्यते, एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादेवेत्यालोच्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणोपादानम् । आह पर —ननु भवत्वेव, किन्तु मिथ्यादृष्टिर्देव एवैतास्तिस्र उत्कृष्टरसा करोति नान्य इत्यत्र किं निबन्धनम् ? अत्रोच्यते—नारकाणां तावदेता एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात् तत्रोत्पत्त्यभावाद् बन्ध एवं नागच्छन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यास्तु यावत्या विशुद्धौ वर्तमाना अयमातपमुत्कृष्टरसं करोति तावत्यां विशुद्धौ वर्तमाना पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यमन्यत् किञ्चित् शुभतरमुपरचयेयु, यावति च संक्लेशे वर्तमानोऽपरेकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभाग बध्नाति तावति संक्लेशे स्थिता अमी नरकग तिप्रायोग्य निर्वर्तयेयु, देवास्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि भवप्रत्ययाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न तु नरकयोग्यमिति तिर्यङ्-मनुष्याणामपि प्रकृतकर्मत्रयोत्कृष्टानुभागबन्धकत्वासम्भव, सुरा अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्ययोग्यमेव बध्नन्तीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम् । तस्मादीशानान्ता मिथ्यादृष्टिर्देवा यदा आतपस्य सर्वलघ्वीं स्थितिमुपकल्पयन्ति तदा तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धा अस्योत्कृष्टानुभाग विदधति, यदा तूत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियजाति-स्थावरयो सर्वोत्कृष्टां स्थितिमुपरचयन्ति तदा तयोरुत्कृष्टानुभाग कुर्वत इति स्थितम् । तथा विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् विकल- त्रिक—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षण सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्मा ऽपर्याप्त-साधारणाख्य नरकत्रिकं— नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायु स्वरूपम्, आयु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् तिर्यगायुर्मनुष्यायु इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां कौलिकनलकन्यायेन मिथ्यादृष्टिशब्दस्येहाप्यनुकर्षणाद् मिथ्यादृष्टय तिर्यञ्चश्च नराश्च तिर्यग्-नरास्त एवोत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, न देवनारका इत्यर्थ । तथाहि— तिर्यङ्-मनुष्यायुर्वर्जा नवप्रकृतीर्भवप्रत्ययादेव नारका न बध्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषी अप्यत्र भोगभूमियोग्ये उत्कृष्टरसे प्रकृते अतस्ते अमी न बध्नन्ति, कुतस्तेषा तदनुभागबन्धसम्भव ? तस्माद् संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयस्तिर्यङ्-मनुष्या एतत्प्रायोग्यविशुद्धा एते आयुषी बध्नन्ति, नार कायुस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टरसं बध्नन्ति, अतिसंक्लिष्टस्यायुर्बन्धप्रतिषेधात्, नरकद्विक स्त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टा बध्नन्ति एकं द्वौ वा समयौ यावद्, उत्कृष्टसंक्लेशस्यैतावन्मात्रकालत्वा देव । शेषाणां तु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, सर्वसंक्लिष्टा ह्यमी अस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्य निर्वर्तयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति । तथा तिर्यग्द्विक- तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीस्वरूपं छेदपृष्ठसंहनना [illegible] प्रकृतित्रयस्य सुरा नारका वा अत्यन्तसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति । तिर्यङ्-मनुष्या [illegible] संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयु, न च तद्योग्या एता प्रकृतयो [illegible] इति [illegible] देव-नारकाणां ग्रहणम् । ते हि सर्वसंक्लिष्टा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति । इह च "ईसाणातो तिरियगतिदुगं" [illegible] सनत्कुमारादयो देवा

---

१ स० १-२ छा० 'बन्धदेव' ॥

उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न स्त्रीशानान्ताः, ते ह्यतिसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव विरचयेयुः, न च तद्योग्यमिदं बध्यत इति ॥ ६६ ॥

विउविसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच खवगा उ ॥ ६७ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गाख्यं, सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीस्वरूपम्, आहारकद्विकम्-आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं, सुखगतिः-प्रशस्तविहायोगतिः, वर्णचतुष्कं-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणं, "दसरकमणिन्दियाद्" इत्यादि चतुःशब्दस्य सम्बन्धात् तैजसचतुष्कं-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणाख्यं, जिननाम सातवेदनीयम् "समचउ" त्ति समचतुरस्रसंस्थानम् "परघ" त्ति पराघातनाम त्रसदशकं-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिस्वभावम्, "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः "सास" त्ति उच्छ्वासनाम उच्चैर्गोत्रम् इत्येतासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं यथासम्भवं 'क्षपकौ' सूक्ष्मसम्परायाऽपूर्वकरणलक्षणौ कुरुतः । अपूर्वकरणो मोहनीयमक्षपयन्नपि योग्यतया राज्यार्हकुमारराजवत् क्षपक उक्त इति द्रष्टव्यम् । तत्र सातवेदनीय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमान उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, स्वगुणस्थानशेषसमयेभ्योऽन्येभ्यश्च तद्बन्धकेभ्योऽस्यात्यन्तविशुद्धत्वादिति । शेषाणां त्वेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदसमये वर्तमानस्तीव्रमनुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥ ६७ ॥

तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥

तमस्तमा-अथ सप्तमनरकपृथिवी तदाधारा नारकास्तमस्तमकाः उच्यन्ते, एते उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारको यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणे स्थितो मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तत्र च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति, अन्तरकरणाद् अधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । स्थापना — । तत्र प्रथमस्थितेर्मिथ्यात्वसम्बन्धिन्याः चरमसमये उद्योतस्य तीव्रमनुभागं बध्नाति । स हि [illegible] करोति तद्बन्धकेषु स्वयमेव सर्वविशुद्धः [illegible] मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यं वा बध्नीयात् । [illegible] इति सप्तमपृथिवीनारकग्रहणम् [illegible] क्षेत्रानुभावत एव [illegible] मनुजद्विकं मनुजगति मनुजानुपूर्व्या [illegible] [illegible] सम्यग्दृष्टिसुरा [illegible] सम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्ध इति सम्यग्दृष्टि [illegible]

प्रकृतीरुपरचयन्ति, केवलं वेदनाभिहतविह्वलीकृतत्वात् अमरवत् महत्प्रभावातिशयवन्दनीयस्वर्गादि-समृद्धिसमुदायसन्दर्शन-तद्वचनश्रवण-नन्दीश्वरादिचैत्यदर्शनाद्यसम्भवाच्च तथाविधविशुद्ध्यसम्भवात् तेषामिहाग्रहणम्। तिर्यङ्मनुष्याणां पुनरतिविशुद्धानां देवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वात् तदयोग्यप्रस्तुतप्रकृतिबन्धासम्भव इति तद्व्युदासेन सुरग्रहणेनोपादानम्। तथा 'अपमत्त' अप्रमत्तयतिरमरायुरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अपरेभ्यो देवायुर्बन्धकमिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतादिभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति ।

तदेवं द्विचत्वारिंशतः पुण्यप्रकृतीनां चतुर्दशानां शुभप्रकृतीनां तीव्रानुभागबन्धस्वामिन उक्ताः । साम्प्रतं शेषाणामष्टपञ्चाशदशुभप्रकृतीनां बन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—"चउगइमिच्छा उ सेसाण" त्ति चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयः तु शब्दात् तीव्रोत्कटकषाया जीवाः 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽसातवेदनीय मिथ्यात्व-कषायषोडशक-नोकषायनवक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमान्तिमवर्जसंहननचतुष्का-ऽप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-उपघाता ऽप्रशस्तविहायोगति-अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा ऽनादेया ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशदशुभप्रकृतीनां तीव्रमुत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति। तत्र हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेद-प्रथमान्तिमवर्जसंस्थान-संहननलक्षणा द्वादश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाः षट्पञ्चाशत्प्रकृतीरुत्कृष्टतत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तास्तीव्रानुभागाः कुर्वन्ति। सर्वोत्कृष्टसंक्लेशो हि तावद् हास्य-रतियुगलमतिक्रम्य अरति शोकयुगलमेव रचयति, स्त्रीवेद-पुंवेदौ त्वतिक्रम्य नपुंसकवेदं निर्वर्तयति। संस्थान-संहननेष्वपि सर्वसंक्लिष्टो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके हुण्ड-सेवार्ते निर्वर्तयति। ततो विशुद्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके वामन-कीलिके रचयति, ततो विशुद्धतरः षोडशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके कुब्जा-ऽर्धनाराचे बध्नाति, ततोऽपि विशुद्धश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके सादि-नाराचे निर्वर्तयति, ततोऽपि विशुद्धो द्वादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके न्यग्रोधपरिमण्डल-ऋषभनाराचे उपकल्पयति, ततोऽपि विशुद्धो दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके समचतुरस्र-वज्रर्षभनाराचे बध्नाति । तस्मात् प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंस्थानचतुष्टयस्य तथा प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंहननचतुष्टयस्य चात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्ता अमी उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, हीनाधिकसंक्लेशेऽन्यान्यबन्धसम्भवात् तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति भावः । प्रथमा ऽन्तिमसंस्थान-संहननवर्जनं किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—हुण्डसंस्थानं तावत् "चउगइमिच्छा उ सेसाण" त्ति गाथावयवे एवाभिहितम्, समचतुरस्रसंस्थानं तु "विउविसुराहारदुग" (गा० ६७) इत्याद्यनन्तरगाथायां भावितम्, वज्रर्षभनाराचसंहननं तु "सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं" इत्यत्र निरूपितम्, सेवार्तसंहननं पुनः 'तिरिदुगछेवट्ठसुरनिरया" (गा० ६६) इत्यत्र भावितमिति पारिशेष्याद् मध्यमसंस्थानचतुष्टयं मध्यमसंहननचतुष्टयं च तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाश्चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो जीवा उत्कृष्टरसं कुर्वन्तीत्युक्तमिति ॥ ६८ ॥

अभिहिताः सर्वप्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः । इदानीं सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनश्चिन्तयन्नाह—

थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥

स्त्यानर्द्धि उपलक्षितं त्रिकं स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणम् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभाख्यं चतुष्कं मिथ्यात्वम् इत्येतासां सप्तानां प्रकृतीनां स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः "संजमुम्मुहु" त्ति सम्यक्त्वसंयमाभिमुख –सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सु 'मन्दरसं' जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायचतुष्कस्य-अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुख इत्यत्रापि योज्यम्, संयमाभिमुख –देशविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धत्वात्। तथा तृतीयकषायचतुष्कस्य-प्रत्याख्यानावरणकषायलक्षणस्य "देस" त्ति देशविरतः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुख – सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं करोति, तत्प्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धतरत्वात्। तथा 'पमत्त' प्रमत्तयतिः संयमोन्मुख –अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सु, अरतिश्च शोकश्चारति-शोकं तस्मिन् अरति-शोके अरतिशोकयोर्मन्दरसं विदधाति, इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभत्वात् सर्वविशुद्ध एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥ ६९ ॥

अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥

'आहारकद्विकं' आहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं न प्रमाद्यति इत्येवंशीलोऽप्रमादी-अप्रमत्तयतिः अनन्तरमेव प्रमत्तभावं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं-जघन्यरसं करोतीति यावत्। इदं हि प्रकृतिद्वयं शुभस्वरूपत्वात् संक्लिष्ट एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेवातिसंक्लिष्ट इति भावः। तथा 'दुनिद्द' त्ति द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रं-निद्रा प्रचलालक्षणं "सु" शोभनं "वन्न" त्ति वर्णचतुष्कं न सुवर्णम् असुवर्णम् अप्रशस्तवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णगन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थः, हास्यं रतिः "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा भयम् उपघातम् इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां "अपुव्व" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकापूर्वकरणः एकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यानुभागं बध्नाति। एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा 'पुरिस' त्ति पुरुषवेदः संज्वलनाः – क्रोध-मान-माया-लोभाश्चत्वारः इत्येतस्य प्रकृतिपञ्चकस्यैकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेद-समये "अनियट्टि" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकोऽनिवृत्तिबादरो जघन्यानुभागं निर्वर्तयति। एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥ ७० ॥

विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥

विघ्नानि-दान-लाभ भोग उपभोग-वीर्यान्तरायरूपाणि पञ्च, आवरणानि-मतिज्ञानाव

वरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव इत्येतासां चतुर्दशप्रकृतीनां "सुहुम" त्ति सामान्योक्तानपि क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यानुभागं बध्नाति । एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सूक्ष्मत्रिक-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणाख्यं, विकलत्रिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, "आउ" त्ति आयूंषि-देव-मनुष्य-तिर्यङ्-नारकायुर्भेदाच्चत्वारि, वैक्रियषट्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां षोडशप्रकृतीनां "मणुतिरिय" त्ति मनुशब्देन मनुष्या उच्यन्ते, ततो मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्यतिर्यञ्चो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति । *अत्र हि तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दशप्रकृतीर्देव-नारका भवप्रत्ययादेव* न बध्नन्ति । तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयमपि यदा जघन्यस्थितिकं बध्यते तदा जघन्यरसं क्रियते, देव-नारकास्तु तद् जघन्यं न बध्नन्त्येव, तत्स्थितिकेषु तेषामुत्पत्त्यभावात् । तस्माद् नैतत् प्रकृतिषोडशकं देव-नारका बध्नन्ति, अतस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव ग्रहणम् । तत्र नारकायुषोऽशुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा दशवर्षसहस्रलक्षणजघन्यस्थितिबन्धकाले जघन्यानुभागं तिर्यङ्-मनुष्याः कुर्वन्ति, शेषस्य त्वायुस्त्रयस्य शुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा आत्मीयात्मीयसर्वजघन्यस्थितिबन्धकालेऽमी जघन्यानुभागं रचयन्ति । नरकद्विकस्याशुभप्रकृतित्वाद् जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा एते जघन्यानुभागं विदधति । देवद्विकस्य शुभप्रकृतित्वाद् आत्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा अमी जघन्यानुभागं बध्नन्ति । अतिसंक्लिष्टो नरकादियोग्यं बध्नीयादिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वैक्रियद्विकस्यापि शुभप्रकृतित्वाद् नरकगतिबन्धसहितां सर्वोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तो जघन्यानुभागं निर्वर्तयन्ति । विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्त्वशुभप्रकृतित्वात् तत्प्रायोग्यविशुद्धा अमी सर्वजघन्यमनुभागं बध्नन्ति । अतिविशुद्धा मनुष्यादिप्रायोग्यं बध्नन्तीति तत्प्रायोग्यविशुद्धिग्रहणमिति । भाविता षोडश प्रकृतयः । तथा उद्योतम् औदारिकद्विकम्-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां "अमर निरय" त्ति सामान्यतोऽमरा -देवाः, निरया -निर्गतम् अयम्-इष्टफलं दैवं कर्म येभ्यस्ते निरया -नारकाः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानास्तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्तो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति, केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गमीशानादुपरितनाः सनत्कुमारादय एव देवा जघन्यरसं विदधति नैशानान्ताः, ते हि सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, एकेन्द्रियाणां चाङ्गोपाङ्गं न भवति, अत ईशानान्तदेवानां जघन्यरसाङ्गोपाङ्गनामबन्धासम्भवेन तज्जघन्यरसबन्धकत्वासम्भवः । भवत्वेवम्, किन्तु तिर्यङ्-मनुष्याः कस्मादिदं प्रकृतित्रयं जघन्यरसं न कुर्वन्ति ? इति अत्रोच्यते—एतत् प्रकृतित्रयं तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितं जघन्यरसं बध्यते, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव रचयन्तीति तेषामिहाग्रहणमिति ॥ ७१ ॥

१ छा० सं० १ सं० प्र० वर्जयित्वा ॥

[illegible]

तमस्तमा—सप्तमनरकपृथिवी तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमा, यद्वा तमस्तमो विद्यते येषां ते तमस्तमा "अभ्रादिभ्यः" (सिद्ध० ७–२–४६) इत्यमत्यय, सप्तमनरकपृथिवीनारका इत्यर्थ, जघन्यानुभाग कुर्वन्ति। तथाहि—कश्चित् सप्तमपृथिवीनारक सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये मिथ्यात्वस्य चरमपुद्गलान् वेदयन् प्रकृतित्रयस्य जघन्यानुभाग बध्नाति, अस्य हि प्रकृतित्रयस्याशुभत्वात् सर्वविशुद्धो जघन्यानुभाग करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति सम्यक्त्वाभिमुखादिविशेषणोपादानम्। अन्यस्थानवर्ती त्वेतावस्था विशुद्धो वर्तमान उच्चैर्गोत्र मनुष्यद्विकादियुक्त बध्नीयादिति सप्तमपृथिवीनारकस्यैव ग्रहणम्। अस्या हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययादेव नीचैर्गोत्रमनुष्यरहितस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य एव बन्धो भवतीति। तथा "जिण" त्ति जिननाम तीर्थकरनामकर्मेत्यर्थ "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टि सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् अविरतसम्यग्दृष्टि नरके बद्धायुष्को नरकोत्पत्त्यभिमुखोऽनन्तरमेव मिथ्यात्व प्रतिपित्सुर्मनुष्यस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा। इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्तगा अनुभागबन्धका भवन्ति, किन्तु जघन्यानुभाग शुभप्रकृतीनां संक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति। तत्र तिर्यक्षु तीर्थकरनाम्न पूर्वप्रतिपन्ना प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययतो न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम्। बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरके न व्रजतीति पूर्वं नरके बद्धायुष्कस्य ग्रहणम्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिद् नरके व्रजति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेन जघन्यानुभागाबन्धकत्वात् तस्यैव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते। अतस्तीर्थकरनामकर्मजघन्यस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति।

तथा "निरय विणिगथावरय" ति 'निरयान्' नारकान् 'विना' वर्जयित्वा शेषा निरवशेषा ये जीवा "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम इत्येतत्प्रकृतिद्वयस्य सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यानुभाग बध्नन्ति। इद हि प्रकृतिद्वयमशुभम्, तत्रातिसंक्लिष्टो ह्यनयोरुत्कृष्टानुभाग बध्नाति, अतिविशुद्धस्तु तदुत्कृष्टानुभागे पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम्नी बध्नातीत्यतो मध्यमपरिणामग्रहणम्। अथ च मध्यमपरिणामो यदैकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते एकेन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नी बद्ध्वा पुनर्द्वितीयेऽन्तर्मुहूर्ते ते एव बध्नाति तदापि भवति केवल तदाऽवस्थितपरिणामे तद्बन्ध। विशुद्धिन लभ्यते इति मध्यमपरिणामस्यापि परावर्तमानत्वविशेषणम्। इदमुक्त भवति—यदैकेन्द्रियजाति-स्थावरे बद्ध्वा पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी बध्नन्ति, ते अपि बद्ध्वा पुनरेकेन्द्रियजाति-स्थावरे बध्नन्ति, तदैव

परावृत्य परावृत्य बध्नन् परावर्तमानमध्यमपरिणाम तत्प्रायोग्यविशुद्ध प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य जघन्यानुभाग बध्नाति भवत्वेवम्, तत्रापि नारकवर्जन किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—नारकाणा स्वभावादेव प्रस्तुत प्रकृतिद्वयबन्धकत्वासम्भवादिति ।

तथा "आसुहमायव" त्ति सुधर्मा नाम सभा विद्यते यत्र स सौधर्म, "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सिद्ध० ७–२–३४) इत्यण्प्रत्यय, इह च सौधर्मग्रहणेन समश्रेणिव्यवस्थितत्वाद् ईशानोऽपि गृह्यते, ततश्च भवनपत्यादय ईशानपर्यन्ता देवास्तद्बन्धकेषु सर्वसक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन्त आतपनाम जघन्यानुभाग बध्नन्ति । अस्य हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वसक्लिष्ट एव जघन्यानुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेषु चैत एव सर्वसक्लिष्टा लभ्यन्ते, तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति सक्लेशे वर्तमाना नारकादिप्रायोग्य रचयेयु, नारका सनत्कुमारादिदेवाश्च भवप्रत्ययादेव तद् न बध्नन्तीति दोषपरिहारेण यथोक्तदेवानामेव ग्रहणम् ।

तथा सातवेदनीय स्थिरनाम शुभनाम यश कीर्तिनामेत्येताश्चतस्र प्रकृती 'सेतरा' सप्रतिपक्षा असातवेदनीया-ऽस्थिरा ऽशुभा-ऽयश कीर्तिनामसहिता सर्वा अष्टौ प्रकृती "सम्मोव" त्ति सम्यग्दृष्टि, वाशब्दात् मिथ्यादृष्टिर्वा, सामान्योक्तावपि परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागा करोति । कथम् ? इति चेद् उच्यते—इह पूर्वं सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरभिहिता, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय, तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थिति बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तात् परावृत्य सात बध्नाति, पुनरप्यसातमिति । एव देशविरता ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य साता ऽसाते बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टि साता ऽसाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीरूपा ज्येष्ठा स्थिति, तत परतोऽपि संक्लिष्ट संक्लिष्टतर संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवल तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय, प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्धतरा सातमेव केवल बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ता, तदेवमन्त स्थिते सातस्य सर्वान्तपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणाया स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्य परावृत्य बध्नन्ते जघन्यानुभागबन्धोचित परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्थानेऽन्त सागरोपमकोटीकोटीलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थिति । एतेषु हि सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिसम्बन्धिषु स्थितिस्थानेषु प्रकृते प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्द परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते, नान्यत्र । तथाहि—येऽप्रमत्ताद्य सातमेव केवल बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूतमनुभागमुत्पादयन्ति, येऽपि मिथ्यादृष्टि सातस्योत्कृष्टा स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुपबध्नन्ति तेऽत्यन्तसक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतरसमभिनिवर्तयन्ति, सागरोपमसप्तभागत्रयादिस्थितयस्तु एकेन्द्रियादयोऽपि जघन्यानुभागबन्धो न सम्भवति, तथाविधाध्यवसायाभावात्, तस्माद् यथोक्तस्थितिष्वेव जघन्यानुभागबन्धसम्भव, तथाविधपरिणामसद्भावादिति ।

स्थिरा ऽशुभा ऽयश कीर्तीना विंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता । स्थिर-शुभ-

1 छ० १-म० इत्नी ॥

यश कीर्तीनां तु दशसागरोपमकोटीकोट्य । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिरा ऽशुभा ऽयश कीर्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्त सागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिं बध्नाति। ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् विशुद्ध पुनरपि स्थिरादिका प्रतिपक्षभूता बध्नाति, तत पुनरप्यस्थिरादिका इति। एव देशविरता ऽविरत मिश्र-सास्वादन मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्याऽस्थिरा शुभा-ऽयशकीर्ति-स्थिर शुभ-यश कीर्तीर्बध्नन्ति। तत्र च मिथ्यादृष्टि स्थिर शुभ-यश कीर्तीरस्थिराऽशुभा ऽयश कीर्तीश्च परावृत्य तावद् बध्नाति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थिति एतेषु च सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र दशसागरोपमकोटीकोटीपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभा प्रकृतयो बहुरसा बध्यन्ते। अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धा स्थिरादिका शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निवर्तयन्तीति नान्यत्र जघन्यानुभाग आसा लभ्यत इति शेष । भावना तु सातवद् बोद्धव्येति ॥ ७२ ॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७१ ॥

चतु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् त्रसचतुष्क–त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येकाख्य, वर्णचतुष्क–वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिध तैजसचतुष्क–तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु निर्माणलक्षण, द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् मनुजद्विक–मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूप खगतिद्विक–प्रशस्तविहायोगति अशुभविहायोगतिरूप, पञ्चेन्द्रियजाति उच्छ्वासनाम परापातनाम उच्चग्–उच्चैर्गोत्र संहननानि–वज्रर्षभनाराच ऋषभनाराच-नाराचा ऽर्धनाराच-कीलिका सेवार्तलक्षणानि षट्, आकृतय–आकारा संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन कुब्ज हुण्डलक्षणानि षट्, "नपु" त्ति नपुंसकवेद "थी" ति स्त्रीवेद, त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुभगत्रिक–सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयलक्षणम्, 'इतरत्रिक' दुर्भगत्रिक–दुर्भग-दु स्वरा ऽनादेयलक्षणम्, इत्येतासां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां "मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका जघन्यानुभाग कुर्वन्ति।

इह सामायोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् पञ्चेन्द्रियजाति तैजस-कार्मण प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस स्पर्शा ऽगुरुलघु-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि जीवा मिथ्यादृष्टय सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन जघन्यानुभाग कुर्वन्ति। एता हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेर्जघन्यरसा क्रियन्ते। तत्र च तिर्यङ्-मनुष्या सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसा कुर्वन्ति। नारका देवाश्चेशानादुपरिवर्तिन सनत्कुमारादय सर्वसंक्लिष्टा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योग्या एता बध्नन्तो जघन्यरसा कुर्वन्ति ईशानान्तास्तु देवा सर्वसंक्लिष्टा एकेन्द्रियजाति त्रसवर्जा शेषाश्चतुर्दश प्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा निर्वर्तयन्ति। पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम्नी तु विशुद्धा अमी बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यत इति तद्वर्जनम्। स्त्रीवेद-नपुंसकवेदलक्षणप्रकृतिद्वयस्य चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जीवा अशुभत्वाद् एतत्प्रकृतिद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा जघन्यानुभाग रचयन्ति। अतिविशुद्ध पुरुषवेदबन्धक स्यादिति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति।

मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क विहायोगतिद्विक-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-दुर्भग-दु स्व

रा-ऽनादेय-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो मध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति, सम्यग्दृष्टीनां ह्येतासां परावृत्तिर्नास्ति, तथाहि—तिर्यङ्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो देवद्विकमेव बध्नन्ति, न मनुष्यादिद्विकानि, संस्थानेषु तु समचतुरस्रमेव रचयन्ति, संहननं तु किञ्चिदपि न बध्नन्ति, तथा शुभविहायोगति सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्राण्येव बध्नन्ति न प्रतिपक्षान्। देवा नारका अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्यद्विकमेव बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकादिकम्, संस्थानेषु तु समचतुरस्रसंस्थानमेव, संहननेषु पुनर्वज्रर्षभनाराचसंहननमेव, विहायोगत्यादिका अपि शुभा एव बध्नन्ति न प्रतिपक्षा इति, तेषां परावृत्त्यभावाद् मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तत्र मनुष्यगतिद्विकस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः उत्कृष्टा स्थितिः, प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वराऽऽदेय-उच्चैर्गोत्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानानां तु दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। एताः शुभप्रकृतय आत्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह तावत् परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, यावत् तासामेव प्रतिपक्षप्रकृतीनां सर्वजघन्याऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिः। एतेषु स्थितिस्थानेषु परावर्तमानमध्यमपरिणाम एतासां जघन्यानुभागं बध्नाति। हुण्ड-सेवार्तयोरपि वामन-कीलिकयोरुत्कृष्टस्थितेरारभ्य तावत् परावृत्तिर्लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः। शेषसंस्थान-संहननानामप्यात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य सम्भवदितरसंस्थान-संहननैः सह परावृत्तिस्तावद् लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः। एतेषु स्थितिस्थानेषु मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागं बध्नातीति ॥ ७३ ॥

प्ररूपिताः सप्रपञ्चं जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः। साम्प्रतमनुभागबन्धमेव मूलोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भङ्गकैर्विचारयन्नाह—

चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥

इह मन्दमतिलाघवार्थं यथातथा प्रकृतयो भङ्गकैर्विचार्यन्ते। तत्र चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तैजसचतुष्क—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु निर्माणलक्षणं, वर्णचतुष्कम्—अत्रेऽप्रशस्तस्य वक्ष्यमाणत्वादिह प्रशस्तं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं गृह्यते इति, एतासामुत्तरप्रकृतीनामष्टानामनुत्कृष्ट, "इमो चउह" त्ति पदं सर्वत्र योजनीयम्, अयमनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा वेदनीय-नाम्नोर्मूलप्रकृत्योरनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा "सेसधुवबंधि" त्ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततो भणितशेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघाता-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्रलाभादिगुणान् घ्नन्तीत्येवंशीलानि घातीनि—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायाणि तेषामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि द्विविधोऽनुत्कृष्टो ऽजघन्यश्चायं बन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवतीत्यक्षरार्थः।

[illegible] सर्वविशुद्धः [illegible] भवति । तथाहि— [illegible] कृत्वा यावत् [illegible] तथा [illegible] कृत्वा यावत् [illegible] संगृहीता । [illegible] क्षपकश्रेणिं [illegible] सर्वविशुद्ध [illegible] [illegible] सर्वे [illegible] सादि, [illegible] [illegible] तथा [illegible] प्रतिनिबन्धु [illegible] भवति, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवः भव्यानाम् । [illegible] बन्ध । [illegible] उत्कृष्ट [illegible] भवतीत्यर्थः । तथाहि—अन्य [illegible] क्षपकसूक्ष्मसम्परायो दीर्घ , स च तद्समयतया बध्यमा [illegible] च [illegible] भवतीत्यध्रुवः । जघन्यानुभाग [illegible] जघन्य [illegible] बध्नाति । पुनरपि जघन्य [illegible] बध्नाति, पुनः कालान्तरे [illegible] प्राप्य [illegible] अध्रुवतामनुभवति ।

तथा 'वर्णचतुष्केषु' इति वेदनीय-नामगोत्राणामनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः सादिचतुर्विकल्पो द्रष्टव्य इति । तथाहि—आद्ये कर्मणी सातयशःकीर्तिलक्षणे तदन्तर्गत प्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टस्तस्य क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्य सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि अनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धो भवति, ततश्चोपशान्तमोहादावबन्धकः सर्वथा न भवतीति तत्र प्रतिपतितस्य पुनर्बध्यमानोऽनुभाग सादि, उपशान्तमोहादावबन्धकः स्थानमप्राप्तस्यानादि, अनादिकालाद् बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यवसानत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यवसानत्वादिति । भावितो वेदनीयनामगोत्राणामनुत्कृष्टो बन्ध । "शेष तु वा साता " इत्याह—"सेसम्मि दुहा" ति एतत् पद पूर्व सम्बन्धितमप्याहृत्यात्रापि सम्बध्यते । तत शेषे-भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या ऽजघन्यरूप अनुभागत्रिके द्विप्रकार सादिध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—उत्कृष्टमनुभागबन्ध वेदनीय नाम्नोरन्त्यसमये सम्प्रति वक्ष्यमाणविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम् । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि, क्षीणमोहावस्थायां तु नियमाद् न भविष्यतीत्यध्रुव । जघन्यानुभाग त्वनयो कर्मणो सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति, सर्वविशुद्धो हि नरकगतिप्रायोग्याणां सातयश:कीर्त्यादिलक्षणशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरूप शुभरसं कुर्यात्,

१ डा० सर्वानुकृष्ट० ॥

सर्वनिकृष्टस्वभाव-नरकगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपमनुभवं कुर्यादिति मध्यमपरिणाममहान्। [illegible] च जघन्यानुभागोऽजघन्याद् अनन्तरं बध्यत इति सादिः, पुनर्जघन्यं मन्दपरिणामादुत्कृष्ट[illegible] [illegible]नन्तरमुत्पाद्य जघन्यानुभागं बध्नतो जघन्योऽध्रुवोऽजघन्यस्तु सादिः, पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा जघन्यं बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येवं जघन्याऽजघन्यानुभागबन्धयोः परिभ्रमतामनुभागयो[illegible] [illegible]न्यत्र साद्यध्रुवत्वेव भवतीति।

तथा 'सेसचउदसवि' त्ति शेषचतुर्दशानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-अशुभवर्णादिचतुष्क-अन्तरायपञ्चक-उपघातरूपाणां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथाहि—मति-श्रुत-अवधि-[illegible] केवलावरणपञ्चक-चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शनावरणचतुष्क-अन्तरायपञ्चक[illegible] [illegible] चतुर्दशप्रकृतीनां तावद् [illegible] सूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यानुभागं बध्नाति, [illegible] सर्वोत्कृष्टविशुद्धिमानिति कृत्वा। ततोऽन्यः सर्वोऽपि उपशमश्रेणावजघन्य[illegible] [illegible], स [illegible] सर्वथा न भवति, तस्मादिति प्रतिपतत्य बध्यमानः सादिः भवति, [illegible] [illegible]नादिः ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। [illegible] [illegible] सकलानि [illegible] यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये एकैकं समयं जघन्यानुभागं [illegible]। [illegible], तस्य चोपशमश्रेणौ [illegible] कृते प्रतिपतत्य पुनस्तस्य [illegible] [illegible] बध्यमानादिरम्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानाम् [illegible] [illegible]-भय-जुगुप्सारूपाणां नवप्रकृतीनां [illegible] [illegible] एकं समयं जघन्यमनुभागं बध्नाति। ततोऽन्य सर्वोऽ[illegible] [illegible] कृत्वा प्रतिपतत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादिः, [illegible] [illegible], ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति। [illegible] [illegible] [illegible]सम्यक्त्वाभिमुखोऽत्यन्तविशुद्धः [illegible] चरमसमये [illegible] बध्नाति। [illegible] पुनः [illegible] पूर्वं [illegible]। [illegible] [illegible] संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुरत्यन्तविशुद्ध [illegible] [illegible] जघन्यानुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। [illegible] [illegible] [illegible] प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं संयमं [illegible] [illegible] चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति, [illegible] [illegible] [illegible] सर्वोऽप्य[illegible] बध्नाति। [illegible] गुणस्थानं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बध्नाति। [illegible] [illegible] भवतीति।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

भागोऽपि सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु स्थानो निर्दिष्ट । स च तत्र तत्र तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहादुपरितनावस्थासु बन्धस्य न भवतीत्यध्रुव । उत्कृष्टस्त्वनुभागमासां चतसृणामपि प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति एकं द्वौ वा समयौ यावत्, ततः परं पुनरनुत्कृष्टं बध्नाति, कालान्तरे च पुनरुत्कृष्टसंक्लेशभावाद् उत्कृष्टानुभागम् इत्येवमेतेषूत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागेषु संसरतां जन्तूनामुभयत्रापि साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरद् विकल्पद्वितयमपि ।

तदेवं जघन्यादिषु चतुर्ष्वपि भेदेषु साद्यादिभङ्गकाश्चिन्तिता । सम्प्रत्यध्रुवबन्धिनीनां तेषु तावद्—'सेसम्मि दुहा' त्ति शेषे अभिहितोद्धरितोत्तरप्रकृतिवृन्देऽध्रुवबन्धिनीप्रकृतिकदम्बके त्रिसप्ततिसङ्ख्ये उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो जघन्योऽजघन्यश्चानुभागबन्ध 'द्विधा' द्विप्रकार सादिरध्रुव एव भवति । प्रकृतय एव यता अध्रुवबन्धित्वात् साद्यध्रुवा, ततस्तदनुविधायी जघन्यादिरूप, तदनुभागोऽपि यथोक्त एव भवति, न त्वनादिध्रुवो वेति । तथा 'घातिनां' घातिकर्मणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायलक्षणानां चतुर्णामजघन्योऽनुभाग साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथाहि—अशुभप्रकृतीनां सर्वजघन्य शुभप्रकृतीनां तु सर्वोत्कृष्टमनुभाग य कश्चित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध स एव निर्वर्तयति । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायलक्षणकर्मत्रयस्याशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यरसं निर्वर्तयति, तद्बन्धकेष्वयमेवातिविशुद्ध इति कृत्वा । मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिबादरमेव यावद् बन्धो भवतीति स एव क्षपकश्चरमसमयेऽस्य जघन्यरसमनुपकल्पयति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । इत स्थानादन्यत्र सर्वत्रोपशमश्रेणावपि प्रकृतकर्मचतुष्टयस्यानुभागोऽजघन्य एव बध्यते, उपशमकानामपि क्षपकेभ्यो विशुद्ध्याऽनन्तगुणहीनत्वात् । ततश्चोपशान्तमोह सूक्ष्मसम्परायश्च यथानिर्दिष्टप्रकृतकर्मचतुष्टयसम्बन्धिनोऽजघन्यानुभागस्याबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तं बध्नाति तदाऽयमजघन्यानुभाग सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदे कृते तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । यैस्तूपशान्तमोहाद्यवस्था नाद्यापि प्राप्ता तेषामनादिकालादारभ्याविच्छिन्नं बध्यमानत्वाद् अनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानाम् ।

तदेवं घातिकर्मणामजघन्योऽनुभागो भावित । शेषत्रिके तु किम्? इत्याह—"सेसम्मि दुह' त्ति शेषे जघन्य उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टलक्षणेऽनुभागत्रिके 'द्विधा' द्विविकल्प सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावद् जघन्यानुभाग क्षपकानिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्त, शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽसावुक्त । स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमानत्वात् सादि, क्षीणमोहाद्यवस्थायां च प्राप्तस्य नियमात्तु भविष्यतीति अध्रुव । अनादिस्तु न भवति, पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धासम्भवात् । ध्रुवोऽप्यसौ न भवति, अभव्यानां तद्बन्धस्य दूरोत्सारितत्वादिति । उत्कृष्टानुभाग तु प्रस्तुतकर्मणामशुभत्वात् सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टि पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नाति, न परत । स चानुत्कृष्टाद्वर्तीय बध्यत इति सादि । जघन्येन समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात् पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्ध गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो

भवति, अनुत्कृष्टस्तु सादि । पुनरपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेनोत्कृष्टतस्त्वनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभिरुत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवता भजनीत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति ।

तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि 'द्विविध' अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च तद्बन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथा "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्योत्कृष्टभेदद्वये 'द्विधा' द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो भवति । तत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टावनुभागबन्धौ यथाक्रमं द्वि-चतुर्विकल्पौ यथा वेदनीय-नाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ । इदानीं जघन्या-ऽजघन्यौ भाव्येते—तत्र कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽधस्तनी शेषा तूपरितनी, स्थापना □ । तत्र चाधस्तनीं स्थितिं प्रतिसमयं वेदयन् यस्मादनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्राप्स्यति, तत्र □ चरमसमये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति । अन्यस्थानवर्ती हेतावत्या विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तमपृथिवीनारकस्य ग्रहणम् । अयं हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययेनैव तिर्यक्प्रायोग्यं नीचैर्गोत्रं च बध्नाति । तचान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्तसम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याजघन्यानुभागं बध्नातीति तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणम् । अयं च जघन्यानुभागस्तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि, लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य अजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुव, अजघन्यानुभागस्तु सादि, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादि, अभव्यानां ध्रुव, भव्यानामध्रुव इति जघन्या ऽजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणो यथोक्तद्वि-चतुर्विकल्पाविति ।

"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितमूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभ्योऽवशिष्टे आयुषि नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्भेदाच्चतुर्विधे जघन्या ऽजघन्य-उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धचतुष्केऽपि 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवबन्धलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वात् सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम्, अन्तर्मुहूर्तोर्ध्वं परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति । भाविता अनुभागबन्धमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतीराश्रित्य भङ्गका इति । अनुभागबन्धः समाप्तः ॥७४॥

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसर, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धाना सम्बन्धिनो जीवेन आत्मसात् क्रियन्ते, अतः कर्मवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम् । तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते सति ज्ञातुं शक्यम्, अत प्रसङ्गेन शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम् । शेषा पुनरौदारिकाद्या, ताश्च ग्रहणप्रायोग्या अग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुक-द्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणापर्यवसाना वर्गणा भवन्तीत्यद्रव्यसमुदायरूपा निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा (अनुभागबन्ध) इगदुगणुगाइ जा अभवणन्तगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

'सेसम्मि दुह" त्ति पदं अनुभागबन्धाधिकारे बहुभिः प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्ध

समर्थित । अणुकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, तत्र एकोऽणुरेवाणुकः परमाणुरित्यर्थः, एकोऽणुको यत्र स एकाणुकः, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुकः, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषां स्कन्धानां ते एकाणुकद्व्यणुकादयः "मयूरव्यंसकेत्यादयः" (सिद्ध० ३-१-११६) इति मध्यमपदलोपी समासः, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् । किमवसाना ? इत्याह—"ना अभवणंत" इत्यादि । यावद् इत्यव्ययं पर्यवसानार्थे, अभव्येभ्योऽनन्तगुणिता, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषां तेऽभव्यानन्तगुणिताणवः । गमकत्वात् समासः । 'स्कन्धाः' द्विपरमाण्वादिरूपाः । अयमर्थः—एकाणुकद्व्यणुकादयः स्कन्धाः एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावज्ज्ञेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवम्भूताः । किम् ? इत्याह—औदारिकोचितवर्गणा भवन्ति । तत्रोदाराः—स्फारतामात्रसाराः वैक्रियादिशरीरपुद्गलापेक्षया स्थूला इत्यर्थः, तैरित्थम्भूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, तस्यौदारिकस्य निष्पत्तौ कर्तव्यायामुचिताः—योग्या औदारिकोचिताः, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमुदायरूपा औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदाय सजातीयत्वाद् एका वर्गणा, एवं द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वाद् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयसमुदायरूपाः स[ङ्ख्याता] वर्गणाः, असङ्ख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणुवृद्धानामसङ्ख्येया वर्गणाः, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणाः, अनन्तानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानामनन्ता [illegible], ताश्च अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाद् जीवाना ग्रह[णं] न सम[ा]गच्छन्तीत्यग्रहणवर्गणा एता सर्वा अप्युच्यन्ते । एताश्च सर्वा समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नैः स्कन्धैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा भवन्ति । तत आरभ्य एकैकपरमाणुवृद्धस्कन्धारब्धा औदारिकशरीरयोग्योत्कृष्टवर्गणा यावदेता अपि जघन्योत्कृष्टमध्यवर्तिन्योऽनन्ता वर्गणा भवन्ति यतो जघन्याया सकाशाद् उत्कृष्टा अनन्तभागाधिकत्वं वक्ष्यते अनन्तभागश्चानन्तपरमाणुमयः तत एकाद्युत्तरवृद्ध्या [illegible] मध्यवर्तिनीनामानन्त्यं न विरुध्यते । [illegible]

[illegible] अग्रहणान्तरिता अग्रहणवर्गणा [illegible] —

औदारिक[illegible]

[illegible] द्विपरमाण्वाधिक[illegible]

परमाण्वाधिकस्क[illegible]

जघन्यायाश्च वर्गणा [illegible]

गुण सिद्धानन्तभाग[illegible]

प्रभूतपरमाणुनिष्पन्न[illegible]

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

'एवमेव' वकारलोपः "यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" (सिद्ध० ८-१-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण, पूर्वोक्तौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्याऽग्रहणप्रायोग्यवर्गणान्यायेन वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कर्मविषया वर्गणा भवन्ति । तत्र विविधा-नानाप्रकारा क्रिया-विक्रिया, तथा च तद्धेतुभूतायाः क्रियायाः वैक्रियसमुद्घातकरण-दण्डनिसर्गादिविधिश्च प्रज्ञापनादिषु निर्दिष्ट एव, औदारिकाद्यपेक्षया वा विशिष्टा विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियं शरीरम् । तथाऽपूर्वार्थग्रहणादिनिमित्तमुत्कृष्टतो हस्तप्रमाणं चतुर्दशपूर्वविदा आह्रियते-गृह्यते यत् तद् आहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध० ५-१-२) इति कर्मणि णक यथा पादहारक इत्यादौ, यद्वा आह्रियन्ते-गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था केवलिसकाशेऽनेनेति निपातनादाहारकम् । तथाऽऽहारपाककारणभूतास्तेजोनिसर्गहेतवश्चोष्णाः पुद्गलास्तेज इत्युच्यन्ते, तेन तेजसा निर्वृत्तं तैजसं शरीरं सूक्ष्मादिलिङ्गगम्यम् । तथा भाष्यते भाषा । तथा [illegible]-उच्छ्वासनिःश्वासः । तथा मन्यते-चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मनः । तथा कर्मणा-[illegible] निर्वृत्तं कार्मणम्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां [illegible] । ततो वैक्रियादिनिष्पत्तियोग्या पुद्गलवर्गणा अपि वैक्रियादि [illegible], तद् ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुक दलिकमपि कार्मणवर्गणेति । [illegible] वैक्रियं चाऽऽहारकं च तैजसं च भाषा चाऽऽनापानश्च मनश्च कार्मणं चेति समाहारद्वन्द्व[illegible] वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणे । एता वैक्रियाद्या वर्गणा अग्रहण[illegible] मार्गणीयाः ।

[illegible]—[illegible] यतः पूर्वमौदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणाम[illegible] [illegible] उक्ता तत्र वैक्रियं प्रति स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वात् स्थूलपरिणाम[illegible] [illegible] वर्गणा वैक्रियस्य । ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया य एकपरमाणु[illegible] [illegible] वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धात्मिका [illegible] वैक्रिय[illegible] ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धात्मिका वैक्रिय[illegible] [illegible] वर्गणा यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्य[illegible] [illegible], एवं सर्वत्र । वैक्रियग्रहणोत्कृष्टवर्गणापेक्षया य एकपरमाणु[illegible] [illegible] जघन्या अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धात्मिका द्वितीया [illegible] अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा[illegible] [illegible] । [illegible] सूक्ष्मपरिणाम[illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] । [illegible]

तत आहारकतैजसयोरन्तराले द्वयोरयोग्या जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्यायाः उत्कृष्टान्ता एता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्या । तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धारब्धा तैजसशरीरनिष्पादनप्रगुणा जघन्या तैजसशरीरवर्गणा, जघन्यायाः उत्कृष्टां यावद् एता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः । तदुपरि चैकैकोत्तरपरमाण्वारब्धा स्कन्धा मातुमर्हारेव तैजस-भाषयोरन्तरालवर्तिन्यो अग्रहणवर्गणा वाच्या । तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या भाषावर्गणा, या भाषार्थं जीवोऽवलम्बते, यां च गृहीत्वा चतुर्विधभाषात्वेन परिणमय्य विसृजतीति भाव, जघन्यायाः उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता ज्ञेया । तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्यायास्तु उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेया । तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या आनप्राणवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा आनापानभावं नयति, जघन्यायाः उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्या । ततस्तदुपरि द्व्यादिकोत्तरस्कन्धारब्धा जघन्याया उत्कृष्टान्ता अनन्ता एवाग्रहणवर्गणा वाच्या । तदुत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूप प्रक्षिप्ते जघन्या मनोनिष्पत्तिहेतुमनोवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा जीवः स्वान्तःप्रविष्टचतुर्विधमनोयोग्यभावेन परिणमय्य चिन्तयति, जघन्यायाः उत्कृष्टान्ता एता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेया । ततस्तदुपरि एकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा जघन्याया उत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता अग्रहणवर्गणा । तत उत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूप प्रक्षिप्ते जघन्या ज्ञानावरणादिहेतुभूता कार्मणवर्गणा भवति, जघन्यायाः उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्या । अत्रौदारिकादिवर्गणा आदौ कृत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा अग्रहण-ग्रहणा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा स्थापनया दर्श्यन्ते—

औदारिक अग्रहणवर्गणा १	औदारिक ग्रहणवर्गणा २	अग्रहणवर्गणा ३	वैक्रियग्रहणवर्गणा ४	अग्रहणवर्गणा ५	आहारकवर्गणा ६	अग्रहणवर्गणा ७	तैजसग्रहणवर्गणा ८
३ स्कन्धानि	६ स्कन्धानि	९ स्कन्धानि	१२ स्कन्धानि	१५ स्कन्धानि	१८ स्कन्धानि	२१ स्कन्धानि	२४ स्कन्धानि
२ स्कन्धौ	५ स्कन्धानि	८ स्कन्धानि	११ स्कन्धानि	१४ स्कन्धानि	१७ स्कन्धानि	२० स्कन्धानि	२३ स्कन्धानि
१ स्कन्धम्	४ स्कन्धानि	७ स्कन्धानि	१० स्कन्धानि	१३ स्कन्धानि	१६ स्कन्धानि	१९ स्कन्धानि	२२ स्कन्धानि

अग्रहणवर्गणा ९	भाषाग्रहणवर्गणा १०	अग्रहणवर्गणा ११	आनप्राणग्रहणवर्गणा १२	अग्रहणवर्गणा १३	मनोग्रहणवर्गणा १४	अग्रहणवर्गणा १५	कार्मणग्रहणवर्गणा १६
२७ स्कन्धानि	३० स्कन्धानि	३३ स्कन्धानि	३६ स्कन्धानि	३९ स्कन्धानि	४२ स्कन्धानि	४५ स्कन्धानि	४८ स्कन्धानि
२६ स्कन्धानि	२९ स्कन्धानि	३२ स्कन्धानि	३५ स्कन्धानि	३८ स्कन्धानि	४१ स्कन्धानि	४४ स्कन्धानि	४७ स्कन्धानि
२५ स्कन्धानि	२८ स्कन्धानि	३१ स्कन्धानि	३४ स्कन्धानि	३७ स्कन्धानि	४० स्कन्धानि	४३ स्कन्धानि	४६ स्कन्धानि

१ सं० १-२ प्र० ग० "मनोभाव" ॥

एवमेता औदारिकाद्या कार्मणवर्गणावसाना वर्गणा प्ररूपिता । इत ऊर्ध्वमन्यत्र कर्मप्र[illegible]
दिष्वन्या अपि ध्रुवाऽचित्ताद्या वर्गणा निरूपिता, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्ता, तत
पर्तव्या, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् प्रस्तुतप्रारम्भस्येति ।

उक्ता वर्गणा, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिता, अत 'कियन्मात्र क्षे[illegible]
व्याप्नुवन्ति' इत्याह—"सुहुमा कमा" इत्यादि । एता औदारिकाद्या वर्गणा 'क्रमात्' क[illegible]
उत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्या । अयमर्थ —प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सू[illegible]
ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततो वैक्रियस्य ग्र[illegible]
[illegible]णा सूक्ष्मा, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । तत आहारकग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, त[illegible]
[illegible]वर्गणा सूक्ष्मा । ततस्तैजसग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा ।
[illegible]ग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । तत आनापानग्रहणवर्गणा सू[illegible]
[illegible]ग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततो मनोग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सू[illegible]
। [illegible] कार्मणग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा इति । "अवगाहो ऊणूणगुलअसंखंसो" त्ति अवगाह[illegible]
[illegible] कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन् असावगाह –अवस्थानक्षेत्रम्, स च 'कियन्मात्र ?' इत्याह[illegible]
'[illegible]' न्यून न्यूनतरोऽङ्गुलासंख्येयांश –अङ्गुलासंख्येयभागो यत्र स सू[illegible]
[illegible]—[illegible] हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचय सम्पद्यते तथा तथा सू[illegible]
[illegible], तत्र औदारिकवर्गणानां यावानवगाहोऽङ्गुलासंख्येयभाग
[illegible] न्यून, स एव वैक्रियग्रहणवर्गणानां न्यून, तदग्रहणवर्गणानां स
न्यून, [illegible]वर्गणानां स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यून, तैजसग्र[illegible]
[illegible] स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यून, भाषाग्रहणवर्गणानां स एव न्यू[illegible]
[illegible] स एव न्यून, आनापानग्रहणवर्गणानां स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणानां
स एव न्यून [illegible] स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यून, कार्मण[illegible]
[illegible] स [illegible]संख्येयभागो न्यूनतर इति ॥ ७६ ॥

[illegible] वर्गणा [illegible]संख्येयमानं च । अणुनैकादिवृद्ध्या वर्धमानानामग्रहणवर्गणा[illegible]
[illegible]—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

[illegible]
[illegible] । [illegible] । इत्याह– 'सिद्धानन्तांशा' सिद्धाना[illegible]
[illegible] सिद्धानन्तभागवर्तिन, [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

स्यादेतद्वर्गणानां यावन्मात्रमधिकत्वं तदाह—"सद्व्य उद्दसुविसा सिद्धणंतसाहिया सिद्धा" '
च'ति' तथा-च-औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-भाषा ऽऽनापान-मन-कार्मणवर्गणासु जघन्या
अपगुणिता च-योग्या च जघन्येभ्यो योग्यजघन्येत्यर्थः, तस्याः सकाशात्, माहृतत्वात् पञ्च
म्येकवचनस्य लुप्, सिद्धानन्ततमेन-अनन्तभागेनाधिका-समधिका भवति। कास्ता
इत्याह—'उत्कृष्ट' उत्कृष्टा। किमुक्तं भवति?—औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्या
नन्तभागे वर्तमानोऽनन्ततमभागेन विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको मन्तव्य।
कत एतावन्मात्रैकस्कन्धसमधिकानामनन्तत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तराल
वर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ता सिद्धा भवन्ति। एवं वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-भाषा ऽऽना
पान-मनः-कर्मणवर्गणास्वपि ग्रहणयोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे
वैऽनन्ततमाऽनन्ततमेनानन्तभागेन सर्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको वाच्य,
तस्य चानन्तमात्रस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेया,
केवलमुत्तरोत्तरवर्गणास्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरोत्तरोऽनुमहत्-महत्तर
महत्तमादिभेदेन नानाविधो दृश्य इति ॥ ७७ ॥

अथ यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह—

अतिमचउफासदुगंधपंचवण्णरसकम्मखंधदलं।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः। तत्र "अंतिम" त्ति अन्ते भवा
अन्तिमाः "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" (सिद्ध० ६ ३-७५) इतीमप्रत्ययः, अन्त्याः-पर्यन्तवर्तिनः,
अन्तिमत्वं च "फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठ" (गा० ४०) इति कर्मवि
पाकसूत्रनिदर्शितक्रमाश्रित्य ज्ञेयम्। चत्वारः-चतुःसंख्याः स्पर्शाः-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षल
क्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य-कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः, तदन्तिमचतुःस्पर्शम्। अयमत्राशय —
अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात् कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन युक्तस्तत्र विद्यते।
तथाहि—स्निग्ध-उष्णस्पर्शद्वितयोपेतः कश्चित् परमाणुस्तत्र भवति, कश्चन रूक्ष-शीतस्पर्शद्वय
युक्तः परमाणुः, कश्चिच्च स्निग्ध-शीतस्पर्शद्वयोपेतः, कश्चित्तु रूक्ष-उष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इति।
अतः स्कन्धद्रव्यमप्यनन्तगुणपरमाणुनिर्वृत्तं सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकल्पितमविरुद्धस्पर्शद्व
योपेतपरमाणुसहितत्वात् चतुःस्पर्शसम्पन्नं सम्पद्यत एव। गुरु-लघु-मृदु-कठिनस्पर्शास्तथ ये
परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्ये न भवन्तीति। एतच्च प्रज्ञप्ति-कर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तम्। बृह
च्छतकटीकायां तु—"मृदु-लघुलक्षणं स्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवति, अपरौ च स्निग्ध-उष्णौ
स्निग्ध-शीतौ वा, रूक्ष-उष्णौ रूक्ष-शीतौ वा, द्वावविरुद्धौ भवतः" (पत्र १०४१) इति
चतुःस्पर्शोक्तिरुक्ता। तथा द्वौ सुरभि-दुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धम्। पञ्चशब्दस्य
प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चेति-पञ्चसंख्या वर्णाः कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-शुक्ललक्षणा यस्य तत्

१ सं० २ त० डा० °व स्वधिकः° ॥ २ सं० १-२ °रुक्ख अ° ॥ ३ स्पर्शा गुरुर्लघुर्मृ
दुः शीत उष्ण स्निग्धो रूक्ष इत्यष्टौ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ (प्रशम० का० ५५)

न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशावगाढम्, भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्रहणपरिणामाभावात् । यथा हि दहनः स्वप्रदेशासितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्र स्थमेव द्रव्यमादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् । एतच्च द्रव्यं गृह्णन् जीवेन केन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह—निजा—आत्मीयाः सर्वे—समस्ता प्रदेशा निरंशप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशैः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तृतीयार्थे प्रथमा, निजसर्वप्रदेशैः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः, जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषभावात् । तथाहि—एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदेशा वर्तन्ते, मिथ्यात्वादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रवृत्ते द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते, यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद् घटे पटादिके गृह्यमाणे मणिबन्ध-कूर्पर-अंसादयोऽपि तद्ग्रहणायानन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्त इति । अथैवमेकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मणि यावन्मात्रो भागो भवति इत्येतदभिधित्सुराह—“थेवो आउ तदंसो” त्ति इहार्थतो बन्धकत्व..... दिशा यदेकेनाध्यवसायेन विचित्रतागर्भेण गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, कर्माष्टविधबन्धकस्य सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड् भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः । तत्र यदाऽऽयु-र्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितिकत्वेन गृहीतस्य सम्पानन्तस्य धारकस्कर्मद्रव्यस्याष्टभाग सर्वस्तोक आयुष्करूपतया परिणमति, ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितिकत्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भागः समः, तत आयुर्भागात्तु ‘अधिक’ विशेषाधिक इति ॥ ७९ ॥

विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्य—अन्तरायस्य आवरणयोः—ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोश्च ..., ... त्रयाणामपि तुल्यस्थितिकत्वात्, नाम-गोत्रापेक्षया त्वधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थः । तत्र ... ज्ञानावरण-दर्शनावरणभागाद् ‘मोहे’ मोहनीये भागः ‘अधिकः’ विशेषाधिकः । ... ... यस्य विरूपो भागो भवति ? इत्याह—‘सर्वोपरि’ वेदनीये सर्वकर्मभागेभ्योऽपि विशेषाधिको भागो भवति । इदमुक्तं भवति—शेषकर्मदलिकात् तावद् मोहनीयस्योपरि ... ... पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद् उपर्येव भागः । अत्र विशेषं दर्शयति ... ... क्रमेण ... भागाधिक्यं भवति ? इति अत्र वेदनीयस्य ... ... — “तस्स फुडत्तं न हवइ” त्ति येन कारणेन ‘अल्पे’ ... ... ‘अल्प’ ... ... कर्मणः ‘स्फुटत्वं सुख-दुःखानुभवलक्षणमिति ... न ... भवति ... । ... ... — सुख-दुःखानुभावं वेदनीयं कर्म, ...

१ सं० १-२ त० म० छा० ‘... ...’ ॥ २ सं० १-२ त० म० छा० ‘... ...’ ॥

स्वकार्यं सुख-दुःखरूपं व्यक्तीकर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति । दृश्यते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यम् । यथा हि घृतादि [illegible] बहुतरमुपभुक्तं तृप्तिलक्षणं स्वकार्यमातनोति, मृद्वीकादिकं स्वल्पमपि भुक्तं तृप्तिमुपजनयति, यथा विषं स्वल्पमपि मारणादिकार्यं साधयति, लेप्टुकादिकं तु प्रचुरमिति, एवमिहापि उपनयः कार्यः । तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गलाः सुख-दुःखे साधयन्तीति सुख-दुःखत्व कारणाद् वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम् । शेषकर्मणां भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह— "ठिइविसेसेण सेसाणं" ति वेदनीयात् शेषकर्मणामायुष्कादीनां भागस्य हीनत्वमाधिक्यं च विज्ञेयम् । केन ? इत्याह—स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन, यस्य नाम-गोत्रादेरायुष्काद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भावः । ननु स्थित्यनुसारेण भागो भवत्यायुषः सकाशाद् नाम-गोत्रयोर्भागः संख्यातगुणः प्राप्नोति [illegible] किमित्युक्तं विशेषाधिक इति ? सत्यमेतत्, किन्तु सर्वोऽपि नरकगत्यादिकर्मकलाप आयुः [illegible] [illegible], तदुदय एव तस्योदयात्, अत आयुष्कं प्रधानत्वाद् बहुपुद्गलद्रव्यं लभते । यद्येवं तर्हि [illegible]प्रधानत्वाद् नाम-गोत्रयोर्भागस्य विशेषाधिकत्वमयुक्तमिति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम-गोत्रे [illegible], तत्स्पर्धयापेक्षया बहुद्रव्यमाप्नुतः, आयुष्कं तु कादाचित्कं [illegible] [illegible] । इदमुक्तं भवति—स्थित्यनुसारेण संख्यातगुणहीनताप्राप्तावपि शेषकर्मोदयाभोक्तृत्वेन [illegible] [illegible] विशेषहीनमेव भागमायुष्कं लभते, नाम-गोत्रे त्वप्रधानतया हीनत्व [illegible] [illegible] विशेषाधिकमेव भागं लभेते । ननु तथापि ज्ञानावरणीय [illegible] [illegible] भागं प्राप्नोति, तत्स्थितेर्ज्ञानावरणीयादिस्थित्यपेक्षया सङ्ख्यात [illegible], [illegible] विशेषाधिक उक्तः ? सत्यम्, दर्शनमोहनीयलक्षणाया एकस्या [illegible] [illegible] [illegible]कोटीकोटीलक्षणा स्थितिरस्ति, चारित्रमोहनीयस्य तु कषाय [illegible] [illegible] [illegible] स्थितिः, अतस्तदनुसारेण विशेषाधिक एव तद्भाग [illegible] [illegible] । दर्शनमोहनीयद्रव्यं तु सर्वमेव चारित्रमोहनीयदलिकात् सर्वघाति [illegible] [illegible] न [illegible] तेन कथन [illegible] । युक्तिमात्रं चैतत्, [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] तथाप्येकस्मिन् समये गृहीतद्रव्य [illegible] [illegible] ? इति चेद् उच्यते—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ? [illegible] [illegible] ॥ ८० ॥

[illegible] [illegible] । [illegible]प्रकृतीनां भागप्ररूपणां विवक्षुराह—

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥ ८१ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

वरण-केवलदर्शनावरण-निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-संज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणानां विंशतिसङ्ख्याना-मपि 'भवति' जायते। कोऽत्र युक्ति ? इति चेद् उच्यते—इहाद्यानामपि मूलप्रकृतीना प्रत्येक वे स्निग्धतरा परमाणवस्ते स्तोका, ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भाग, त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्या । तस्मिश्चानन्ततमे भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपसारिते शेषस्य दलिकस्य देशघातिरसोपेतस्य का वार्ता ? इत्याह—"बज्झतीण विभज्जइ" इत्यादि। बध्यमानानां न त्वबध्यमानानां 'विभज्यते' विभागीक्रियते, विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थ । 'शेष' सर्वघाति-प्रकृत्यनन्तभागावशिष्ट प्रदेशाग्र कासां बध्यमानानां विभज्यते ? इत्याह—'शेषाणा' सर्वघाति-प्रकृत्यवशिष्टाना स्वजातिप्रकृतीनाम्, कथम् ? इत्याह—'प्रतिसमय' प्रतिक्षणम्, बन्धन विभजन-क्रियमोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिद योजनीयम् ।

अयमत्र तात्पर्यार्थ —इह ज्ञानावरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतय, तासु चैका केवलज्ञाना वरणलक्षणा सर्वघातिनी, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्य । तत्र ज्ञानावरणस्य भागे यद् दलिकमा याति तस्य यद् अनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेतं द्रव्य तत् केवलज्ञानावरणस्यैव भागतया परिणमति । शेष तु देशघातिरसोपेत द्रव्य चतुर्धा विभज्यते, तच मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञाना-वरणा ऽवधिज्ञानावरण-मन पर्यायज्ञानावरणेभ्यो दीयते । दर्शनावरणस्य च नव उत्तरप्रकृतय, तासु च केवलदर्शनावरण निद्रापञ्चक चेति षट् सर्वघातिन्य, शेषास्तिस्रो देशघातिन्य । तत्र दर्शनावरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत् सर्वघातिरसोपेतमनन्ततमभाग वर्ति द्रव्य तत् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेष तु देशघातिरस युक्त द्रव्य शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति। वेदनीयस्य पुन सातरूपाऽसातरूपा चैकैव प्रकृतिरे कदा बध्यते, न युगपदुभे अपि, साता ऽसातयो परस्परं विरोधात्, अतो वेदनीयभागरूप द्रव्यमेकस्या एव बध्यमानाया प्रकृते सर्व भवति । मोहनीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग भागमायाति तस्यानन्ततमो भाग सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्वेधा क्रियते, अर्धं दर्शनमोहनीयस्य अर्धं चारित्रमोहनीयस्य । तत्रार्धं दर्शनमोहनीयसत्क समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य दीयते । चारि त्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादश भागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते, स्वस्थाने तु कषायद्वादशकस्यापि तुल्यम् । शेष तु देशघातिरससमन्वित द्रव्य द्विधा क्रियते, तत्रैको भाग कषायमोहनीयस्य द्वितीयो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनी यस्य भागश्चतुधा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागा संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभाना दीयन्ते । नोकषायमोहनीयस्य पुनर्भाग पञ्चधा क्रियते, ते च पञ्चापि भागा यथाक्रम त्रयाणा वेदाना मन्यस्मै वेदाय बध्यमानाय, हास्य-रतियुगल अरति-शोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय भय-जुगु प्साभ्या च दीयन्ते नान्येभ्य, बन्धाभावात् । न हि नवापि नोकषाया युगपद् बध्यमानाः सन्ति, किन्तु यथोक्ता पञ्चैव । आयुषस्तु भागे यद् द्रव्यमागच्छति तत् सर्वमेकस्या एव बध्यमान-प्रकृतेर्भवति, यत आयुष एकस्मिन् काले एकैव प्रकृतिर्बध्यत इति । नामकर्मणो भागभावना कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दर्श्यते । तत्रेयं गाथा—

पिंडपगईसु बज्झतिगाण वसरसगधफासाण ।
सव्वेसिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ (कर्मप्र० गा० २७)

अस्या अक्षरार्थगमनिका—पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतय । यदुक्त कर्मप्रकृतिचूर्णौ—पिंडपगईओ नामपगईओ वि । ( )

तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगति-जाति-शरीर-बन्धन-सघातन-संहनन-सस्थाना ऽङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वीणा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उपघात-उच्छ्वास निर्माण-तीर्थकराणां आतप उद्योत प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक साधारण स्थिरा ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-सुभग-दुर्भग सुस्वर-दु स्वरा-ऽऽदेया ऽनादेय-यश कीर्ति-अयश कीर्त्य न्यतराणा च मूलभागो विभज्य समर्पणीय । अत्रैव विशेषमाह—वर्णेत्यादि । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शानां प्रत्येक यद् भागलब्ध दलिकमायाति तत् सर्वेभ्यस्तेषामेवावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि—वर्णनाम्नो यद् भागलब्ध दलिक तत् पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य प्रदीयते, एव गन्ध-रस-स्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य सम्बन्धिना भागस्य तति भागा कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्या । तथा सङ्घाते तनौ च प्रत्येक यद् भागलब्ध दलिकमायाति तत् त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिक-तैजस-कार्मणानि वैक्रिय-तैजस-कार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि सङ्घातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि सङ्घातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । "सत्तेक्कार विगप्पा बधणनामाण" (कर्मप्र० गा० २८) बन्धननाम्नो भागलब्ध यद् दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पा—सप्त भेदा शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पा शरीरचतुष्टये क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण ४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मणकार्मण ७ रूपाणि बन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्का ऽऽहारकचतुष्क-तैजसद्विकल [illegible] बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद् भागलब्ध दलिकमायाति तद् न भूयो विभज्यते, तासां युगपद्बन्धाभावात् [illegible] भावात्, तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिक भवतीति । गोत्रस्य तु यद् भागागत द्रव्य तद् एकस्या एव बध्यमानायाः प्रकृतेर्भवति, यद् गोत्रस्य [illegible] उच्चैर्गोत्र [illegible] नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृतिर्बध्यते । अन्तरायभागलब्ध तु द्रव्य दानान्तरायादिप्रकृतिविषयतया परिणमति, यत एता पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात् सदैव बध्यन्त इति ।

ननु "बज्झतीण विभज्जइ" इति वचनात् बध्यमानानामेवाय भागविधिरुक्त, यदा च [illegible] तस्य भागलब्ध द्रव्य कथ्या भागतया भवति ? इति अत्रोच्यते—यस्य [illegible] तद्भागलब्ध द्रव्य यावदेकाऽपि [illegible] [illegible] तावत् तस्या एव तद् भवति । यदा पुन सर्वासामपि [illegible] बन्धो व्यव

१ [illegible] १-२ [illegible] ॥

२ [illegible] कर्मप्रकृतिनिर्ग्रन्थायां तु—[illegible] ॥

च्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्यैवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वमपि मूलप्रकृत्यन्तर्गताना विजातीयप्रकृतीनामपि भवति । यदा ता अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिक सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृते सम्पद्यते ।

निदर्शन चात्र यथा—स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वमपि सजातीययोर्निद्रा प्रचलयोर्भवति, तयोरपि बन्धविच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां चक्षुर्दर्शनावरणादीनां विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाद्यवस्थाया नि शेष सातवेदनीयस्यैव भवति । मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात् तद्भागलभ्य दलिक सर्वं विजातीयानामेव क्रोधादीनामाद्यद्वादशकषायाणा भवतीत्यनया दिशा तावद् नेय यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलभ्य द्रव्य षड्भागतया भवति । तत ऊर्ध्वमुपशान्ताद्यवस्थाया सर्वथा शेषमूलप्रकृतीना बन्धविच्छेदे तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति ।

अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शित स्वस्थोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्व विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोक प्रदेशाग्र केवलज्ञानावरणस्य, ततो मन पर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, तत श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोक प्रचलाया प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, तत प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, तत स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, तत केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, तत चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, तत सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य शोकयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिक, तयो पुन स्वस्थाने तुल्यम् । तत स्त्रीवेद-नपुसकवेदयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम् । तत संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक, तत संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम् । तत पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम् । तत संज्वलनमायाया विशेषाधिक, तत संज्व

१ स० १ त० छा० °भ्यवच्छे ॥ १ स० २ °बन्धच्छेदे ॥ ३ यद्यपि कर्मप्रकृतिटीकायाम्—°स्त्यानर्द्धगुण °नादेश एव पाठ दृश्यते तथापि असमञ्जसत्वेन प्रतिभासनादत्र सर्वेष्वादर्शेषु- °स्य विशेषाधिकम् इत्येवरूप पाठ समस्तीति ॥

स्तलोभस्यासङ्ख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र परस्पर तुल्यम् । नाम कर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र गतौ देवगति-नरकगत्यो सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिक, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादि जातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु तेषा परस्पर तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजाते विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रिय शरीरस्य विशेषाधिक, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिक, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिक, तत कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एव सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्न, तत आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिक, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिक, तत कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु तेषा परस्पर तुल्य, तत समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिक, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्न, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिक, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र, स्वस्थाने तु तेषा परस्पर तुल्यम्, तत सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र कृष्णवर्णनाम्न, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिक, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिक, ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिक, तत शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोक सुरभिगन्धनाम्न, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र कटुरसनाम्न, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिक, तत कषायरसनाम्नो विशेषाधिक, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिक, ततो मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नो, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्, ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नो [illegible], स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्, ततो [illegible] शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्, तत स्निग्ध उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र देवगति-नरकगत्यानुपूर्व्यो, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्, ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिक, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र प्रशस्त[illegible]

1 [illegible]

योगतिनाम्न, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् त्रसनाम्न, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्न । एवं बादर-सूक्ष्मयो पर्याप्ताऽपर्याप्तयो प्रत्येक सा धारणयो स्थिराऽस्थिरयो शुभाऽशुभयो सुभग-दुर्भगयो सुस्वर-दुःस्वरयोरादेयाऽनादेययो र्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योर्वाच्यम् । आतप उद्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । *निर्माण उच्छ्वास पराघात-उपघाता ऽगुरुलघु-तीर्थंकराणां त्वल्पबहुत्वं नास्ति ।

अत्र इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णा दिवर्णनाम्न शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभग-दुर्भगयो, न चैता परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलभिन्नप्रकृत्यभावात्, नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात् । तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् नीचैर्गोत्रस्य, तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम् । तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिकं, ततो भोगान्तरा यस्य विशेषाधिकं, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् ।

तदेवमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाल्पबहुत्वम् । सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते— तत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रम् केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानावरण स्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रम् निद्रायाः, ततः प्रच लाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषा धिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान क्रोध-माया-लोभा ऽनन्तानुबन्धिमान क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकत्वं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्त गुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमान क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषा धिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रम् तिर्यङ्-मनुष्यायुषो, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुणं, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि गतौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रम् तिर्यग्गते, ततो मनुजगतेर्विशेषाधिकं, ततो देवगतेरसङ्ख्येय

---

*कर्मप्रकृतौ तु— तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् त्रसनाम्न, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्न । तथा सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रम् पर्याप्तनाम्न ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्न । एवं स्थिराऽस्थिरयो शुभाऽशुभयो सुभग-दुर्भगयोरादेयाऽनादेययो सूक्ष्म-बादरयो प्रत्येक-साधारणयोर्वाच्यम् । तथा सर्वस्तोकमयशःकीर्तिनाम्न प्रदेशाग्रम् ततो यशःकीर्तिनाम्न सङ्ख्येयगुणम् । शेषाणामातपा-उद्योत प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर दुःस्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् । निर्मा॰ एकस्य पाठो दृश्यते ॥

न्तलोकस्याससद्ध्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम् । नाम कर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगति-नरकगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादि जातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजाते विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रिय शरीरस्य विशेषाधिकं, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, ततः आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततो मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नो विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो रूक्ष-शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततः स्निग्ध-उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगति-नरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मनुजगत्यानुपूर्व्यां विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यां विशेषाधिकम् । ततो विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्त

१ [illegible] । [illegible] तथा [illegible] । [illegible]

योगतिनाम्न, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्न, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्न । एवं बादर-सूक्ष्मयो पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयो प्रत्येक-साधारणयो स्थिरा-ऽस्थिरयो शुभा-ऽशुभयो सुभग-दुर्भगयो सुस्वर-दु स्वरयोरादेया-ऽनादेययो-र्यश कीर्ति-अयश कीर्त्योर्वाच्यम् । आतप-उद्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । *निर्माण-उच्छ्वास पराघात-उपघाता-ऽगुरुलघु-तीर्थकराणामल्पबहुत्व नास्ति।

यत इदमल्पबहुत्व सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णादिवर्णनाम्न शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभग-दुर्भगादो, न चैता परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात्, नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात् । तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य, तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम् । तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिक, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिक, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिक, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् ।

तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमल्पबहुत्वम् । सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते— तत्र सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मन पर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुण, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिक, तत श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिक, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्राया, तत प्रचलाया विशेषाधिक, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिक, तत प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिक, तत स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिक, तत केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिक, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुण, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिक, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान-क्रोध-माया-लोभा अनन्तानुबन्धिमान क्रोध-माया-लोभाना यथोत्तरं विशेषाधिकत्व वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । तत संज्वलनमान-क्रोध-माया-लोभाना यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यङ्-मनुष्यायुषो, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुण, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गते, ततो मनुष्यगतेर्विशेषाधिक, ततो देवगतेरसङ्ख्येय

* कर्मप्रकृतौ तु— तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं [illegible] ततो [illegible] । तथा सर्वस्तोक प्रदेशाग्रं पराघातस्य ततो [illegible] तथा [illegible] सुभग-दुर्भगयोरादेय-ऽनादेययो [illegible] । तथा [illegible] प्रदेशाग्रम् ततो [illegible] सङ्ख्येयगुणम् । [illegible] उत्कृष्टपदे [illegible] तुल्यत्वे परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे [illegible] । [illegible]

पदपष्टी' पदपष्टिद्वयम्। अयमत्र भावार्थ —य कश्चिद् जन्तुर्विशुद्धिवशाद् मिथ्यादृष्टिर्नि परि त्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्न, तत सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्ट सम्यक्त्वकाल प्रतिपाल्य अन्तर्मु हूर्तमेक सम्यग्मिथ्यात्व गच्छति, ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत् तद्‌- नुपाल्य तत ऊर्ध्वं यो न सिध्यति सोऽवश्य मिथ्यात्व गच्छति, तत इत्थ सागरोपमषट्षष्टि द्वयरूप सामर्थ्यतो मिथ्यान्तर्मुहूर्त-नरमनाधिकमुत्कृष्ट मिथ्यात्वस्यान्तरालं भवतीति। "इयरगुणे" त्ति इतरगुणस्थानकविषये। कोऽर्थ ? मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादना- दिषूपशान्तमोहान्तेषु 'गुरु अन्तरम्' उत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति। कियद् ? इत्याह—"पुग्गल- द्धतो" त्ति सूचकत्वात् सूत्रस्य पुद्गलस्य-पुद्गलपरावर्तस्यार्धं पुद्गलपरावर्तार्द्धं तस्यान्तर्‌-मध्य पुद्गलपरावर्तार्द्धान्त, किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्द्धमित्यर्थ। इदमत्र तात्पर्य—सास्वादनादय उप- मश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदो त्कृष्टत किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्द्धं यावदपारसंसारपारावारमध्यमवगाह्य पुनस्तानि गुणस्थानकानि लभन्ते नार्वाक्, तत ऊर्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् सम्प्राप्य अवश्य जीवा सिध्यन्तीति, ततो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तर भवति। क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति, प्रतिपाताभावादिति ॥ ८४ ॥

इह सास्वादनस्य जघन्यमन्तर पल्योपमासङ्ख्येयाश उक्तम्। अत पल्योपमस्वरूप सप्रपञ्चं प्रचिकटयिषुराह—

उद्धार अद्ध खित्त, पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥

धान्यपल्यवत् पल्य-पल्योपम 'त्रिधा' त्रिप्रकार भवति। सिलोप प्राकृतत्वात्। तथाहि— उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपम क्षेत्रपल्योपम च। तत्र वालाग्राणां तत्खण्डानां वा प्रतिसमयमु- द्धरणमुद्धारस्तद्विषयं-तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् १। अद्धा-काल स च प्रस्तावाद् वालाग्राणां तत्खण्डानां वाऽपहारे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपमम् २। क्षेत्रम्-आकाशप्रदेशरूप तत्प्रधान पल्योपम क्षेत्रपल्योपम च ३ इति। "समयवाससयसमए केसवहारो" त्ति तत्रोद्धारपल्योपमे केशाना-वालाग्राणां समये समयेऽपहार -उद्धरण क्रियते, अद्धापल्योपमे वर्षशते केशापहार क्रियते, क्षेत्रपल्योपमे समये समये केशापहार -केशस्पृष्टा- ऽस्पृष्टाकाशप्रदेशापहार क्रियते। तत्र "दीवोदहिआउतसाइपरिमाण" ति तत्रोद्धारपल्योपमेन प्रयोजनं द्वीपोदधिपरिमाण-द्वीपा उदधयश्चानेन प्रमीयन्ते, तथाऽद्धापल्योपमेन प्रयोजनम् आयु परिमाण-देव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणामायूंष्यनेन मीयन्त इत्यर्थ, क्षेत्रपल्योपमेन प्रयोजनं त्रसादिपरिमाणम्, आदिशब्दात् पृथिवीकायिका ऽप्कायिक-तेजस्कायिक-वायुकायिक-वनस्पति कायिकानां परिमाण ग्राह्यम्। उक्त च—

एएण खित्तसागरउवमाणेण हविज्ज नायव्व।

---

१ त० म० दवानां नारक०। छा० स १-२ देवानां नरक० ॥
२ एतत क्षेत्रसागरोपमानेन भवेज्ज्ञातव्यम्। पृथ्वीदकाग्निमारुतहरितत्रसानां च परिमाणम् ॥

८)

[illegible] परीमाण ॥ (जीवसमा० गा० १२१)

इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह त्रिविधं पल्योपमम् । तद्यथा—उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमम् क्षेत्रपल्योपमम् । पुनरेकैकं द्विधा—बादरं सूक्ष्मं च । तत्रायाम विस्ताराभ्याम् [illegible] परिधिना किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकयोजनत्र [illegible] यावदुत्कर्षेण सप्तभिरहोभिः [illegible] तथा भ्रियते यथा तानि बालाग्राणि वह्निर्न दहति वायुर्नापहरति जलं नोत्क्लेदयति, ततः समये समये एकैकबालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालः सङ्ख्येयसमयमानो बादरमुद्धारपल्योपमम् । एतेषां च दशकोटीकोट्यो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण—समुद्रेणो[illegible] बादरोद्धारपल्योपम-सागरोपमे [illegible] बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्मे सुखावसेये स्यातामिति बादरे प्ररूपिते । एवं बादराद्धाक्षेत्रपल्योपम सागरोपमेष्वपि वक्तव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

[illegible] जे से वावहारिए उद्धारपलिओवमे से जहानामए पल्ले सिया जोयणं आयामविक्खंभेणं जोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं तिगुणं सविसेसं परिरएणं, से णं पल्ले एगाहियबेहियतेहिय [illegible] बालग्गकोडीणं, ते णं बालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा नो कुच्छिज्जा नो विद्धंसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, तओ णं समए समए एगमेगं बालग्गमवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्ठिए भवइ से तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे ।

एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हविज्ज दसगुणिया ।
उद्धारसागरस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥

एएहिं वावहारिएहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? नत्थि किंचि पओयणं केवल पन्नवणट्ठं पन्नविज्जइ (अनुयो० पत्र १८०-१-२) इति ।

[illegible] बादरमुद्धारपल्योपमम् । अथ सूक्ष्मं तद् उच्यते—तत्रैकैकं बालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत् पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यतः प्रत्येकमत्यन्तविशुद्धलोचनच्छद्मस्थो यदतीवसूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुषा न पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्राणि । क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मप

१ तत्र यत् तद् व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमं तद् इदम्, असौ यथानामकः पल्यः स्यात् योजनमायाम[illegible] योजनमूर्ध्वमुच्चत्वेन सविशेषं त्रिगुणं परिरयेण, स एकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकैः यावत् सप्तरात्र[illegible] तानि च बालाग्राणि नाग्निर्दहेत् न वायुर्हरेत् नोत्क्लेदयेयुः [illegible] ततः समये समये एकैकं बालाग्रमपहृत्य यावता [illegible] यावद् इति [illegible] उद्धारपल्योपमम् ॥ २ सं० [illegible] निर्लेपः निष्ठितो भवति [illegible] भवेद्दशगुणिता । [illegible] पल्य [illegible] एवमेतानि [illegible] व्यावहारिकाभ्याम् उद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं [illegible] सं० प्र० इत्य ॥

[illegible] भवेत् परिमाणम् ॥ [illegible] केवलं प्रज्ञाप्यते । [illegible]

मकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसङ्ख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः। एषां च वालाग्राणामसङ्ख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल सङ्ख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्ति, अत सङ्ख्येयवर्षकोटिमानमिदं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममवसेयम्। तद्दशकोटिकोट्य सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम्। आभ्यां पल्योपम-सागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते। उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं[1]? एएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ। केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता? गोयमा! जावइया णं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता॥ (पत्र १८१-१)

भाष्यसुधाम्भोनिधिरप्याह—

उद्धारसागराणं[2], अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया।
दुगुणादुगुणपवित्थर, दीवोदहि हुंति एवइया॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ८०)

इत्युक्तं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्युद्धारपल्योपमम् १। सम्प्रति द्विविधमेवाद्धापल्योपमं प्ररूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः सङ्ख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम्। तथैव पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डापहारेण निर्लेपनाकालोऽसङ्ख्यातवर्षकोटीमानः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्ममद्धासागरोपमम्, तद्दशसागरोपमकोटीकोटीमानाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैवोत्सर्पिण्यपि, अवसर्पिणी-उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्तः, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ता अतीताद्धा, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ता अनागताद्धा चेति।

उक्तं च श्रीभगवतीटीकायाम्[3]—

अहवा पडुच्च कालं[4], न सव्वकाल होइ वुच्छित्ती।
अतीयऽणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ॥ (शत० १२ उ० २)

अस्यार्थलेशः—यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति स्यात् [illegible]। अन्ये त्वाहुः—

ओसप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो।
तेऽणंता तीयद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा॥ (जीवस० गा० १२०)

अयं च भावना—अतीताद्धातोऽनागताद्धाया अनन्तगुणत्वम् समयावलिकादिभिरनागताद्धाया [illegible] अक्षयत्वात्।

1 [illegible] सूक्ष्मैरुद्धारपल्योपमसागरोपमैः किं प्रयोजनम्? एतैर्द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते। कियन्तो भदन्त! द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः? गौतम! यावन्तोऽर्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणाम् [illegible] एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः॥

2 [illegible] समयाः। द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा द्वीपोदधयो भवन्त्येतावन्तः॥

3 [illegible] १-२ [illegible] "[illegible]"॥

4 [illegible]। [illegible]॥
[illegible]। [illegible]॥

आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां सुर-नरक-नर तिरश्चां कर्मस्थिति कायस्थिति भवस्थितिश्च मीयते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

एएहिं सुहुमअद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयण ? गोयमा ! एएहिं नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवाण य आउयाइं मविज्जंति (पत्र १८३–२) इति ।[1]

अभिहित बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्यद्धापल्योपमम् २ । साम्प्रत द्विविधमेव क्षेत्रपल्योपम निरूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमय एकैकापहारेण निर्लेपना कालोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरं क्षेत्रसागरोपमम् । तथैवैकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डैः स्पृष्टानामस्पृष्टाना च नभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारेण निर्लेपनाकालो बादरासङ्ख्येयगुणकालमान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्य सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपमम् । उक्त चानुयोगद्वारेषु—

[2]से किं त सुहुमे खेत्तपलिओवमे ? से जहानामए पल्ले सिया एगजोयण आयामविक्खंभेण जोयण उड्ढं उच्चत्तेण जाव भरिए वालग्गकोडीण, तत्थ ण एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइ खडाइं कीरइ, ते ण वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जभागमित्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते ण वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा जाव नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, जे ण तस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं फुण्णा वा अफुण्णा वा तओ ण समए समए एगमेगमागासपएसं अवहाय जावइएण कालेण से पल्ले खीणे जाव निल्लेवे भवइ से त सुहुमे खेत्तपलिओवमे । तत्थ चोयए पण्णवग एवं वयासी—अत्थि ण तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे ण तेहिं वालग्गेहिं अणाफुण्णा ? हंता अत्थि । जहा को दिट्ठंतो ? से जहानामए कुट्ठे सिया कुहडाण भरिए तत्थ माउलिंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ बिल्ला पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ आमलया पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण बयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण चिणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण सरिसवा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण गंगावालुया पक्खित्ता सा वि माया, एवामेव अत्थि ण तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे ण तेहिं वालग्गेहिं अणाफुण्णा ॥ (पत्र १९२–१) इति ।

---

१ एताभ्यां सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवानां आयूंषि मीयन्ते । २ अथ किं तत् सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम् ? असौ यथानामकः पल्यः स्याद् एकयोजनमायामविष्कम्भाभ्याम् योजनम् ऊर्ध्वमुच्चत्वेन यावत् भृतः वालाग्रकोटिभिः तत्र खलु एकैकं वालाग्रमसंख्येयानि खण्डानि क्रियते तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य शरीरावगाहनातोऽसंख्येयगुणानि तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेत् न वायुर्हरेत् यावत् न पूतित्वेन ध्वंसमागच्छेयुः ये च तस्य आकाशप्रदेशाः तैर्वालाग्रैः स्पृष्टा वा अनास्पृष्टा वा ततः खलु समये समये एकैकमाकाशप्रदेशमपहाय यावता कालेन स पल्यः क्षीणः यावत् निर्लेपः भवति तदिदं सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम् । तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टाः ? हन्त सन्ति । यथा को दृष्टान्तः ? असौ यथानामकः कोष्ठः स्यात् कूष्माण्डैर्भृतः तत्र मातुलिङ्गानि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि तत्र बिल्वानि क्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि तत्रामलकानि प्रक्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि तत्र बदराणि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि तत्र चणकाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः तत्र मुद्गाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः तत्र सर्षपाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः तत्र गङ्गावालुका प्रक्षिप्ता साप्यवगाढा एवमेव सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टा इति ।

एताभ्यां च सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां प्रायो दृष्टिवादे द्रव्यप्रमाणप्ररूपणायां प्रयोजनं सकृदेव नान्यत्र। यदागमः—

[1]एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं? गोयमा! एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइं मविज्जंति (अनुयो० पत्र १९३-१) इति।

आह—यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चेह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रैः किं प्रयोजनम्? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सामान्येनैव वक्तुमुचितं स्यात्, सत्यम्, किन्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचिद् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरिति, अतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥ ८५ ॥

व्याख्यातं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमपि क्षेत्रपल्योपमम् ३। तद्व्याख्याने च समर्थितं सप्रपञ्चं पल्योपम-सागरोपमस्वरूपम्। इदानीं किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्धं सास्वादनादीनामुत्कृष्टमन्तरमुक्तम् अतस्तमेव सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकामः प्रथमं तावत् तस्यैव भेदान् परिमाणं चाह—

दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषयः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः 'काले' कालविषयः 'भावे' भावविषयः, इत्थं 'चतुर्धा' चतूरूपः पुद्गलपरावर्तो भवतीत्युत्तरेण सण्टङ्कः। पुनरेकैको द्रव्यादिकः 'द्विविधः' द्विप्रकारो भवति। द्वैविध्यमेवाह—"बायरो सुहुमो" त्ति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नः। अयमर्थः—द्रव्यपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः सूक्ष्मश्च, क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः सूक्ष्मश्च, कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः सूक्ष्मश्च, भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः सूक्ष्मश्च। कियत्कालप्रमाणः पुनरयमेकैक? इत्याह—"होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो" त्ति 'भवति' जायते उत्सर्पन्ति-प्रतिसमयं कालप्रमाणा जन्तूनां वा शरीराऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्यः, ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्यः, उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति-प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीराऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्यः, ताश्च परिमाणं यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणीपरिमाणः। पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः, तेषां पुद्गलानां—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्त—औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्तः। यद्यपि द्रव्यादिविषयस्य पुद्गलपरावर्तनरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथाऽप्युत्पादितस्यापि शब्दस्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विपर्यीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥८६॥

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादरः सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम्। अत्र प्रथमतः बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गल-

1 एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम्? गौतम! एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमसागरोपमाभ्यां दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते ॥

२ दृष्टिवादे कस्य सास्वादनकत्वाद्यन्तरस्य १०९तमी गाथा-टीकासहिता ॥

३ सं० प्र० "दव्वम्मि" । सं० १-२ "वत्तव्वे°" ॥

र्गणस्य प्ररूपणाह्—

उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

एकस्मात् सप्तकस्य 'औदारिकादिसप्तकेन' औदारिकपरमाणून् औदारिकशरीरतया आदि-शब्दाद् वैक्रियपरमाणून् वैक्रियशरीरतया तैजसपरमाणून् तैजसशरीरतया कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया भाषापरमाणून् भाषात्वेन प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया मनोवर्गणापरमाणून् मनस्त्वेन, न पुनराहारकशरीरमप्यत्र प्राह्यम् कादाचित्कत्वात् तस्याभस्येति, 'स्पृष्ट्वा' परिणमय्य-परिणामं नीत्वा 'एकजीव' विवक्षितैकसत्त्व 'मुयति' त्यजति, 'सर्वाणून्' चतुर्दशरज्ज्वात्मक-वर्तिनमनन्तपरमाणून्, "जत्तियकालि" त्ति यावता कालेन, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्, द पाणिनि. स्वप्राकृतलक्षणे—"व्यत्ययोऽप्यासाम्' इति । स इत्थं पुद्गलस्पर्शमानेनो न कालविशेष 'स्थूल' बादर "दव्वे' त्ति द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रक्रम । इद संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणै सकललोकवर्तिन सर्वानपि पुद्गलान् यावता न औदारिकशरीर-वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-भाषा प्राणापान-मन कार्मणशरीरलक्षणपदार्थ क्रमशो यथास्व परिणमय्य मुयति स तावत्प्रमाण कालो द्रव्यतो बादर पुद्गलपरावर्तो भवतीति तात्पर्यमिति ।

अभिहितो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्त । इदानीं सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह—"सुहुमो सगन्नयर" त्ति सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति सम्बन्ध । कथम् ? इत्याह—'सप्तकान्य-न्[न्यतरस्मात्]सप्तकान्यतरेण, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । इदमत्र हृदयम्—सप्ताना दारिक-वैक्रिय-तैजस-भाषा-प्राणापान-मन -कार्मणमध्यादन्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिका पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलान् स्पृशति औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा वने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । विवक्षितभेदाविशेषे षड्भिर्भेदै परिणमिता अपि न न्त इति । एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति, तथाहि—यदैको तोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीर-वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्व ललोकवर्तिन सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुयति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचित् शरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुयति शेष रपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥ ८७ ॥

उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्त । सम्प्रति क्षेत्र-काल भावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्मभे-भिन्नान् निरूपयन्नाह—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥

लोकस्य—चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशा —निर्विभागा भागा लोकप्रदेशा, तयो

---

१ सं० १-२ छा० म० °कर्मि° ॥ २ सं० १-२ त० छा० °कपरिच्छेदिष्व° ॥

[illegible]स्तर्पिण्यवसर्पिण्युपलक्ष्यते दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत् तयो समया—परमनिकृष्टकालविशेषा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया, समयस्वरूप च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्तात् उत्पन्नात्[illegible]देशादवसेयम्, ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्वः। [illegible] [illegible]—रसस्य बन्ध—बन्धन तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि—कषायोदयविशेषलक्षणान्यनु[illegible] [illegible]नानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानीत्यर्थ। च समुच्चये तत श्चैते प्रत्येक यदोऽपि पदार्थ [illegible] [illegible] प्रत्येकमभिसम्बध्यते यथातथामरणेन—क्रमोत्क्रमाभ्यां प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा—व्याप्ता भवन्ति तदा "भिणाइ थूल त्ति 'क्षेत्रादय' क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-[illegible]पुद्गलपरावर्ता 'स्थूला' बादरा भवन्ति। यदा पुनस्त एव लोकाकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्य[illegible] [illegible] अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येक यदोऽपि पदार्थो क्रमश:[illegible]-पूर्व[illegible] [illegible]व्यवधानतः प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गल[illegible] [illegible]कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ता "इयर' त्ति इतरे सूक्ष्मा भवन्तीति गाथार्थः।

[illegible] [illegible]—यदा [illegible]शीलो जन्तुरन्तरेषु व्यवहितेषु वा अप्रदेश[illegible] [illegible] [illegible] सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा [illegible] क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति। [illegible] [illegible]प्रदेशान्तरव्यवहितेषु पूर्वानारब्धेषु [illegible] [illegible] [illegible] पुनस्ते स्पृष्टा गण्यन्त एवेति १। कालतस्तु यो [illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible] जन्तुर्मृतो भवति तदा [illegible] कालपुद्गलपरावर्तो भवति। [illegible] [illegible] [illegible]स्ततोऽन्यत्राऽपि यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]पुनर्गणनीया। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गण्यन्त इति २। भावतः पुद्गलपरावर्त [illegible]— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति ३।

[illegible]

[illegible]

पञ्चसङ्ग्रहाभिप्राये तु सूक्ष्म-बादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इत्थं व्याख्यात, यथा—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति । कोऽर्थः ? यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः ? यत्राकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते । यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकं परिकल्प्यते, तस्माद् गणनाप्रवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण प्रभूतकालव्यापारः स्यात् भवतीति ।

सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या वा प्रथमसमये कश्चिद् मृतः, ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिभूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते, पुनरपि कदाचित् तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये एवं चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठादिसमयक्रमेणानन्तानन्तैर्भवैर्यावत् सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति । ये तु प्रथमादिसमयक्रममुल्लङ्घ्य व्यवहितसमया पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु न गृह्यन्त एवेति ।

सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त उच्यते—इह किलानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कषायोदयजनितानि पुद्गलेषु तादृशानुभागपलिच्छेदनिवर्तकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्द-मन्दतर-मन्दतमादिभेदतो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदयस्थाने वर्तमानः कश्चिद् जन्तुर्मृतः, ततः कदाचिद् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद् विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य मरणं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तानन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति, व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति ॥८८॥

व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम् । सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन् उत्कृष्टं जघन्यं वा प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह—

अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

अल्पतराश्च ता प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृतिबन्धी, यो यो मौलानामौत्तराणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात् । 'उक्कडजोगी' उत्कटयोगवान् सर्वोत्कृष्टयोगस्थानवर्ती इत्यर्थः । 'च' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे पदस्यान्ते द्रष्टव्यः । संज्ञा—मनःपर्याप्तिलक्षणा विद्यते यस्यासौ संज्ञी 'पर्याप्तः' समस्तपर्याप्तिभिः पर्याप्तः इदमुक्तं भवति—

1 [illegible]

प्टत्व प्रदेशोत्कर्षमन्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत् । इतः सर्वाणि विशेष्यम्, शेषाणि तु विशेषणानि । अत्र च यो मनःपूर्विकां क्रियां विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तयैव चोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम् । संज्यपि जघन्ययोगमुत्कृष्टयोगी न भवत्यतो जघन्ययोगिव्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धभावात् । संज्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्धं विधातुमलमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम् । एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहुल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम् । तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विधत्ते इति । तर्हि जघन्यं प्रदेशबन्धं कः करोति ? इत्याह—"जइ अय तस्स वच्चासे" त्ति जघन्य एव जघन्यकः, "यावादिभ्यः" (सिद्ध० ७-३-१५) इति स्वार्थे कः प्रत्ययः, तं जघन्यकं प्रदेशबन्धमिति प्रक्रमः । 'तस्य' पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापस्य च 'व्यत्यासे' विपर्यये सति जन्तुः करोतीति योगः । अयमर्थः—बहुतरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसंज्ञी जीवो जघन्यं प्रदेशबन्धं विदधातीति ॥ ८९ ॥

अभिहितं सामान्येनोत्कृष्ट-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी । सम्प्रति मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्च प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निरूपयन्नाह—

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्ह सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

"आउ" त्ति आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः पञ्च, तद्यथा—"मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टिः "अजयचउ" त्ति अयतेन—अविरतसम्यग्दृष्टिना उपलक्षिताश्चत्वारः—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तलक्षणाः पञ्चैव जनाः "अप्पयरपयडिबंधी" (गा० ८९) इत्यादिगणितगाथासम्भवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणादयश्चायुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीताः । सास्वादनस्त्वायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीत ? इति चेद् उच्यते—तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाभावात् । तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरतादिष्वप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथैवानन्तानुबन्धिनां मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात्, न चैव निर्दि(र्दे)क्ष्यते, तस्माद् ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन तथाविधप्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति । किञ्च अनन्तरमेवोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रत्येकं सूक्ष्मसम्परायादिषूत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निर्देक्ष्यति न सास्वादनम्, यद् वक्ष्यति—" सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो " (गा० ९२) । बृहच्छतकेऽप्युक्तं—

सेसपएसुक्कड मिच्छो ॥ (गा० ९६) इति ।

अतोऽपि ज्ञायते 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसम्भव' । अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।

"बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाइ" ति 'मोहे' मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वे 'द्वितीय-तृतीयगुणौ विना' सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके च वर्जयित्वा शेषाणि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते ।

इदमत्र हृदयम्—मिथ्यादृष्टि-अविरत-देशविरत प्रमत्ता ऽप्रमत्ता ऽपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्तिन सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्तमाना सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कुर्वन्ति । अन्ये तु सास्वादन-मिश्रावपि सङ्गृह्य "मोहस्स नव उ ठाणाणि" ति पठन्ति तच्च न युक्तियुक्तम्, यत सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते इत्युक्तमेव, मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो न लभ्यते । तथाहि—द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति "अजया देसा बितिकसाए" इति वचनात् । यदि तु मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामितया निर्दिश्येत । न च वक्तव्यम्—मिथ्यात्वस्येतरप्रकृतिनिबन्धकोऽविरत इत्यनेन गृहीत, यतो ऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीना सप्तविधबन्धकस्त्वत्र ग्रहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीरपि मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभाव विनाऽपरं तत्परित्यागे कारण न ईक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात् सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । "छण्ह सतरस सुहुमो" ति मूलप्रकृतीना 'षण्णा' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायलक्षणाना सूचकत्वात् सूत्रस्य 'सूक्ष्म' सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध विदधाति । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहा ऽऽयुषी न बध्नाति, अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा 'सप्तदशाना' ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय सातवेदनीय-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामुत्तरप्रकृतीना सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध विदधाति, मोहा ऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत तद्भागोऽधिको लभ्यते । अपरं च दर्शनावरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासङ्ख्य दर्शनावरणचतुष्कस्य यश कीर्तेश्च स्यात् भवतीति सूक्ष्मसम्परायस्यैव ग्रहणम् । "अजया देसा बितितिकसाए" ति 'अयता' अविरतसम्यग्दृष्टय सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमाना 'द्वितीयकषायान्' अप्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागोऽप्यस्याधिको लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा 'देशा' देशविरता सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमाना 'तृतीयकषायान्' प्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुग ।
समचउरंसमसाय, वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

"पण" ति पञ्च प्रकृती —पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणा अनिवृत्तिबादर उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुरुष-संज्वलनचतुष्टयलक्षण पञ्चविध बध्नन् अयमुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, हास्य-रति-भय-जुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादर पुरुषबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनचतुष्टय बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्त-

१ ख० १-२ ग० छा० ठाणाणि हुन्ति ॥

मान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विदधाति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागं सर्वनोकषायभागं [illegible] लभ्यत इति कृत्वा। संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशबन्धं मानस्य करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नल्लोभस्यैवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, एक द्वौ वा समयौ, [illegible] विशेषा भागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकाले [illegible]मिति। तथा सुखगति–प्रशस्तविहायोगति सराऽऽयु त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकं–सुरगति-सुरानुपूर्वी-सुरायुर्लक्षणं सुभगत्रिकं–सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयस्वरूपं वैक्रियद्विक–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं समचतुरस्रसंस्थानम् असातवेदनीय "वइर" त्ति वज्रर्षभनाराचसंहननम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा उत्कृष्टप्रदेशाः करोति।

तथाहि—असातं यथा मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धको बध्नाति तथा सम्यग्दृष्टिरपि सप्तविधबन्धक [illegible] बध्नाति, तत्र प्रकृतिभागबाहुल्यादिविशेषाभावात् उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्युत्कृष्टं [illegible] बन्धं कुरुतः। देव-मनुष्यायुषोरप्यष्टविधबन्धकावुत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यविशेषेणोत्कृष्ट [illegible] बन्धं कुरुतः। देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयरूपाणां नव नामप्रकृतयो नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकाले एव बध्यन्ते [illegible], अन्यस्तेषु पूर्वोक्तरूपेषु त्रयोविंशति पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु। तां चाष्टाविंशतिं [illegible] सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च बध्नाति। तथाहि—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति [illegible]। वैक्रियद्विकं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु [illegible] उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम [illegible] स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम [illegible] निर्माणनाम इति। अतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकाले [illegible] [illegible] मिथ्यादृष्टि [illegible] उत्कृष्टयोगे वर्तमानविशेषेणोत्कृष्ट [illegible], [illegible] मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि [illegible] देवगतिनामा देवानु[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्थिराऽस्थिरयोरेकतरं शुभाऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणां वा निर्वर्तयन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति। एकोनत्रिंशतोऽष्टनवबन्धेष्विव न बध्यते, त्रिंशद्बन्धे तु बध्यते, केवलं भागबाहुल्यात् तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धकस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्ट्योर-विरोधेन भावितस्त्रयोदशानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्ध इति ॥ ९१ ॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुग सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगल—हास्य रति अरति शोकाख्यं, भय "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा "तित्थ" त्ति तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिनवकं सम्यग् गच्छति ज्ञानादिमोक्षमार्गमिति सम्यग--सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति । तत्र निद्राप्रचलयोरविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, आयुर्दलिकभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतद् न बध्नाति, केवलं-गुणशीलत्वात् तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । हास्य-रति अरति शोक भय जुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताद्यपूर्वकरणान्तानां मध्ये तद्बन्धकास्ते उत्कृष्टयोगे वर्तमाना उत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनाम्नोऽप्यविरताद्यपूर्वकरणान्तः सम्यग्दृष्टिमूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिराऽस्थिरयोः शुभाऽशुभयोः यशःकीर्ति अयशःकीर्त्योः पृथगन्यतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातनाम निर्माणमित्येतामष्टाविंशतिं तीर्थकरनामसहितामेकोनत्रिंशतं देवगतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यादृष्टिस्तु न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिका पूर्वोक्ता नामोत्तरप्रकृतयो न बध्यन्ते । त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तौ तीर्थकरनामसहितौ बध्येते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति तत्परिहारेणैकोनत्रिंशद्बन्धग्रहणम् । तथा 'सुयति' शोभनसाधुः प्रमादप्रमत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वावपि प्रमादरहितत्वेन सुयतित्वात्, ततश्चैतौ द्वावपि देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघुनाम उपघातनाम निर्माणनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद् देवगतिप्रायोग्यं त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिबन्धकं बध्नन्तावुत्कृष्टयोगे वर्तमानौ आहारकद्विकम्-आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेशं बध्नीतः ।

तीर्थंकरनामप्रकृतेरेकत्रिंशदल्पेऽपि बध्यमाने, किन्तु तत्र भागबाहुल्यात् न गृह्यते । तथा 'शेषा' भणितशेषाः षट्षष्टिप्रकृतयः तद्यथा स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धिचतुष्क स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-नारकायुष्क तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति चतुरिन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण प्रथमवर्जसंहनन प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का अगुरुलघु-उपघात पराघात उच्छ्वास आतप उद्योत अप्रशस्तविहायोगति त्रस-स्थावर-बादर सूक्ष्म-पर्याप्त अपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ दुर्भग-दुःस्वर अनादेय अयशःकीर्ति निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येता षट्षष्टिप्रकृतय 'उत्कृष्टप्रदेशाः' उत्कृष्टप्रदेशबन्धा "मिच्छो' त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि—मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का अगुरुलघु उपघात पराघात उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा ऽयशःकीर्ति निर्माणलक्षणाः पञ्चविंशतिरहितास्तु शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चित् बध्नाति परं तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यतेऽत एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यथा सम्भवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेशं करोति । या अपि चोक्तस्वरूपा पञ्चविंशतिप्रकृतय सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का अगुरुलघु उपघात-बादर प्रत्येका ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयश कीर्ति निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नामत्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्न तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावर-बादर-सूक्ष्मैकतरा-ऽपर्याप्त प्रत्येक-साधारणान्यतरा ऽस्थिरा ऽशुभ-दुर्भगाऽनादेया ऽयशःकीर्तिलक्षणो बन्ध तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरे पञ्चविंशत्यादिबन्धे, भागबाहुल्यात् । शेषाणां तु मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग पराघात-उच्छ्वास-त्रस-पर्याप्त स्थिर शुभलक्षणानां दशप्रकृतीनां यथासम्भव पर्याप्तैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्ट प्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरे षड्विंशत्यादिबन्धे, भागबाहुल्यादेव । नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन, तत्रैतासां बन्धाभावादेव । तौ च त्रयोविंशति-पञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवत, देव पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् तस्येति अत एतासामपि पञ्चविंशति प्रकृतीनां यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानानां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगो मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोतीति ॥ ९२ ॥

निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्ध स्वामित्वमभिधित्सुराह—

सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुग ।
सम्मो जिण जहन्न, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुनि' प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधु —अप्रमत्तयति "दुन्नि" त्ति द्वे प्रकृती आहारकद्वि

१ स १-२ त० म० छा० °ऽशुभ-य° ॥

रीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशौ बध्नाति । अयमर्थ —परावर्तमानयोगो घोलनायोगी स्सन्, अष्टविधबन्धक स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थाम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्त विहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क तैजस कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माण तीर्थकरनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतमेकत्रिंशत प्रकृतीबध्नन् अप्रमत्तयतिराहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते परं तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्ग्रहणम् । एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम् । तथा असंज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोग परावर्तमानयोग इत्यर्थ, नरकत्रिक-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षण सुरायु इत्येताश्चतस्र प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धा करोति । तथाहि—पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूप स्वभावादेवैताश्चतस्र प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असंख्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसंक्लेश विशुद्ध्यभावाद् नैता बध्नाति, अत सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्य । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्यत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तर पुन सङ्क्रामत स्वभावादल्पचेष्टा भवतीति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविध बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्य सर्वजघन्यवीर्ये वर्तमान प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैक चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशबन्ध करोतीति परमार्थ । पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतु समयावस्थायित्वादुत्तरत्राप्येष काल नियमो द्रष्टव्य । ननु पर्याप्तसंज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टय न बध्नाति ? इति चेद् उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्, जघन्योऽपि हि पर्याप्तसंज्ञियोग पर्याप्तासंज्ञ्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येय गुण इति । तथा "सुरविउव्विदुग" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुरद्विकं-सुरगति सुरानुपूर्वीरूप वैक्रियद्विक–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षण 'जिननाम' तीर्थकरनामेत्येतत प्रकृ तिपञ्चक "सम्मो' त्ति सम्यग्दृष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमान "जहन्न' ति जघन्य–जघन्यप्रदेश करोति ।

तथाहि—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्न प्रथमसमय एव मनुष्यगति प्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता नामप्रकृतित्रिंशत मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिक शरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थान वज्रऋषभनाराचसंहनन पराघातमुच्छ्वासं प्रशस्तविहायो गतिस्त्रसं बादरं पर्याप्त प्रत्येक स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा ऽशुभयोरेकतरं यश कीर्ति अयश की र्त्योरेकतरं सुभग सुस्वरमादेय तीर्थकरनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माणमितिलक्षणा बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टि स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्तीर्थकरनाम जघन्यप्रदेशबन्ध करोति । नारकोऽपि श्रेणिकादिवदव तद्बन्धक सम्भवति, परमिह देवोऽल्पयोगत्वादुत्तरवासी गृह्यते, नारकस्तु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽन्येषु समुत्पन्नो

१ स १-२ म० स० छा० °र्थवं ॥

नेह गृहीत । तिर्यञ्चस्तु तीर्थकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिता । मनुष्यास्तु भवाद्यसमये तीर्थकर नामसहिता नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति । एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थकर नामसहित संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्प न लभ्यते । अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थकरना मैव न बध्यतेऽत शेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणम् । देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थकरनामा देव-नारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासं पराघात प्रशस्तविहा योगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टय तैजस-कार्मणे अ गुरुलघु उपघात निर्माण तीर्थकरनामेतिलक्षणा देवगतिप्रायोग्या नामैकोनत्रिंशत निर्वर्तयन् स्व प्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्ध करोति । देव नारका हि तावद् भवप्रत्ययादेवैतत् प्रकृतिचतुष्टय न बध्नन्तीति नेहाधिकृता । तिर्यञ्च पुनरभोग-भूमिजा भवाद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत्, केवल ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपा रचयन्ति, नैकोनत्रिंशदादिबन्धान्, तेषा तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितत्वात्, तिरश्चां तु तदबन्ध कत्वात्, अतस्तेषु भागा अल्पे लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते । मनुष्यस्याप्यष्टाविंशति-बन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते । त्रिंशद् एकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवत, तत्र च वीर्यमल्प न लभ्यते । अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्य एकोनत्रिं-शद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम् । ननु तिर्यक्षु पर्याप्तासञ्ज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत् प्रकृतिचतुष्टय बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृत ? उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्, अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्ता-संज्ञियोगो जघन्योऽप्यसङ्ख्येयगुण इति । “सुहुमनिगोयाइखणि सेस” त्ति सूक्ष्मनिगोदजी वोऽपर्याप्तक आदिक्षणे—भवाद्यसमये ‘शेषा’ भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसङ्ख्या प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भव च बह्वी प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात्, सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥ ९३ ॥

निरूपित जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्यादिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह—

दसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाण ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

दर्शनषट्क–चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शन-केवलदर्शनावरण निद्रा प्रचलालक्षण, भय जुगुप्से “ बितितुरियकसाय ” त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वितीयकषाया –अप्रत्याख्याना वरणा , तृतीयकषाया –प्रत्याख्यानावरणा , तुर्या –चतुर्था कषाया संज्वलनकषाया , वि घ्नानि पञ्च–दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, ज्ञानानि–ज्ञानावरणानि मतिज्ञानावर ण श्रुतज्ञानावरणा ऽवधिज्ञानावरण मन पर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च इत्येतासा मुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशत प्रकृतीना तथा “मूलछगे” त्ति मूलप्रकृतिषट्के–ज्ञानावरण-दर्श नावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्ध “चउह” त्ति चतुर्धा सादि अनादि ध्रुवा ऽध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थ । इह तावद् यत्र सर्वपदस्य कमप्रकृत्या गृह्यते

स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत् सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वो ऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीतः । अत्र सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणे स जघन्यः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत् सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्या ऽजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीत इति । अनया परिभाषया दर्शनावरणषट्कादीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति।

तथाहि—चक्षुर्दर्शनावरणा ऽचक्षुर्दर्शनावरणा ऽवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरणलक्षणप्रकृतिचतुष्कविषय क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैक द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया ऽऽयुःकर्मद्वयं सर्वथा न बध्नाति, दर्शनावरणस्याप्येतदेव प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति, न शेषप्रकृती, अतो मोहनीया ऽऽयुर्भागयोर्यथासम्भवमत्र प्रवेशात् निद्राप्रचलभागस्यापि चात्र प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धः उत्कृष्टयोगेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थाकालश्चैतावानेव भवतीत्येक द्विसमयग्रहणम् । पुनः चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवो ऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । निद्रा-प्रचलाद्विकस्य त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगवृत्तयः सप्तविधबन्धकाले एक द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधति। आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्ती यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृत । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, सम्यक्त्वसहितं चोत्कृष्टयोगमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा भय-जुगुप्सयोः सम्यग्दृष्टिरविरतादिरपूर्वकरणान्त उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । कषायभागः पुनः सजातित्वात् कषायाणामेव भवति नैतयोः । मिथ्यादृष्टिस्तु मिथ्यात्वं बध्नातीति मिथ्यात्वभागो न लभ्यत इति तस्येहाग्रहणम् । सास्वादन-मिश्रयोस्तु लभ्यते मिथ्यात्वभागः, केवलमुक्तनीत्या तयोरुत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तावपि नेहाधिकृतौ । अपूर्वकरणोपरिवर्तिनस्तु भय-जुगुप्से न बध्नन्तीत्यपूर्वकरणान्तविशेषणम् । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चासौ न बध्नात्यनस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च सास्वादनस्त्वनन्तानुबन्धिनो बध्नातीति तयोरग्रहणम् । मिश्रस्तु मिथ्या

स्यमनन्तानुबन्धिनश्च न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते। देशविरतादयस्त्व-प्रत्याख्यानावरणाद् न बध्नन्तीति शेषव्युदासेनाविरतसम्यग्दृष्टिरेवाधिकृत। एष चाविरतसम्यग्दृष्टि र्यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगो देशविरत सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, अप्रत्याख्यानावरणाना-मप्यसावबन्धकोऽतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति। एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादर पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टय बध्नन् उत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्ट प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वा ऽऽद्य कषायद्वादशकभाग सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा। संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रय बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशं करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने माया-लोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टप्रदेशं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नन् तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशं करोति एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषण मागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणम्। एष चानिवृत्तिबादरो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा ज्ञानावरणपञ्चका ऽन्तरायपञ्चकविषय क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्ट. प्रदेशबन्ध प्राप्यते। सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया ऽऽयुष्कद्वय न बध्नाति, एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च यथास्व प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम्। इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्ध कृत्वोप शान्तमोहावस्थां प्राप्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽपि प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवो ऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति।

तदेव त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भावित। शेषत्रयस्य का वार्ता[1] इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट जघन्या ऽजघन्यप्रदेशबन्धरूपे सर्वत्र त्रिविधेऽपि 'द्विधा' द्विविकल्प सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थ। तत्रानुत्कृष्टभावनप्रसङ्गादुत्कृष्टस्तावदपि प्रकृतीना सूक्ष्मसम्परायादिषु दर्शित, स च तथाभावनया बध्यमानत्वात् सादि, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धागमने वाऽध्रुव इति भवतीत्यध्रुव। जघन्य पुनरेतासा त्रिंशत्प्रकृतीना प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते। जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्य योगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव पर्याप्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते। द्वितीयादिसमयेषु पुनः समयवृद्धयानुपातवृद्धेन वीर्येण बध्नन् इति भवाद्यसमयग्रहणम्। द्वितीयादिसमयप्रभृत्यजघन्य

1 ध० १-२ न० म० 'र' अनु ॥

बध्नाति, पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्या ऽजघन्यौ प्रदेशबन्धौ संज्ञिनाममुमता द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवतः ।

इति भावितस्त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्धा, उत्कृष्ट-जघन्या ऽजघन्यप्रदेशबन्धश्च द्विधा । शेषे का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वह" त्ति पदं भूयोऽप्यनुवर्त्यते, "शेष" भणितत्रिंशत्प्रकृत्यवशिष्टे स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्वा ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-वर्णादिचतुष्क-तैजस कार्मणा ऽगुरुलघु-उपघात निर्माणलक्षणे सप्तचत्वारिंशत्ध्रुवप्रकृतिसन्दर्भ औदारिक-वैक्रिय ऽऽहारकशरीरत्रया-ऽङ्गोपाङ्गत्रय-संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विक ऽऽनुपूर्वीचतुष्क-तीर्थकरनाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा ऽऽतपनाम पराघातनाम त्रसदशक-स्थावरदशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-साता ऽसातवेदनीय-हास्य-रति अरति शोक वेदत्रया ऽऽयुश्चतुष्टय लक्षणत्रिसप्ततिसङ्ख्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतिसमूहे च सर्वत्रोत्कृष्टा ऽनुत्कृष्ट जघन्या ऽजघन्यलक्षणे चतुर्विकल्पेऽपि प्रदेशबन्धे 'द्विधा' द्विप्रकार सादिरध्रुवश्च बन्धो भवति । तथाहि—अध्रुवबन्धिनीनाम् [illegible] ध्रुवबन्धित्वादेवोत्कृष्टा ऽनुत्कृष्ट-जघन्या ऽजघन्यस्य प्रदेशबन्धः सर्वोऽपि सादि-अध्रुव एव भवति । स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिनां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगे वर्तमानः मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धमेक द्वौ वा समयौ यावत् करोति, सम्यग्दृष्टिस्तु मन्दयोगेन बध्नाति [illegible] मदपगम् । मिथ्यात्ववर्जा एता प्रकृती सास्वादनोऽपि बध्नाति, परं [illegible] तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तस्याग्रहणम् । उत्कृष्टयोगाच्चैतावत् [illegible] । उत्कृष्टयोगात् प्रतिपत्य स एवानुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति पुनः स [illegible] सादि-अध्रुवौ । जघन्यप्रदेशबन्धं पुनरेतासां सर्वजघन्यवीर्यलब्धिमदपर्याप्तादेर्बध्नन् [illegible] बध्नन् अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदः करोति, द्वितीयादिसमयेषु च स एवाजघन्यं [illegible] पुनः स एव जघन्यं करोतीत्येतावपि द्वौ सादि अध्रुवौ भवतः । तथा वर्णचतुष्क-तैजस कार्मणा ऽगुरुलघु उपघात निर्माणलक्षणस्य प्रकृतिनवकस्याप्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टौ जघन्या ऽजघन्यौ च [illegible] बन्धौ सादि-अध्रुवावेवमेव वक्तव्यौ । नवरमुत्कृष्टयोगो सूक्ष्मसम्परायादि [illegible] तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थान [illegible] अपर्याप्तक प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम [illegible] नामेति वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात [illegible] बध्नन् मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धो बाच्यः । शेषं सर्वं । [illegible] बन्धो भङ्गा भवन्तीति त्रयोविंशतिबन्धस्थानमिति ।

भाविता उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या ऽजघन्य [illegible] । सम्प्रति मूलप्रकृती प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य [illegible]—[illegible] ऽप्यन्तोभो वउर त्ति मूलप्रकृतिषट्क [illegible] ऽन्तरायरूपेऽनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चतुर्धा सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुवभेदात् [illegible] । तथाहि—आयुर्मोहवर्जषण्णाम् [illegible]

न्येक द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीयाऽऽयुः कर्मद्वयं न बध्नाति, किन्त्वेतदेव प्रस्तुतकर्मषट्कं बध्नाति, अतो मोहनीयाऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवे[शाद्] बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उत्कर्नीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक द्विसमयग्रहणम् । [ए]न चोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽवैर प्रतिपत्य सर्वो पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि [illegible]–निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति ।

उक्त षण्णा मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्पः । शेषत्रिके साद्यादिभङ्गक[ा] [illegible]—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्या ऽजघन्य-उत्कृष्टप्रदेशबन्धरूपे [illegible] 'द्विधा' सादि-अध्रुवरूपो द्विप्रकारो बन्धो भवति । तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्टः सूक्ष्म [illegible] दर्शित, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, उपशान्ताद्यवस्थायां [illegible] न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरमीषां षण्णां कर्मणां प्रदेशबन्धो [illegible] सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । [illegible] अल्पयोगेन भवतीत्युक्तम्, स चाल्पीयान् यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । [illegible] बीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयादि[illegible], पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तालययोगं प्राप्य [illegible] करोति, पुनरालययमित्येवं जघन्याऽजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसा[र] [illegible] सादि-अध्रुवौ भवत इति ।

[illegible] साद्यादिभङ्गं । अथायःशिष्टमोहनीयाऽऽ[युषोः] [illegible] प्रकटयन्नाह–"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति '[illegible]' भणि[illegible] जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे 'द्विधा' सादि अध्रुवरू[पः] [illegible] । [illegible] सम्यग्दृष्टिरविरतिरविरतो [illegible] करोति, पुनरनुत्कृष्टयोगं प्राप्यानुत्कृष्टं प्रदेश[बन्धं] [illegible] सादी [illegible] जघन्या ऽजघन्यौ [illegible]प्रदेश[illegible] सादि अध्रुवौ भवत । [illegible] सादि[illegible] ॥ ६५ ॥

[illegible]

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥

योग —वीर्यं तस्य स्थानानि—वीर्यविभागसङ्घातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—"सेढिअसंखिज्जंसे" त्ति श्रेणेः असङ्ख्येयांशे श्रेण्यसङ्ख्येयांशे । एतदुक्तं भवति—श्रेणेर्वक्ष्यमाणरूपाया असङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः, केचित्तु बहु-बहुतर-बहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन छिद्यमानमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, सर्वोत्कृष्टवीर्ययुक्तप्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसङ्ख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि तत्तिया सव्वा ।
तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥

(शत० बृ० भा० गा० ११८-११)

भागा अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । तत्र सर्वस्तोकाविभागपरिच्छेदयुक्तानां लोकासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसङ्ख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपरिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपरिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा, एवमेकैकयोगपरिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकश्रेण्यसङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्या । एतदर्थस्तावदल्पकल्पनया [illegible] ।

[illegible]

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असङ्ख्येयवीर्यभागान्विता अल्पकल्पनया [illegible] भागान्विताः स्थाप्यन्ते । ते च जीवप्रदेशा एतस्यां वर्गणायामसङ्ख्येयप्रतर[illegible] सङ्ख्या अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एतासां तावत्समुदाय एकं स्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धक इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—[illegible] परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्वाभ्यामित्यादिभिर्वा वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते, किं तर्हि ? प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु [illegible] तेभ्योऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्ते, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यपरिच्छेदेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, एवमेकैकोत्तरवृद्धिप्रवृत्ता अपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिन्यो वर्गणा वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते किं तर्हि ?

---

१ प्रज्ञया छिद्यमानाः असङ्ख्येयलोकानां यावन्तः प्रदेशाः । तावन्तो वीर्यभागा जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् ॥ सर्वजघन्यकवीर्ये जीवप्रदेशे तावन्तः सर्वे । ततोऽसङ्ख्येयगुणिता बहुवीर्ये जीवप्रदेशे ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥

स्यैक द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध प्राप्यते। सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीयाऽऽयुः कर्मद्वय न बध्नाति, किन्त्वेतदेन प्रस्तुतकर्मषट्कं बध्नाति, अतो मोहनीयाऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम्। उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उत्कनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम्। उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक द्विसमयग्रहणम्। एन चोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कृत्वा उपशान्तमोहावस्था चारुह्य पुन प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि सदा–निरन्तर बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति।

उक्त षण्णा मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्प। शेषबन्धत्रिके साद्यादिभङ्गका नाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टप्रदेशबन्धलक्षणे त्रिके 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विप्रकारो बन्धो भवति। तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्ट सूक्ष्मसम्परायेऽनन्तरं दर्शित, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि, उपशान्ताद्यवस्थायां पुनरनुत्कृष्टबन्धगमने चावश्य न भवतीत्यध्रुव। जघन्य पुनरमीषा षण्णा कर्मणा प्रदेशबन्धो ऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते। जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते। द्वितीयादिसमयेषु त्वसावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम्। द्वितीयादिसमयेत्वयमप्यजघन्य बध्नाति, पुन सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोग प्राप्य स एव जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, पुनरजघन्यमित्येव जघन्याऽजघन्ययो प्रदेशबन्धयो संसरतामसुमता द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवत इति।

भाविता मूलप्रकृतिषट्कस्योत्कृष्टादिबन्धविकल्पा साद्यादिभङ्गकै। अथावशिष्टयोर्मोहा ऽऽयुषोरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धान् साद्यादिविकल्पत प्ररूपयन्नाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते मोहे आयुषि च सर्वत्रोत्कृष्टेऽनुत्कृष्टे जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे 'द्विधा' सादि अध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवति। तत्र मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिर्वाऽनिवृत्तिबादरान्त सप्तविधबन्धकाले उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति, पुनरनुत्कृष्टयोग प्राप्यानुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, पुनरुत्कृष्ट पुनरप्यनुत्कृष्टमित्येवमुत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धयो संसरतां जन्तूनां मोहनीयस्योत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धौ द्वावपि सादि-अध्रुवौ भवत। जघन्या ऽजघन्यौ त्वेतत्प्रदेशबन्धौ यथा सूक्ष्मनिगोदादिषु संसरतामसुमतां कर्मषट्कस्यानन्तरमेव भावितौ तथाऽत्रापि [illegible] [illegible]। आयुष्कस्य त्वध्रुवबन्धित्वादेव तत्प्रदेशबन्ध उत्कृष्टादिचतुर्विकल्पोऽपि सादि अध्रुव एव भवन्ति ॥ ७४ ॥

[illegible] प्रदेशबन्धे साद्यादिप्ररूपणा। सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि [illegible] प्रदेशबन्धस्य कारणं प्रवर्तन्ते, तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणं स्थिति[illegible] [illegible], अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम् अनुभागस्थानानि तु तत्कार्य [illegible] इति कृत्वा [illegible] पदार्थाना परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

1 ख ग-२ म० म० ८ अनु ॥

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥

योगः—वीर्यं तस्य स्थानानि—वीर्यविभागांशसङ्घातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—"सेढिअसंखिज्जंसे" त्ति श्रेणेः असङ्ख्येयांशे श्रेण्यसङ्ख्येयांशे । एतदुक्तं भवति—श्रेणेर्वक्ष्यमाणरूपाया असङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः, केचित्तु बहु बहुतर-बहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन छिद्यमानमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसङ्ख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

पन्नाए छिन्ना, असंखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्के ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि तत्तिया संखा ।
तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥

(शत० बृ० भा० गा० ९९८-९९)

भागा अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोकाविभागपलिच्छेदकलितानां लोकासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपलिच्छेदतया घनत्वेका वर्गणा, तत एकेन योगपलिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीयवर्गणा, एवमेकैकयोगपलिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेण्यसङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्या । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते ।

[illegible]

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असङ्ख्येयवीर्यभागान्विता अप्यसत्कल्पनया दश भागान्विताः स्थाप्यन्ते । ते च जीवप्रदेशा एकैकस्यां वर्गणायामसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धकं इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते, किं तर्हि ? प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपलिच्छेदास्तेभ्योऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्ते, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते, किं तर्हि ?

१ प्रज्ञया छिद्यमाना असङ्ख्यलोकानां यावन्तः प्रदेशाः । तावन्तो वीर्यभागा जीवप्रदेश एकैकस्मिन् ॥ सर्वजघन्यकवीर्ये जीवप्रदेशे तावती सङ्ख्या । ततोऽसङ्ख्यगुणिता बहुवीर्ये जीवप्रदेशे ॥ २ सं० १-२-त० प्र० छा० मुद्रि० तस्मि ॥ ३ सं० १-२-छा० त० छ० च प्रे ॥

उत्कृष्टः तु सर्वबहुतैजस्कायिकजन्तुना सूचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः—

सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जसु ।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोहीखेत्त निद्दिट्ठो ॥ (आव० नि० गा० ३१) इति ।

ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या यावदुत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसङ्ख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति, अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्याता भेदाः सम्पद्यन्ते इति । उक्तं च—

जम्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसो सव्वबहुयसिहिसूई ।
अवियव्वित्त फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ (　　　　)
तत्तारतम्मभेया, जेण बहु हुंति आवरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्त, पयडीण जोगओ जाणे ॥ (　　　　) इति ।

चतसृणामानुपूर्वीणां बन्ध-उदयवैचित्र्येणासङ्ख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छतकचूर्णिकारोक्तो विशेषः ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तेषां बन्ध-उदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशानां बन्ध-उदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद् विसदृशास्त्वेतावन्त एव न भेदा भवन्ति, ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात् प्रकृतयः इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्त इति ।

तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः 'स्थितिभेदाः' स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त-समयाधिकान्तर्मुहूर्त-द्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त-त्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असङ्ख्यातगुणा भवन्ति, एकैकस्याः प्रकृतेरसङ्ख्यातैः स्थितिविशेषैर्बध्यमानत्वात् । एकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन कदाचिदन्यतरेण कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभेदमेकं च जीवमाश्रित्य असङ्ख्याताः स्थितिभेदा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवान् आश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदानामसङ्ख्यातगुणत्वम् ? इति, अतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदा असङ्ख्यातगुणा भवन्तीति ।

तथा स्थितिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसायाः "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि असङ्ख्यातगुणानि । तत्र स्थानं-स्थितिः कर्मणोऽवस्थानं तस्या बन्धः स्थितिबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः,

१ सर्वबहुकाग्निजीवा निरन्तरं यावद् भृतवन्तः । क्षेत्रं सर्वदिक्कं परमावधिक्षेत्रं निर्दिष्टम् ॥ २ यस्मात्त्ववधिविषय उत्कृष्टः सर्वबहुकशिखिसूची । यावन्मात्रं स्पृशति तावन्मात्रप्रदेशसमः ॥ तत्तारतम्यभेदा येन बहवो भवन्त्यावरणजनिताः । तेनासङ्ख्यगुणत्वं प्रकृतीनां योगतो जानीहि ॥

तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, स्थितिबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि। तानि स्थितिभेदेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्तरेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते, अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति ।

तथा "अणुभागट्ठाण" त्ति "पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्" 'अनुभागस्थानानि' अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि। तत्रानु–पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भज्यते–सेव्यतेऽनुभूयते इत्यनुभागः रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामयिकम् उत्कृष्टतश्चाष्टसामयिकान्तमेवोक्तम्, अतः एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैकं जीवं वा समाश्रित्य असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि—जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देश-क्षेत्र-काल-भाव-जीवभेदेनासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति ॥ ९५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएस, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥

'ततः' तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः 'कर्मप्रदेशाः' कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।

तथा "तओ रसच्छेय" त्ति 'ततः' तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि—इह क्षीर-निम्बरसाद्यधिश्रयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तण्डुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणोः सम्बन्धी केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् विभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति, यस्माद् भागादतिसूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेद उच्यते, एवमूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपर-

१ सं० १–२ त० म० छा० °त्तरे तु स्थिति° ॥

माणु सर्वजीवानन्तगुणा सम्प्राप्यन्ते । उक्त च—

गेहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ॥ (कर्मप्र० गा० २९)

गुणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते, शेष सुगमम् ।

कर्मप्रदेशा पुन प्रतिस्कन्ध सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्तेऽत्र कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा सिद्धा भवन्तीति ।

अत्राह—ननूक्तो भवद्भि समपञ्च प्रदेशबन्ध पर कस्माद् हेतोरमु जीव करोति' इति वक्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य प्रदेशबन्धस्य प्रसङ्गत पूर्वोक्तानां प्रकृति स्थिति अनुभागबन्धाना च हेतून् निरूपयन्नाह—"जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभाग कसायाउ" त्ति योगो वीर्यं शक्तिरुत्साह पराक्रम इति पर्याया , तस्माद् योगाद् प्रकरण प्रकृति —कर्मणा ज्ञानावरणादिस्वभाव , प्रकृष्टा पुद्गलास्तिकायदेशा प्रदेशा —कर्मवर्गणान्त पातिन कर्मस्कन्धा , प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशम् समाहारो द्वन्द्व , तद् जीव करोतीति शेष , प्रकृति प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थ । एतदुक्त भवति—यद्यपि षडशीतिकशास्त्रे मिथ्यात्वाऽविरति-कषाय-योगा सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहादिगुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थाया तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्या ज्ञायते प्रकृति प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधान कारणम् । तथा " ठिइअणुभाग कसायाउ" त्ति स्थान–स्थिति , कर्मणोऽन्तर्मुहूर्तादिका सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तमवस्था नमित्यर्थ , अनु–पश्चाद् बन्धोत्तरकाल भजन–स्थिते सेवनमनुभवन यस्यासावनुभागो रस इत्यर्थ , स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागम् , समाहारो द्वन्द्व , तद् जीव करोतीति शेष । कस्मात्' इत्याह—'कषायात् कषायवशात् । इयमत्र भावना—कषाया –क्रोध-मान-माया-लोभा , तज्जनितो जीवस्याध्यवसायविशेष कषायशब्देनेहोच्यते, कषाया ह्युदीर्णा नानाजीवाना कालभेदे नैकजीवस्य वा सर्वजघन्याया अपि ज्ञानावरणादिकर्मस्थितेर्निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यान्तर्मौहूर्तिकान्यध्यवसायस्थानानि जनयन्ति, समयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि तु त एव तेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, द्विसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, त्रिसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, एव समयोत्तरवृद्धतज्जघन्यस्थितिजनकानि [illegible] षाधिकानि तावद् वाच्यानि यावत् त एव कषाया समयोनोत्कृष्टज्ञानावरणादिस्थि[illegible] सायस्थानेभ्य सर्वोत्कृष्टतत्स्थितिजनकाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि [illegible] । [illegible] सर्वाण्यपि मिलितान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येव भवन्ति, [illegible] क्षेत्रमात्मृणन्ति । स्थापना चेयम्—



तदेवमेतै [illegible] स्वात् कर्मण स्थिति कषायप्रत्यया [illegible] सिद्धा । [illegible]

१ प्रहणसमये जीव उत्पादयति तु गुणान् स्वप्रत्ययत । [illegible]

सा च घनीकृतलोकस्वरूपप्ररूपणापूर्विकैव च वक्तुं शक्यतेऽतः प्रसङ्गतो घनस्वरूपमन्यत्र बहुस्थानोपयोगित्वात् प्रतरस्वरूपं च प्रचिकटयिषुराह—

चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जुः, रज्जुप्रमाणं तु स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पौरस्त्यपाश्चात्यवेदिकान्तं यावद् दक्षिणोत्तरवेदिकान्तं वा यावदवसेयम्, उच्छ्रयमानमिदमस्य, अधस्ताद् देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः, शेषस्थानेषु पुनः कोऽपि कियानस्य विस्तर इति । तदेवरूपो लोकः 'बुद्धिकृतः' मतिपरिकल्पनया विहितः 'भवति' सम्पद्यते । किंरूपो भवति ? इत्याह—सप्त रज्जवः प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जुः, स चासौ घनश्च—समचतुरस्र आयामविष्कम्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघनः । स चेत्थं बुद्ध्या विधीयते—इह रज्जुविस्तीर्णायाम्मना(?)डया दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधो देशोनरज्जुत्रयविस्तृतं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद् यावदुपरिष्टाद् रज्जु(ज्ज्व)सङ्ख्येयभागविस्तरं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरदिग्भागे विपरीतं योज्यते, उपरितनं भागमधः कृत्वाऽधस्तनं चोपरि विधाय सङ्घात्यते इत्यर्थः, एवं च कृतेऽधस्तनं लोकस्यार्धं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रितं किञ्चिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्णं बाहल्यतोऽप्यध क्वचिद् देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्यं जायते ।

इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते—तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्वर्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जुविस्तरे उपर्यन्ते च समीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जूच्छ्रिते बुद्ध्या गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपणैव वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एवं च कृते उपरितनं लोकस्यार्धं द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम्, इह चतुर्णां खण्डाना पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्यां दिशि यौ ताभ्यां द्वाभ्यामप्येकएवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवापराभ्यामपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमुक्तम्, देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र स्वनियतबाहल्यम्, इद च सर्वं गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । एवं च मेलिते आधस्त्यखण्डस्योच्छ्रये यद् इतरोच्छ्रयाधिकं तत् खण्डयित्वोपरितनमङ्घातितखण्डस्य बाहल्ये ऊर्ध्वायतं संयोज्यते, एवं च सातिरेका पञ्च रज्जवः क्वचिद् बाहल्यं सिध्यति । तथा आधस्त्यखण्डस्य बाहल्यात् यथासम्भवं देशोनसप्तरज्जुबाहल्यं प्रागुक्तम्, अत उपरितनखण्डबाहल्याद् देशोनरज्जुद्वयमत्राधस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूपं गृहीत्वोपरितनखण्डबाहल्ये सङ्घात्यते एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतत् चतुरस्रीकृतनभःखण्डं किंचिदूनसप्तरज्जुबाहल्यं...स्वपि प्रदेशे रज्ज्वसङ्ख्येयभागाधिका षड् रज्जवो भवन्ति व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुबाहल्य

१ सटीकेयं गाथा सार्धशतकप्रकरणस्य ११४ तमी गाथा—संपादक ।
२ बुद्धि० छा० देवेन्द्रसूरि० ॥

मिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिदूनमसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णस मान व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्ट बाहल्यादिधर्मे परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यभ्यस्यति, स्तादिति भाव । अत एतन्मतेनेनात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आ म्माभ्यां तु प्रत्येक देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिद जातम्, व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज् द्रष्टव्या । तदेव लोको व्यवहारनयमतेन अत्रायाम विष्कम्भ-बाहल्ये प्रत्येक सप्तरज्जुप्र भवतीति समुदायार्थ । एतच्च वैशाखस्थानस्थितपुरुषाकारं सर्वत्र वृत्तस्वरूप लोक सं भावनीयमिति ।

प्ररूपितो घन । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—"तद्दीहेगपएसा सेढि" त्ति स घ वृततलोक सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घ दैर्घ्य यस्या सा तद्दीर्घा, एकप्रदेशेति वीप्साप्र निर्देशस्यैकैकाकाशप्रदेशा शूचि श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषिता सामान्येन ग्रहण तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य सम्बन्धिनी इयमेव सप्तरज्जुप्रमाण देशिकीश्रेणिर्ग्राह्या ।

अधुना प्रतर प्ररूपयितुमाह—'प्रतरश्च' प्रतर पुन क ? इत्याह—'तद्वर्ग' शूचिस्वरूपाया श्रेणेर्वर्ग –शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्ग । कोऽर्थ ? शूच्या शूचेर्गु उच्यते । तथथा—इहासङ्ख्येययोजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रम व्या [ ], तस्याश्च तयैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशात्मको भवति । स्थापना—[ ] इति

निरूपित सप्रपञ्च प्रदेशबन्धस्तत्स्वामी च । तन्निरूपणे च समर्थिता "न धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता । सेयर चउह विवागा, वुच्छं बंधविह सामी य ॥" इ द्वारगाथा । अधुना चशब्दसूचितामुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं च व्याचिख्यासु प्रथम शमश्रेणिं प्रकटयन्नाह—

अण दस नपुंसित्थी, वेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेज पद्म शुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्त रोपयोगोपयुक्तोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त का दवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमाना प्रकृती शुभा एव नाशुभा, अशुभाना च प्रकृतीनामनुभाग चतु स्थानक सन्त द्विस्थानक करोति, शु द्विस्थानक सन्त चतु स्थान-(प्रथामम्–४०००)कम्, स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सं स्थितिबन्ध पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागहीन करोति । इत्थ करणका मन्तर्मुहूर्त काल यावदवस्थाय ततो यथाक्रम त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरण चतुर्थी तूपशान्ताद्धा । तत्र य

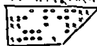
१ इयमेव आवश्यकनिर्युक्तौ ११६ तमा । अस्या गाथायाष्टीका तु स्वातिकाप्रकरण मलय गिरि इत्यस्या गाथायाष्टीकासमा ॥

विकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्त च शुभप्रकृतिबन्धा दिक तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघात रसघात गुणश्रेणिं गुणसक्रम वा करोति, तद्योग्यवि शुद्ध्यभावात् । प्रतिसमय च नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एव तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तकरणचर मसमय । एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति। स्थापना चेयम्—



इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैक सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्न, अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशो धिश्रेण्या । तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधि सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एव तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धाया सङ्ख्येयो भागो गतो भवति। तत सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धे सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरितन जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरितन जघन्य विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्यध एकैक विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेय यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्य विशुद्धिस्थानम् । तत शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्ट विशोधिस्थानम् ।

भणित यथाप्रवृत्तिकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमय च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधि सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्था नादनन्तगुणा । तत प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृती यसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एव जघन्यमुत्कृष्ट च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेय यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा । स्थापना चेयम्—



अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघात रसघात गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रममन्य स्थितिबन्ध च युगपदारभते । तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिम भागाद् उत्कृष्टत प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्र जघन्यत पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्र स्थितिखण्ड खण्डयति, तद्दलिक चाधस्ताद् या स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थ , तत पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्र स्थिति खण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धाया प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यद् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीन जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, तत पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरण परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि या स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिक गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् नेय यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमय, तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्या मनागतिरिक्त वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधि । एव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपो वक्तव्य । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिक गृह्यते तद् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् नेय यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमय । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवत क्रमश क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेप शेषे शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति ।

तथा गुणसङ्क्रमो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद् दलिक परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् वक्तव्य यावच्चरमसमय ।

तथाऽन्य स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्व स्तोक स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठा यात । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

व्याख्यातमपूर्वकरणम् । इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते—अनिवृत्तिकरण नाम—यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एव तावद् वाच्य यावदनिवृत्तिकरणचरमसमय । अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टाना तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्ति व्यावृत्तिर्न विद्यत इत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम । अस्मिश्चानिवृत्तिकरणे यावन्त समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि । एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि—[illegible]। अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ता पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्र मुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्यमाण परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगत च दलिकमावलिकामात्र वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुक

[illegible]

[illegible] किन्तु [illegible]

[illegible]—

[illegible]

[illegible] (… १४३)

[illegible]

किन्तु [illegible]

[illegible]

[illegible] वर्तमाना [illegible]

[illegible] किन्तु [illegible]

रसघात स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्या । गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदि तव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येव वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्त र्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिते किञ्चित् समधिक न्यून वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथम स्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगत दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा, यत् पुनर्द्वितीयस्थिते सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय-उदीरणाभ्या च प्रथमस्थि तिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विक शेष तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते, साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति । आवलिकाया तु शेषी भूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते, तत केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरम समये च द्वितीयस्थितिगत दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व चेति । उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

[1]चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिई ताहे बिइयठिइ तिहाणुभाग करेइ । त जहा—सम्मत्त सम्मामिच्छत्त मिच्छत्त च । ( ) इति ।

स्थापना— ।ooo। । ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावाद् औपशमिक सम्यक्त्वमवा प्नोति । उक्त च कर्मप्रकृतौ—

मिच्छत्तुदए खीणे, [2]लहए सम्मत्तमोवसमिय सो ।
लभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्व ज ॥ (गा० ३३०)

अन्यत्राप्युक्तम्—

जात्यन्धस्य यथा पुसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शन तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥ ( )
आनन्दो जायतेऽत्यन्त, सात्त्विकोऽस्य महात्मन ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात् ॥ ( )

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति । उक्त च—

[3]सम्मत्तपढमलभो, सव्वोवसमा—(कर्मप्र० गा० ३३५) इति ।

सम्यक्त्व चेद् प्रतिपद्यमान कश्चिद् देशविरतिसहित प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम् । उक्त च पञ्चसङ्ग्रहे—

[4]सम्मत्तेण समग, सव्व देस च को वि पडिवज्जे । (गा० ७६०)

---

१ चरमसमयमिथ्यादृष्टिरेष्यत्काले औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थिति त्रिधानुभाग करोति । तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व च ॥ २ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिक स । लाभेन यस्य लभ्यत आत्महितमलब्धपूर्वं यत् ॥ ३ सम्यक्त्वप्रथमलाभ सर्वोपशमात् ॥ ४ सम्यक्त्वेन समक सर्वं देश च कोऽपि प्रतिपद्यते ॥

बृहच्छतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—

> उवसमसम्मद्दिट्ठी, अंतरकरणे ठिओ कोइ ॥
> देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तापमत्तभावं पि ।
> सासायणो पुण न किं पि लहेइ ।(   ) इति ।

ततो देशविरत प्रमत्ता ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते ।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्संयतानामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक सम्यग्दृष्टि संयमे वर्तमान सन् अन्तर्मुहूर्तमानेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशम यतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकाया तथा वदितव्य ।

एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकाम पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति । करणाना च स्वरूप प्रागवत् । केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्त गुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादर सम्परायगुणस्थानके । अत्रापि स्थितिघातादय पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते । नवरमिह सर्वासामशुभ प्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रम प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेद । तत प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते । अत्र चान्तरे देवगति देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-समचतुरस्र-वर्णचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्र शस्तविहायोगति स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय निर्माण-तीर्थकरसंज्ञिताना त्रिंशत प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेद । तत स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेद, हास्य-रति अरति शोक भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेद, सर्वक- र्मणां देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरण व्यवच्छेदश्च । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रवि शति, तत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धाया सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरण करोति । तत्र चतुर्णां संज्व लनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणा च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थिति स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणां त्रयोदशकषायाणामष्टाना च नोकषायाणामावलिकामा त्रम् । स्वोदयकालप्रमाण च चतुर्णां संज्वलनाना त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसक वेदयोरुदयकाल सर्वस्तोक, स्वस्थाने च परस्परं तुल्य, तत पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुण, तत संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक, तत संज्वलनमानस्य विशेषाधिक, तत संज्वलनमायाया विशे षाधिक, तत संज्वलनलोभस्य विशेषाधिक । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्य तत्तु ग्रन्थगौरव

१ औपशमिकसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थित कोऽपि ॥ देशविरतिमपि लभते कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभाव मपि । सास्वादन पुनर्न किमपि लभते ॥

संज्व० लोभ					
अप्र० लोभ	प्र० लोभ				
संज्व० माया					
अप्र० माया	प्र० माया				
संज्व० मान					
अप्र० मान	प्र० मान				
संज्व० क्रोध					
अप्र० क्रोध	प्र० क्रोध				
पुरुषवेद					
हास्य	रति	अरति	शोक	भय	जुगुप्सा
स्त्रीवेद					
नपुंसकवेद					
सम्य० मोह	मिश्र मोह	मिथ्या० मोह०			
अनं० क्रोध	अनं० मान	अनं० माया	अनं० लोभ		

ननु संज्वलनादीनां पुनः उपशमः, अनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनमोहनीयस्योपशमिततरात् न युज्यते, न, दर्शनमनिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिर चोपशमादित्यविरोध इति। आह—क्षयोपशम उपशमयोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते—क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः, प्रदेशानुभवतस्तु उदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति। यदाह भाष्यपीयूषपायोधि —

वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो।[1]
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि॥

(विशेषा० गा० १२०३)

अन्यत्राप्युक्तम्—

उवसंतं कम्मं जं, न तओकड्ढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु॥ (   )

अस्या अक्षरगमनिका—सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयं कर्म, अन्यस्य सर्वोपशमाभावात्, 'सव्वोवसमो मोहस्सेव'[2] (   ) इति वचनात्, 'न तदपकर्षति' न तदपवर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः। अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् नाप्युदये तद् ददाति नापि तद् वेदयतीत्यर्थः, उपलक्षणात् तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम्। न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन 'गमयति' सङ्क्रमयति। न च तत् कर्म उपशान्तं सद् 'उत्कर्षयति' उद्वर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां वृद्धिं नयति, निधत्ति-निकाचनयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वाद् नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति।

आह—सम्यक्त्वेऽनन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत् कथमुपशमः? इति उच्यते—स अनुभागकर्माश्रित्य न तु प्रदेशकर्मेति। तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा—

जीवे[5] णं भंते! सयकडं कम्मं वेएइ? गोयमा! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं न वेएइ। से केणट्ठेणं पुच्छा, गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य।

१ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकेष्वत्र नानुभावं सः। उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि॥ २ सर्वोपशमो मोहस्य चैव॥ ३ एतत्पद्यं कर्मप्रकृत्याः ३१५ तमगाथया संवादि॥ ४ स० १-२ स० प्र० छ० नया॥ ५ जीवो भदन्त! स्वयंकृतं कर्म वेदयति? गौतम! अस्त्येकक वेदयति अस्त्येकक न वेदयति। अथ केनार्थेन? पृच्छा। गौतम! द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—प्रदेशकर्म चानुभागकर्म च। तत्र यत् प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति तत्र यदनुभागकर्म तदस्त्येकक वेदयति अस्त्येककं न वेदयति॥

शुद्धपरिणाम उत्तमसंहनन । तत्र पूर्वविदप्रमत्त शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, अपरे तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—अविरतो देशविरत प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयतो वा प्रथमम तर्मुहूर्तेन "अण" त्ति अन तानुबन्धिन क्रोध-मान-माया लोभान् युगपत् क्षपयति। तद न ततमभाग तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्व सहैव तदशेन युगपत् क्षपयति । यथा ह्यति सम्भृतो दावानल स्वल्पर्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति, एवममावपि क्षपकस्ती व्रशुभपरिणामत्वात् सावशेषम यत्र प्रक्षिप्य क्षपयतीति । एव पुन "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्व क्षपयति, ततोऽनेनैव क्रमेण सम्यक्त्व क्षपयति । सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपक कृतकरण इत्युच्यते । अस्या च कृतकरणाद्धाया वर्तमान कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणा गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रत्यन्यतमस्या गच्छति । तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

उक्त च—

पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥ ( )

इह यदि बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभतेऽनन्तानुबन्धिना च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युप रमति, तत कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यन तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्या त्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितप रिणामोऽवश्य त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्य तमस्या गतावुत्पद्यते । उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥ (विशेषा॰ गा॰ १३१६)
तम्मि मओ जाइ दिव, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ (विशेषा॰ गा॰ १३१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं काल न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा॰ गा॰ १३२५) इति।

आह पर —ननु मिथ्यादर्शनादिक्षये त्रिमसायदर्शनो जायते ' उत न ' इति, उच्यते— सम्यग्दृष्टिरेवासौ । आह—ननु सम्यग्दर्शनपरिक्षये कुत सम्यग्दृष्टित्वम् ' उच्यते—निर्मद नीकृतकोद्रवकल्पा अपनीतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यग्दर्शन तत्परिक्षये च तत्त्व श्रद्धानलक्षणपरिणामाप्रतिपातात्, प्रत्युत श्लक्ष्णाभ्रपटलापगमे चक्षुर्दर्शनवद् विशुद्धतरापत्ते ।

यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधि —

१ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ २ बद्धायु प्रतिपन्न प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । तदा मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिव तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणाम पुन पश्चान्नानामतिगतिकः ॥ ३ बद्धायु प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥

> खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ तिदंसणाईओ[1] ।
> भन्नइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं[1] ॥
> निव्वलियमयणकुद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
> खीणं न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
> सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
> दिट्ठि व्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥

यदि वा—

> जह सुद्धजलाणुगयं, दुद्धं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
> सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं एवं ॥ (विशेषा०भा०गा०१३१८–२१)
> तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते ।
> सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥ (   )

तदेव सप्तकक्षयोऽविरतसम्यग्दृष्टौ देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते वा प्राप्यते । यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते तत सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च भाष्यकृता—

> इयरो अणुवरओ चिय, सयलं सेढिं समाणेइ । (विशेषा० भा० गा० १३२५)

तत्र य सकलश्रेणिं करोति तस्य क्षपकस्य तिस्त्रनिजभवे सुर-नारक तिर्यगायुस्त्रयस्यासत्त्वमेव । उक्तं च—

> सुरनरयतिरियआउं, नियभवे सव्वजीवाणं ॥ (   ) इति ।

एतदेवाह—"तिआउ" त्ति देवायु-नारकायु-तिर्यगायुर्लक्षणमायुस्त्रयम्, स च क्षपक इह सम्यग्दर्शनावशेष एव "अट्ठ" त्ति अष्टप्रकृतीः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा युगपत् क्षपयितुमारभते । एतासु चार्धक्षपितास्वेवान्तराले त्रयोदश नामप्रकृतीस्तिस्रो दर्शनावरणप्रकृतीरमूः षोडश प्रकृतीः क्षपयति । तथाहि—"इगविगल" इत्यादि । "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, विकलशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिकम्—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिरूपम्, स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपम्, "उज्जोय" त्ति उद्योतनाम, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम्, नरकद्विकं—नरकगति-नरकानुपूर्वीरूपम्, स्थावरद्विकं—स्थावर-सूक्ष्माख्यम्, "साहार" त्ति साधारणनाम आतपनामेति । ततोऽष्टानां कषायाणां यदवशिष्टं तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एव

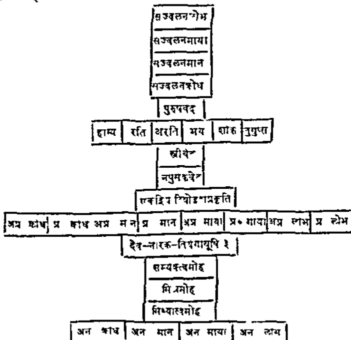
---

१ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति ततस्त्रिदर्शनातीतः ? । भण्यते, सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वक्षये कुतः सम्यक्त्वम् ? ॥ निर्वलितमदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीणं न तु यो भावः श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्वपुद्गलक्षयतः । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगतं दुग्धं शुद्धं जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमेवम् ॥ तस्मिंश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिध्यन्ति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनरकयुगलिषु गतिरिदं तु जिनकालिकनराणाम् ॥ २ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ ३ सुरनारकतिर्यगायुः निजभवे सर्वजीवानाम् ॥

सूत्रादेश । अन्ये पुनराहु —षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति, ततो "नपु" त्ति नपुंसकवेद क्षपयति, तत स्त्रीवेदमिति ॥ ९९ ॥

छग पु सजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहिय, सयगमिण आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

तत 'षट्क हास्य-रति अरति शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, तत पुवेद खण्डत्रय करोति, तत्र खण्डद्वय युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्ड तु संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रम । अथ स्त्री प्रारम्भिका तत प्रथम नपुसकवेद क्षपयति, तत पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम्, तत स्त्रीवेदम् । अथ नपुसक प्रारम्भक ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथम स्त्रीवेद क्षपयति, तत पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम्, ततो नपुसकवेदम् । तत संज्वलनान् क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणान् प्रत्येक मन्तर्मुहूर्तमात्रकालेनोक्तेनैव न्यायेन क्षपयति । श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, अन्तर्मुहूर्तानाममसङ्ख्येयभेदत्वात् । लोभचरमखण्ड तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमखण्ड पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि समये समय एकैक क्षपयति । स्थापना चेयम्—



इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावच्चरमलोभ खण्डमिति, तत ऊर्ध्वमसङ्ख्येयखण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभाणुक्षय, तत ऊर्ध्वं

यथाख्यातचारित्री, स च महाप्रतरणपरिश्रान्तवद् मोहसागरं तीर्त्वा विश्राम्यति। ततश्छद्मस्थ वीतरागत्वद्विचरमसमये "दो निद्द" त्ति 'द्वे निद्रे' निद्रा प्रचलालक्षणे क्षपयति, ततश्चरमसमये "विग्घवरणक्खए" त्ति विघ्नानि–दान लाभ भोग उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि "वरण" त्ति प्राकृतत्वादाकारलोपे आवरणानि–मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणाऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्याय ज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनाव रणलक्षणानि नव, ततो विघ्नानि चावरणानि च विघ्नावरणानि तेषां क्षये–निर्मूलोच्छेदेन 'ज्ञानी' केवलज्ञानी भवति। यदाहु श्रीमदाराध्यपादाः—

चरमे[1] नाणावरणं, पचविहं दसणं चउवियप्पं।
पचविहमतराय, खवइत्ता केवली होइ ॥ (आव० नि० गा० १२६)

इदमुक्तं भवति—अविरतादीनामन्यतरः प्रथमसंहननः सुविशुद्धपरिणामः क्षपकश्रेणिमा रूढो गुणस्थानक्रमेणानन्तानुबन्ध्यादीनुक्तप्रकारेण क्षपयन् यावत् क्षीणमोहचरमसमये विघ्नपञ्च क-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कं क्षपयित्वा सर्वसङ्ख्यया तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणन वक-मोहनीयाष्टाविंशति आयुस्त्रिक-नामप्रकृतित्रयोदशकाऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिषष्टिप्रकृती क्ष पयित्वा केवलज्ञानी भवति। स च भगवान् भवस्थकेवली लोकमलोकं सर्वं सर्वात्मनाऽविकल विमलकेवलेन पश्यति, न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् पश्यति। यदाहु श्रीमदाराध्यपादाः —

संभिन्नं[2] पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य अयो गिकेवलिगुणस्थानकमारुह्य तद्द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीः तच्चरमसमये त्रयोदशप्रकृतीश्च क्षप यित्वा शिवमचलमरुजमक्षयमव्याबाधममन्दानन्दरससारमासादयतीति, उक्ता क्षपकश्रेणिः। तद्भ णने च व्याख्याता "नमिय जिणं धुवबंधोदयसंता" इत्यादिद्वारगाथा। सम्प्रति शतगाथाप्रमा णत्वेन यथार्थनामकं शतकशास्त्रं समर्थयन्नाह—"देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा" त्ति देवेन्द्रसूरिणा–करालकलिकालपातालतलनिमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्र सूरिचरणसरोरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितम्–अक्षरविन्यासीकृतम्, कर्मप्रकृति-पञ्चसङ्ग्रह बृह च्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेषः। किम्? इत्याह—'शतकं' शतगाथाप्रमाणम् 'इदम्' अनुभू यमानस्वरूपम्। किमर्थम्? इत्याह—'आत्मस्मरणार्थम्' आत्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥१००॥

॥ इति श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका ॥

---

१ चरमे ज्ञानावरणं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विकल्पम्। पञ्चविधमन्तरायं क्षपयित्वा केवली भवति॥
२ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तन्नास्ति यन्न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च॥

(॥ अथ प्रशस्तिः ॥)

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
शतमन्वशतकमणतः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥
कुन्दोज्वलकीर्तिभर, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोग ।
लब्धिशनसिन्धुजलधि, श्रीगौतमगणधर पातु ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बू प्रभवादयो मुनिवरिष्ठा ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयास श्रेयसे सन्तु ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायका ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरय ॥
जगज्जनितबोधाना, तेषा शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेया समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरय ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
स्वोपज्ञशतकटीका, सुबोधेय विनिर्ममे ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति-श्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधै ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥
यद् गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञै, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥
स्वोपज्ञशतकटीकां, कृत्वेमा यन्मयार्जित सुकृतम् ।
भुवबन्धादिविमुक्त, समस्तु सर्वोऽपि तेन जन ॥

ग्रन्थाग्रम्-४३४०

समाप्तोऽय स्वोपज्ञटीकोपेत शतकनामा पञ्चम कर्मग्रन्थ ।

शिव भवतु सकल
सङ्घस्य

॥ अर्हम् ॥

नमः श्रमणसङ्घाधिपेभ्य गुरुपादेभ्यः ।

नमः श्रीमद्विजयानन्दसूरिपट्टप्रभाकराय श्रीमद्विजयकमलसूरिभ्य ।

महर्षिश्रीमच्चन्द्रर्षिमहत्तरविरचितं

सप्ततिकाप्रकरणम् ।

पूज्यश्रीमन्मलयगिरिमहर्षिविनिर्मितविवृतिसमलङ्कृतम् ।

ॐ सर्वविदे नमः ।

अशेषकर्मांशतमःसमूहक्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः ।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूप, प्रभु स जीयाज्जिनवर्धमान ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसिद्धान्तो, दुर्णयक्षमदर्शिता ।
गुरुचारुपदान्तर्सा, सन्तो मलयमारुत ॥
भूयो तावगादन्तौ, सप्ततमन्दबुद्धिभि ।
मम स्पष्टावबोधार्थं, सप्ततिटीकां करोम्यहम् ॥
अर्हाणि पूर्णविचारयोगाद्, मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।
छिन्नं कुर्भशिरयदस्गाद्, मत्वाऽपि कृप समुपैति पर्णम् ॥

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत् । ततः सप्ततिकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलत्वम्, तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथंचित् प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, ततस्तेषां प्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिकं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सिद्धपएहिँ महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
वोच्छं सुण संखेवं, नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥ १ ॥

सिद्ध-प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्यर्थः । ततः सिद्धानि पदानि येषु ग्रन्थेषु ते सिद्धपदाः—कर्मप्रकृतिप्राभृतादयः, न हि तेषां पदानि केचिदपि चालयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञोक्तार्थानुसारित्वात्; तेभ्यो बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपं वक्ष्ये । अथवा स्वसमये सिद्धानि-प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणि पदानि तानि सिद्धपदानि तेभ्यः तान्याश्रित्य तेषु विषय इत्यर्थः । अत्र स्थाने "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहे० २-२-७४)

---

१ सं० १ त० ... ॥ २ सं० १ त० म० छा० पुस्त ॥ ३ सं० १ त० निस्सर ॥

इति सूत्रेण पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र । तत्र बन्धो नाम—कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः १ । कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदय २ । तथा च बन्धसमयात् सङ्क्रमेणात्मलाभसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र सङ्क्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत् तेषां स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता ३ । सदिति सूत्रे निर्देशो भावप्रधानः, तेन सदिति सत्ता व्याख्याता। प्रकृतीनां स्थानानि—समुदायाः प्रकृतिस्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची । बन्ध-उदय-सत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये । तं च वक्ष्यमाणं शृणु। 'शृणु' इति क्रियापदं च श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादस्खलनेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु मधुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हमागममार्गो निवेदनीय इति स्थापनार्थम् । तदुक्तम्—

> अणुवत्तणाएँ सेहा, पायं पावेंति जोग्गयं परमं ।
> रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥
> एत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न होंति[१] ।
> जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥
> को नाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए ।
> दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं बेंति ॥ (पञ्चव० गा० १७-१९)

संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह—'महार्थं' महान्—प्रभूतोऽर्थः—अभिधेयं यस्य स महार्थः । ननु संक्षेपो बिन्दुगर्भसङ्ग्रहरूपः, ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थं महार्थमिति विशेषणम्? उच्यते, संक्षेपस्यान्यथाऽपि सम्भवात् । तथाहि—आख्यानकाऽऽख्यापक-महाशास्त्रस्य संक्षेपः कथ्यते न च महार्थाः, तथा पयार्थस्याल्पीयस्त्वात्, ततस्तत्सममसु संक्षेपः मा भूदिति विनेयजन इवमभ्यर्थनाऽऽशङ्कापनोदार्थं महार्थमिति विशेषणम् ।

पुनरप्यमुं विशेषयति—'निस्यन्दं दृष्टिवादस्य' दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूत-निस्यन्दरूपम् । दृष्टिवादो हि परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ रूपपञ्चप्रस्थान । तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत् पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् कर्मप्रकृतिनामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं प्राभृतं तस्मिन्निर्दिष्टे ग्रन्थे बन्धोदय सूत्रकृता दर्शितो वक्ष्यते । ततोऽस्य बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां संक्षेपे दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूप । अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या। दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन श्रीवर्धमानस्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहितः, सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना, तन्निस्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible]

ननु बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकम् ? आहोस्वित् संवेधरूपः ? उच्यते—संवेधरूपः, तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति—

कइ बंधतो वेयइ, कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥ २ ॥

कतिशब्दः परिमाणप्रश्नच्छायाम् । कति कर्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते ? कति वा तथा तथा बध्नतो वेदयमानस्य च 'प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि' प्रकृतिसत्तास्थानानि ? । एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सति आचार्योऽस्मिन् विषये भङ्गजालमनेकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत् प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह—"मूल" इत्यादि । मूलप्रकृतिषु—ज्ञानावरण-दर्शनावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणादिरूपासु, उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्ता-संवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु बहवो भङ्गाः सम्भवन्ति, ते चास्मिन् प्रकरणे यथावद् वैविक्त्येन प्रतिपाद्यमानाः सम्यग् बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ, तद्यथा—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् आयुः नाम गोत्रम् अन्तरायं च । तत्र ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानं—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः, आव्रियतेऽनेनेत्यावरणं—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम् १ । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, तस्यावरणं दर्शनावरणम् २ । तथा वेद्यते—आह्लादादिरूपेणानुभूयते यत् तद् वेदनीयं, यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते न शेषम् ३ । तथा मोहयति—सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५ । १ । २) इति वचनात् कर्तर्यनीय ४ । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति—आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतिनिर्जिगमिषोर्जन्तोरित्यायुः, उभयत्रापि औणादिक उस् प्रत्ययः ५ । तथा नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ६ । तथा गूयते—शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् ७ । तथा जीवं दानादिकं चान्तरा एति न जीवस्य दानादिकं कर्तुं ददातीत्यन्तरायम् ८ । एता मूलप्रकृतयः ।

एतासु प्रथमतो बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते, प्रकृतिस्थानेषु हि प्रथमं प्ररूपितेषु सत्सु तदाश्रितः संवेधः प्ररूप्यमाणः सुखेनैवावगन्तुं शक्यते । तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धं प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त षड् एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां च बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त, एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवा-

१ सं० पुस्त प्र० ॥ २ स० १ त० °स्त्री बन्धता° ॥ ३ स० मुद्रि० °न्धोऽभव° ॥

यावायु मोहनीयवर्जाः षट्, एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—एतासामुक्तरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्पराये, स च उपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं मैसप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत्, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटिं यावत्।

स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः? इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे मासमप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः।

तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा कृता। सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कति प्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते? इति निरूप्यते—तत्रायुषि बध्यमानेऽष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते। मोहनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त वा। तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयः, ता एवायुर्वर्जाः सप्त। ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षड् वा। तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव। मोहनीया ऽऽयुर्वर्जाः षट्, ताश्च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते। वेदनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त षड् एका च। तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव। एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः, सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते। उक्तं च—

> आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए।
> बज्झंतयम्मि बज्झंति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ ॥ (पञ्चस०गा०८३८)

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—उदयं प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिसपर्यवसानः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः। तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—सप्तानामुक्तस्वरूपाणां प्रकृतीनामुदयः उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत् प्राप्यते। उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा समोऽप्यन्तर्मुहूर्तिकत्वात्। तथा घातिकर्मव्यवच्छेदे चतस्रः प्रकृतयः, तासामुदयो जघन्येनान्तर्मुहूर्तिकः, उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः।

१ मुद्रि० °सप्तकमा° एवमग्रे ऽपि॥ २ छे० १ त० सप्तानां प्रकृ° ॥ ३ त०२ म० °कस्याम ॥
४ आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए। बज्झंते बज्झंति सेसेसु छ सत्तऽट्ठ ॥

तदेवं कृता उदयमधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामप्युदयः, मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां सप्तानां वा । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीयाऽऽयु-र्नाम-गोत्राणामुदयेऽष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च ।

सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—सत्तां प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना । तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानकं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति । घातिकर्मचतुष्टये क्षीणे च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना ।

कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्याः प्रकृतेः सत्तायां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—मोहनीयसत्तायामष्टानां [illegible] ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायाणां सत्तायां अष्टानां सप्तानां वा सत्ता । तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, मोहनीये क्षीणे सप्तानां, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके । वेदनीयाऽऽयु-र्नाम-गोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता । तत्राष्टानां सप्तानां च प्रागिव [illegible], चतसृणां तु वेदनीयादीनामेव, सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या । ॥

सम्प्रति बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधप्ररूपणार्थमाह—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं ।
एगविहे तिविगप्पो, एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥

अष्टविधबन्धक-सप्तविधबन्धक-षड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाष्टौ कर्माणि प्राप्यन्ते । 'कथम्?' इति चेद् उच्यते—इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः, सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानाः, षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसम्परायाः, एते च सर्वेऽपि सरागाः । सरागत्वं च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्यं सत्ता, ततो मोहनीयस्योदयसत्ताकत्वाद् अष्टविध-सप्तविध-षड्विधबन्धकेषूदये सत्तायां चाष्टौ प्राप्यन्ते । [illegible] भङ्गा [illegible] तद्यथा—अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता । एष [illegible] आयुर्बन्धकाले, एष च मिश्रदृष्टि[illegible] [illegible] । तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष [illegible] विकल्प आयुर्बन्धाभावे, एष च मिथ्यादृष्टेरारभ्य [illegible] । तथा षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष [illegible] सूक्ष्मसम्परायस्य [illegible] । [illegible]

१ सं० १ मुद्रि० [illegible] ॥ २ सं० छा० मुद्रि० [illegible] ॥ ३ सं० [illegible]

एकस्मिन् केवले वेदनीये बध्यमाने इत्यर्थ , 'त्रिविकल्प ' इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात् पुम्त्व निर्देश , त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थ । तद्यथा—एकविधो बन्ध सप्तविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्योदयो न विद्यते, सत्ता पुनरस्ति । तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्य नि शेषतोऽपगमात् । तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष पुनर्विकल्प सयोगिकेवलिगुणस्थानके, तत्र घातिकर्मणामशेषतोऽपगमात् चतसृणा चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्ताया च प्राप्यमाणत्वात् । "एगविगप्पो अबन्धम्मि ' त्ति 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्प , तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय-सत्ते चाघातिकर्मणा भवत ॥ ३ ॥

तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना परस्पर सवेधे सप्त विकल्पा उक्ता । सम्प्रति एतानेव जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

सत्तट्ठबन्धअट्ठुदयसत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पच भगा, दो भगा हुति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय १ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय २ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय ३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय ४ अपर्याप्तद्वीन्द्रिय ५ पर्याप्तद्वीन्द्रिय ६ अपर्याप्तत्रीन्द्रिय ७ पर्याप्तत्रीन्द्रिय ८ अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रिय १० अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय ११ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १२ अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १३ पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १४ इति । एतानि च सप्रपञ्च **षडशीतिकवृत्तौ** व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते । तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येक द्वौ द्वौ विकल्पौ भवत , तद्यथा—सप्तविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाल मुक्त्वा शेषकाल सर्वदैव लभ्यते, अष्टविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिक , आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । ' एगम्मि पच भग" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्च भङ्गा भवन्ति । तत्रादिमौ द्वौ भङ्गौ प्रागिव भावनीयौ, त्रयस्तु शेषा इमे—षड्विधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा वर्तमानस्य वेदितव्य , तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता, एष च क्षीणमोहगुणस्थानके । तथा द्वौ भङ्गौ भवत केवलिनि , तद्यथा—एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्प सयोगिकेवलिनि , बन्धाभावे चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनि । इह केवलिग्रहण सन्निभवल्लेदार्थम् , द्वौ भङ्गौ

१ ख० छा० °नके प्राप्यते तत्र ॥ २ सामर्थ्येनास्य ॥

भवन केवलिनो न तु संज्ञिन इत्यर्थः । अत एव च केवलिग्रहणादिदमवसीयते केवली मनो विज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति ॥ ४ ॥

सम्प्रति तानेव सप्त विकल्पान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पो ।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदयसन्तकम्माणं ॥ ५ ॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश, तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते । तत्राष्टसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणामेको विकल्पो भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता । अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्माद् न भवति ? उच्यते—स्वभावत एवैषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात् । सूक्ष्मसम्पराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, सूक्ष्मसम्परायो हि बादरकषायोदयाभावाद् आयुर्मोहनीयं च न बध्नाति, ततस्तस्य षड्विध एव बन्धो भवति । उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, यत उपशान्तमोहः कषायोदयाभावाद् न ज्ञानावरणीयादि बध्नाति, किन्तु वेदनीयमेकं केवलम्, ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति, मोहनीयस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावाद् उदयः सप्तविधः । क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, अत्र मोहनीयं क्षीणत्वाद् उदये सत्तायां च न प्राप्यते, ततः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता । सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भवति, ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव सत्ता । अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात्, ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता । तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु 'गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टि-सासादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा—अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते । तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते ॥ ५ ॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्तः स्वामित्वं च । सम्प्रति उत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधः प्रोच्यते —

१ सं० १ त० 'कस्मोद' ॥ २ छा० मुद्रि० 'वे च सत्त ॥ ३ सं० 'स्य प्रे' ॥
४ इत ऊर्ध्वम्— पञ्च नव दुन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला । दुन्नि य पञ्च य भणिया पयडीओ आणुपुव्वीए ॥ [illegible] (पता) पुस्तकादर्शेषु तु नोपलभ्यते । यदत्र [illegible]

उत्तरप्रकृतयश्चेमा , तद्यथा—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरण मन प
यज्ञानावरण केवलज्ञानावरणम्, एताश्च पञ्चापि ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतय । तत्र "मन ज्ञाने
मनन मति , यद्वा मन्यते–इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियत वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति , योग्यदे
शावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष , मतिश्च सा ज्ञान च मतिज्ञान तस्याव
रण मतिज्ञानावरणम् १ । श्रवण–श्रुत अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेष , 'एवमाक
वस्तु घटशब्दाभिलाप्य जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थम्' इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधार
समानपरिणामे शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थ , श्रुत च त
ज्ञान च श्रुतज्ञान तस्यावरण श्रुतज्ञानावरणम् २ । तथा अवशब्दोऽध शब्दार्थ , अव–अधोऽ
विस्तृत वस्तु धीयते–परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधि , यद्वा अवधि –मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु प
च्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षित ज्ञानमपि अवधि , अवधिश्च तद् ज्ञान च अवधिज्ञा
तस्यावरण अवधिज्ञानावरणम् ३ । तथा परि –सर्वतोभावे, अवन अव , तुदादिभ्योऽनकावित्य
धिकारे अकितौ चेत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्यय , अवन गमन वेदनमिति पर्याया , परि अव
पर्यव , मनसि मनसो वा पर्यव मन पर्यव सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ , मन पर्यवश्च स ज्ञान च
मन पर्यवज्ञानम्, इद चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्, मन पर्याय
ज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनस पर्याया –बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मन पर्याया , ते
तेषां वा सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम्, तस्यावरण मन पर्यायज्ञानावरण मन पर्यवज्ञानावर
वा ४ । तथा केवलम्–एक मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव
नि० गा० ५३९) इति वचनात्, शुद्ध वा केवल तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकल वा केव
प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमन सम्पूर्णोत्पत्ते , असाधारण वा केवल अनन्यसदृशत्वात्, अन
वा केवल ज्ञेयानन्तत्वात्, केवल च तद् ज्ञान च केवलज्ञानम्, तस्यावरण केवलज्ञानावरणम् ५॥

दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतय , तद्यथा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचला
प्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ अचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ अवधिदर्शनावरण ८
केवलदर्शनावरण च ९ । तत्र "द्रा कुत्सायां गतौ" नितरां द्राति–कुत्सितत्वम् अविस्पष्ट
गच्छति चैतन्य यस्या सा निद्रा, भिदादित्वादङ्, यस्यां सुखप्रतिबोधिकासाविति स्वप्ने प्रबो
उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा कारणे कार्योपचारात् १ ।
तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वात् मध्यपदलोपी समास , तस्यां
हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनादिभि प्रबोधो [illegible] , अत सुखप्रबोध
हेतुनिद्रापेक्षया अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २ । तथा उपविष्ट
ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृति

[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ १ ख० ६ ग० घ० [illegible] ॥ [illegible]
[illegible]

रपि प्रचला ३ । तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, अत्रापि मध्यपदलोपी समास, एषा हि चङ्क्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते, तत स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४ । तथा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धि –आत्मशक्तिरूपा यस्या स्वापावस्थाया सा स्त्यानर्द्धि, तद्भावे हि उत्कर्षत प्रथमसंहनस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैतत् कथानकमागमे—

कचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको दिवाऽप्यामिषेनमास्त्यानद्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा मलीकृत, ततः स तस्मिन् बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानद्ध्युदये वर्तमान समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुन सुप्तवान् इत्यादि ।

तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धि ५ । तथा चक्षुषा दर्शन चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरण चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ । अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ । अवधिरेव दर्शन–रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ८ । केवलमेव–सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूप दर्शन केवलदर्शनम्, तस्यावरण केवलदर्शनावरणम् ९ । अत्र निद्रापञ्चक प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति । आह च गन्धहस्ती—

निद्रादय समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टय तु उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात हन्ति दर्शनलब्धिमिति ॥

(तत्त्वा०अ०८सू०८ भाष्यटी०भाग०२पत्र१३५) ॥

वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती, तद्यथा—सातवेदनीयमसातवेदनीय च । तत्र सात–सुख तद्रूपेण यद् वेद्यते तत् सातवेदनीयम् १ । असात–दुःख तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् असातवेदनीयम् २ ॥

मोहनीयस्योत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशति । मोहनीय हि द्विधा, तद्यथा—दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय च । दर्शनमोहनीयमपि त्रिधा, तद्यथा—मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व च । तत्र यदुदयाद् जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धान तद् मिथ्यात्वम् १ । यदुदयात् पुनर्जिनप्रणीत तत्त्व न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति, मतिमान्द्यादिना सम्यगसम्यग् वा एकान्तेन निश्चयाकरणत सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात्, तत् सम्यग्मिथ्यात्वम् २ । उक्त च शतकबृहच्चूर्णी—

जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहाइयस्स वि पुरिसस्स एत्थ ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण

---

१ स० १ सं० प्र० °ष्टय उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात हन्ति ॥

२ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधार्तस्यापि पुरुषस्य अत्र ओदनादिके नैकविधे ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुत, एव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवाजीवपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

सो ओवसमाइओ आसवो न कयाइ दिट्ठो नत्थि सुओ, एवं सम्मामि-
च्छत्तम्मि वि जीवाजियगयाण ठाणं न दुट्ठं न य सिट्ठं इच्चाइ।

यदुदयात् पुनः सम्यग् जिनप्रणीत तत्त्वं श्रद्धत्ते तत् सम्यक्त्वम् ३। चारित्रमोहनीयं पुनर्द्विधा, तद्यथा—कषाया नोकषायाश्च। तत्र कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः-संसारः, तमयन्ते-गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदाच्चतुर्विधाः। तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। [उक्तं च—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम्। ततोऽनन्तानुबन्धीनि, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ॥]

तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात् तेऽप्रत्याख्यानाः। उक्तं च—

नाल्पमप्युत्सहेद् येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात्। अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥

तथा प्रत्याख्यानं-सर्वविरतिरूपं आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः, कृत् "बहुलं" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनट्, सर्वविरतिविघातिनो देशविरतिविघातिनो न इत्यर्थः। उक्तं च—

सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते। तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि सम्-ईषद् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः। [उक्तं च—

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी। समीषज्ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलना स्मृताः ॥]

चत्वारश्चतुर्गुणिताः षोडश भवन्तीति कृत्वा षोडश कषायाः।

तथा कषायसहचारिणो नोकषायाः। नोशब्दोऽत्र सहचारवाची। कषायसहचारित्वं च कषायैः सह सदा वर्तनात् कषायोद्दीपनाद्वा। उक्तं च—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि। हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

ते च नोकषाया नव, तद्यथा—वेदत्रिकं हास्यादिषट्कं च। तत्र वेदत्रिकं-स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च। तत्र यदुदयात् स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुराभिलाषवत् स स्त्रीवेदः १। यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स पुरुषवेदः २। यदुदयात् पुनः स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत् स नपुंसकवेदः ३। हास्यादिषट्कं हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सारूपम्। तत्र यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यमोहनीयम् १। यदुदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तद् रतिमोहनीयम् २। यदुदयात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेष्वेव वस्तुष्वप्रीतिरुपजायते तद् अरतिमोहनीयम् ३। तथा यदुदयवशात् प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तत् शोकमोहनीयम् ४। यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो बिभेति तद् भयमोहनीयम् ५। यदुदयवशात् पुनर्जन्तोः शुभाऽशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६ ॥

१ सं० सं० १ त०° नन्तसंसा° ॥ २ सं० १ त० सं० °षायैः सह ॥ ३ मुद्रि° °षायैः सह ॥

आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतय, तद्यथा—नरकायुस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुश्च ॥

नाम्नो द्विचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतय, तद्यथा—गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनाम त्रसनाम स्थावरनाम बादरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तनाम अपर्याप्तनाम प्रत्येकनाम साधारणनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम शुभनाम अशुभनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम सुभगनाम दुर्भगनाम आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशःकीर्तिनाम अगुरुलघुनाम उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम निर्माणनाम तीर्थकरनाम चेति।

तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवै प्राप्यत इति गति —नारकत्वादिपर्यायपरिणति । सा चतुर्धा, तद्यथा—नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति देवगतिश्च । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिश्चतुर्धा ।

तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपमसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाग् यत् सामान्य सा जाति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जाति । इदमत्र तात्पर्य—द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धम्, भावरूप तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" (   ) इति वचनात् । यत् पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धन तथारूपसमानपरिणतिलक्षण सामान्य तदव्यभिचारसाध्यत्वाद् जातिनामसाध्यम् । उक्त च—

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जाति तन्निमित्त जातिनाम । (   )

तच्च पञ्चधा, तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

तथा शीर्यत इति शरीरम्, तत् पञ्चधा—औदारिक वैक्रियम् आहारक तैजस कार्मण च । तत्र उदार–प्रधानम्, प्राधान्य चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदार–सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रिय प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रिय योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिकम्, विनयादिपाठादिकण्, तन्निबन्धन नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशै सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थ [1] । एव शेषशरीरनामस्वपि भावना कार्या । तथा विविधा क्रिया विक्रिया, तस्या भव वैक्रियम्, तथाहि—तदेक भूत्वाऽनेक भवति अनेक भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति महच्च भूत्वाऽणु, तथा खचर भूत्वा भूमिचर भवति भूमिचर भूत्वा खचरम्, तथा अदृश्य भूत्वा दृश्य भवति दृश्य भूत्वाऽदृश्यमित्यादि । तच्च द्विधा—औपपातिक लब्धिप्रत्यय च । तत्रौपपातिक उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देव-नारकाणाम् । लब्धिप्रत्यय तिर्यङ्

१ सं० सं० १ म० त० मान्य तदन्यथास्य ॥

मनुष्याणाम् । वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम २ । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते-निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात्, कर्मणि वुञ् यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभपुद्गलसमूहघटनात्मकं वस्तुनिर्मितं [illegible], तन्निबन्धनं नाम आहारकनाम ३ । तथा तेजसा-तैजसपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतु यद्वशाच्च विशिष्टतपोमाहात्म्यसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तन्निबन्धनं नाम तैजसनाम ४ । तथा कर्मणो विकारः कार्मणम्, कर्मपरमाणवः [illegible] क्षीर-नीरवदन्योऽन्यानुगता सन्तः कार्मणं शरीरम् । तदुक्तम्—

> कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।
> सव्वेसि सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं ॥ (अनुयो० हा० टी० पत्र ८७)

अत्र 'सव्वेसिं' इति सर्वेषाम्-औदारिकादीनां शरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम् । न खल्वमूलस्य [illegible] भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः ।

इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम्, तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिवेष्टितो जन्तुर्मरणदेशमपहाय उत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिवेष्टितो [illegible] कस्मात् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलानाम् [illegible] चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि -

> [illegible] नोपलक्ष्यते ।
> [illegible] ॥ (   )

[illegible] पुद्गलादाय [illegible] ५ ।

[illegible] —

> [illegible] । ([illegible])

[illegible]

[illegible]

[illegible]

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्, यदुदयाद् औदारिकादिपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः । तत् पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकबन्धनं वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनम् । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तद् औदारिकबन्धनम् १ । एवं वैक्रियबन्धनम् २ आहारकबन्धनं ३ च भावनीयम् । यदुदयात् पुनस्तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत् तैजसबन्धनम् ४ । यदुदयात् कर्मपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं सम्बन्धस्तत् कार्मणबन्धनम् ५ । केचित् पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसङ्ग्रहादिग्रन्थतो वेदितव्याः ।

तथा सङ्घात्यन्ते-पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत् सङ्घातम्, तच्च तन्नाम च सङ्घातनाम, तच्च पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र सङ्घातयति, यथा—शिरोयोग्यान् शिरसि पादयोग्यान् पादयोः शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तद् औदारिकसङ्घातनाम । एवं वैक्रियसङ्घातनामादिष्वपि भावनीयम् ।

तथा संहनन–अस्थिरचनाविशेषः, तच्चौदारिकशरीरे एव नान्येषु शरीरेषु, तेषां अस्थिरहितत्वात् । तच्च षोढा, तद्यथा—वज्रऋषभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका सेवार्तं च । तत्र वज्र–कीलिका, ऋषभ–परिवेष्टनपट्टः, नाराचम्–उभयतो मर्कटबन्धः । उक्तं च—

> रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा ।
> उभओ मक्कडबंधो, नाराय तं वियाणाहि ॥ (बृहत्कर्म०वि०गा०१०९)

ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्य–वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रर्षभनाराचनाम १ । यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम २ । यत्र पुनर्मर्कटबन्ध एव केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३ । यत्र त्वेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम अर्धनाराचनाम ४ । यत्र त्वस्थीनि कीलिकामात्रविद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम ५ । यत्र तु परस्परं पर्यन्तसम्पर्कलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते यत्र तत् सेवार्तम्, तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम ६ ।

तथा संस्थानम्–आकारविशेषः, तच्च षोढा, तद्यथा—समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डं चेति । तत्र समाः–यथोक्तप्रमाणाश्चतस्रोऽस्रयः–चतुर्दिग्विभागोपलक्षिता

---

१ ऋषभश्च भवति पट्टो वज्रं पुनः कीलिका ज्ञातव्या । उभयतो मर्कटबन्धो नाराचं तद् विजानीहि ॥ २ स० छा० म० °श्चतस्रो ॥ ३ छा० °स्त्वस्थीनि येन त ॥

शरीरावयवा यस्य तत् समचतुरस्रम्, समासान्तोऽप्रत्ययः, समचतुरस्रसंस्थाननिबन्धनं नाम समचतुरस्रनाम १। तथा न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम्, अधस्तु न तथा तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धनं नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २। तथा सह आदिना-नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तते इति सादि, सर्वमपि हि शरीरं सादि अत आदिविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्यः, ततो यत्र नाभेरधो यथोक्तप्रमाणमुपरि च हीनं तत् सादिसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम सादिनाम ३। तथा यत्र शिरोग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणोपेतम् उर-उदरादि च मडभं तत् कुब्जसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम कुब्जनाम ४। यत्र पुनरुर-उदरादि यथोक्तप्रमाणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तद् वामनम्, तन्निबन्धनं नाम वामननाम ५। यत्र सर्वेऽप्यवयवा यथोक्तप्रमाणहीनास्तद् संस्थानं हुण्डम्, तन्निबन्धनं नाम हुण्डनाम।

तथा वर्ण्यते-अलङ्क्रियते शरीरमनेनेति वर्णः, तन्निबन्धनं नाम वर्णनाम, तत् पञ्चधा - [illegible] कृष्णनाम नीलनाम हारिद्रनाम लोहितनाम । तत्र यदुदयात् जन्तुशरीरे शुक्लो वर्णो भवति तत् शुक्लनाम । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

तथा गन्ध्यते-आघ्रायते इति गन्धः, तन्निबन्धनं नाम गन्धनाम, तद् द्विधा- [illegible] दुरभिगन्धनाम । तत्र यदुदयात् शरीरेषु गन्धः सुरभिर्भवति तत् [illegible] यदुदयात् पुनर्दुरभिगन्धो भवति तद् दुरभिगन्धनाम ।

तथा रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, तन्निबन्धनं नाम रसनाम, तत् पञ्चधा [illegible] आम्लनाम मधुरनाम । तत्र यदुदयात् जन्तुशरीरेषु तिक्तो [illegible] । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

तथा [illegible] इति स्पर्शः, तन्निबन्धनं नाम स्पर्शनाम, तदष्टधा, तद्यथा- मृदुनाम कर्क- [illegible] शीतनाम उष्णनाम । तत्र यदुदयात् जन्तु- [illegible] स्पर्शनाम । एवं शेषाण्यपि भावनीयानि ।

[illegible] समश्रेण्यागतस्य [illegible] आनुपूर्वीनाम [illegible] तिर्यगानुपूर्वीनाम मनुष्यानुपूर्वीनाम देवानुपूर्वीनाम ।

[illegible]

[illegible]

नाम विहायोगतिनाम, तद् द्विविधम्—प्रशस्तविहायोगतिनाम अप्रशस्तविहायोगतिनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तो प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा हंसादीनां तत् प्रशस्तविहायोगतिनाम १ । यदुदयात् पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा खरादीनां तद् अप्रशस्तविहायोगतिनाम २ ।

एताश्च गत्यादयो विहायोगतिपर्यन्ताश्चतुर्दश प्रकृतय शास्त्रान्तरे पिण्डप्रकृतय इति विश्रुता , अनेकावान्तरभेदपिण्डात्मका प्रकृतय पिण्डप्रकृतय इति व्युत्पत्ते ।

तथा त्रसन्ति-उष्णाद्यभितप्ता सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च च्छायाद्या सेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा –द्वीन्द्रियादय , तत्पर्यायपरिणतिहेतुर्नाम त्रसनाम । तद्विपरीत स्थावरनाम, यदुदयाद् उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्था पृथिवि-अप्-तेज -वायु-वनस्पतय स्थावरा जायन्ते ।

तथा बादरनाम, यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति, बादरत्व च परिणामविशेष , यद्वशात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूना समुदाये चक्षुर्ग्रहण भवति । तद्विपरीत सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् न कदाचिदपि जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यता भवति ।

पर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्था भवति, पर्याप्ति —आहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मन शक्तिविशेष , सा च षोढा, तद्यथा—आहारपर्याप्ति शरीरपर्याप्ति इन्द्रियपर्याप्ति उच्छ्वासपर्याप्ति भाषापर्याप्ति मन पर्याप्तिश्च । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खल रसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्ति १ । यया रसीभूतमाहार रसा ऽसृग्-मास-मद अस्थि-मज्ज शुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्ति २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्ति ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्ति ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिक गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्ति ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा मन पर्याप्ति ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणा सञ्ज्ञिवर्जाना द्वीन्द्रियादीना संज्ञिना च चतु पञ्च-षट्सङ्ख्या भवन्ति । पर्याप्तकनामविपरीतमपर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्ति परिसमाप्तिसमर्थो न भवति ।

प्रत्येकनाम, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैकमौदारिक वैक्रिय वा शरीर भवति । तद्विपरीत साधारणनाम, यदुदयाद् अनन्ताना जीवानामेकमौदारिक शरीर भवति ।

तथा यदुदयात् शिर अस्थिग्रीवादीनामवयवाना स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम । यदुदयात् भ्रू जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तद् अस्थिरनाम ।

यदुदयवशाद् नाभेरुपर्यवयवा शुभा भवन्ति तत् शुभनाम । यदुदयवशाद् नाभेरध पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तद् अशुभनाम । शिरसा हि स्पृष्टस्तुष्यति, पादेन तु रुष्यति ।

१ स० १ स० म० ष स च ॥

कामिन्या पार्श्वेऽपि स्पृशन्त्यामसत्यां यथा शरीर इति चेत्, न, तस्यापि शीतस्पर्शनिरोध- नत्वात्, स्पृष्टिरिति शिरः निम्नो तनोऽप्येव ।

तथा यदुदयवशाद् जीवस्य स्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुर्भवति तत् सुस्वरनाम । यदुदयवशात् स्वरः कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम ।

यदुदयवशाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सुभगनाम । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम, उक्तं च—

अणुवकए वि बहूण, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ ।
उवगारकारगो वि हु, न रुच्चइ दूभगस्सुदए ॥
सुभगुदए वि हु कोई, कंची आसज्ज दुब्भगो जइ वि ।
जायइ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥ (   )

यदुदयवशाद् यत् किंचिदपि ब्रुवाणः सर्वस्यापादेयवचनो भवति दर्शनसमनन्तरमेव च लोकोऽभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनाम । यदुदयवशाद् उपपन्नमपि ब्रुवाणो नादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ।

यदुदयवशाद् मध्यस्थजनस्यापि प्रशस्यो भवति तद् यशःकीर्तिनाम । यदुदयवशाद् मध्यस्थजनस्यापि अप्रशस्यो भवति तद् अयशःकीर्तिनाम । यशःकीर्त्योश्चायं विशेषः—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवानां शरीराणि न गुरूणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तद् अगुरुलघुनाम । यदुदयवशात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्द-लम्बक-चौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनाम । यदुदयवशाद् ओजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत् पराघातनाम । यदुदयवशाद् उच्छ्वास निःश्वासलब्धिरुपजायते तद् उच्छ्वासनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणाऽनुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनाम । आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् , तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति । तथा यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति यथा यति-देवोत्तरवैक्रियचन्द्र ग्रह-नक्षत्र-तारा-रत्न औषधयः तद् उद्योतनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीरेष्वङ्ग प्रत्यङ्गा

---

१ स० १ त० दयवशात् ॥ २ अनुपकृतेऽपि बहूना भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदय । उपकारकारकोऽपि हि न रुच्यते दुर्भगस्योदये ॥ सुभगोदयेऽपि हि कोऽपि कञ्चिद् आसाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषाद् यथाऽभव्यानां तीर्थकरः ॥ ३ स० १ त० म० जीवो, च ॥

ना मतिमिमनथान्वर्तिता भवति तद् निर्माणनाम । यदुदयवशाद् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखा चतुस्त्रिंशदतिशया प्रादुर्भवन्ति तत् तीर्थकरनाम । इह पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदगणने पञ्चषष्टिर्भवति, शेषाश्च प्रकृतयोऽष्टाविंशति, तत सर्वसङ्ख्यया नाम उत्तरभेदास्त्रिनवति ॥

गोत्रस्योत्तरप्रकृती द्वे, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं च नीचैर्गोत्रं च । तत्र यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्ति सत्कारात्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्, तद्विपरीत नीचैर्गोत्रम् ॥

अन्तरायस्योत्तरप्रकृतय पञ्च, तद्यथा—दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तरायम् उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय च । तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे 'दत्तमस्मै महत्फलम्' इति जानन्नपि दातु नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयवशात् पुन प्रसिद्धादपि दातृगृहे विद्यमानमपि देयमर्थजात याञ्चाकुशलो गुणवानपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात्तु सत्यपि विशिष्टाहारादौ अमति च प्रत्याख्यानपरिणामे केवलकार्पण्याशक्त्यादिकारणवशाद् नोत्सहते विशिष्टाहारादि भोक्तु तद् भोगान्तरायम् ३ । एवमेवोपभोगान्तरायमपि । नवरं भोगोपभोगयोरय विशेष —सकृद् भुज्यत इति भोग , पुन पुनर्भुज्यत इत्युपभोग ४ । उक्त च—

सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाइओ ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणविलयाइ ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १६५)

तथा यदुदयवशात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽप्यल्पप्राणता भवति तद् वीर्यान्तरायम् ५ ॥

इह बन्धे उदये च बन्धनानि सङ्घातनामानि च स्वशरीरनामग्रहणेनैव गृहीतानि विवक्ष्यन्ते, तद्यथा—औदारिकशरीरनामग्रहणेन औदारिकबन्धन-सङ्घातनाम्नी, वैक्रियशरीरनामग्रहणेन वैक्रियबन्धन-सङ्घातनाम्नी इत्यादि। वर्णादीना चावान्तरभेदा न विवक्ष्यन्ते। तथा बन्धे सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे न भवत , यतो मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीव सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वस्वभावमपनीय कषायितत्वं दिशुद्धिमापादयति, अपरेषा त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाज , ईषद्विशुद्धा सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाज , शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्त च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वत् शकृत्प्रमुखै , शोध्यन्ते कोद्रवा मदना ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्ध तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्र तु दरविशुद्ध, भवत्यशुद्ध च मिथ्यात्वम् ॥ (   )

उदये पुन सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे अपि भवत । ततो बन्धे उत्तरप्रकृतीना विंशं शतम्, उदये च द्वाविंश शतम्, सत्तायां च बन्धनानि सङ्घातनामानि च पृथग् विवक्ष्यन्ते, वर्णादीना चावान्तरभेदा पृथग् गण्यन्ते, तत सर्वसङ्ख्यया सत्तायामष्टचत्वारिंश शतमुत्तरप्रकृतीनामिति ॥

१ सं० १ सं० प्र० लभन्त्वि ॥ २ सकृद् भुज्यत इति भोग स पुनराहारपुष्पादिक । उपभोगस्तु पुन पुनरुपभुज्यत भवनवनितादि ॥ ३ सं० नामवशेषम् ।

तदेवं कृता उत्तरप्रकृतीनां प्ररूपणा। सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य ततुरयत्वान्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बन्धोदयसंतंसा, नाणावरणंतराइए पंच।
बंधोवरमे वि तहा, उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्तारूपा अंशा 'पञ्च' पञ्चप्रकृत्यात्मका। इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्च प्रकृतयो मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणा ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यवज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वात्। अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-वीर्यान्तरायरूपाः पञ्च प्रकृतयः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वादेव। तथा च सति ज्ञानावरणेऽन्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति।

सम्प्रति संवेध उच्यते—ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, एवमन्तरायस्यापि। एष च विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् वेदितव्यः। बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता। तथा चाह—"बंधोवरमे वि" इत्यादि। 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणान्तराययोः 'तथा' इति समुच्चये उदय-सत्त्वे भवतः (ग्रन्थाग्रम्-५००) 'पञ्चैव' पञ्चप्रकृत्यात्मके एव, न त्वेकद्वित्र्यादिके, ध्रुवोदय-सत्ताकत्वात्। एष च विकल्पो द्वयोरप्युपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥ ६ ॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइँ तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइँ दुवे, चउ पणगं दंसणावरणे ॥ ७ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीये कर्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं 'तुल्यानि' तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति। तद्यथा—नव षट् चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट्, एताश्च षट् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्रः। तत्र नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा। तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानम्, कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानम्, कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानम्, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, उत्कर्षतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तम्। षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य अपूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत्। तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम्, उत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्, सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात्, तत ऊर्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्धः। चतुष्प्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत्। तच्च जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तम्। एकं समयं यावत् कथं

माप्नोति' इति भाष्ये भण्यते—उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्ध मारभ्याऽन्तर्मुहूर्तं कश्चित् कालं करोति, कालं च कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामयिकी चतुर्विधबन्धस्थानस्य स्थितिः ।

तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा—अनाद्यपर्यवसितम् अनादिसपर्यवसितं च । तत्राद्यपर्यवसितमभव्यानाम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । अनादिसपर्यवसितं भव्यानाम्, कालान्तरे व्यवच्छेदात् । सादिसपर्यवसितं तु न भवति, नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति, न च क्षपकश्रेणीतः प्रतिपातो भवतीति कृत्वा । एतच्च सत्तास्थानम् उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते, क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमभागम् । तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, तच्चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावदवसेयम् । चतुष्प्रकृत्यात्मकं त्वेकसामयिकम्, क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति ।

उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः, तद्यथा—चतस्रः पञ्च च । तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपाः । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय इति एकं प्रकृतिस्थानम् । एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्याद् अन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च । न हि निद्रादयो द्वित्रादिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवान्यतमा काचित् । निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति, कालादिसापेक्षत्वात् । अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिद् लभ्यते ॥ ७ ॥

तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानानि । सम्प्रति संवेधमभिधित्सुराह—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता ।
छच्चउबंधे चेव, चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण, नवंस चउरुदय छच्च चउसंता ।

द्वितीयावरणं—दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे 'नवबन्धकेषु' सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टि-सासादनेषु "चउ पंच उदय" त्ति उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा । तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपः । स एव निद्रापञ्चकमध्यादन्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात् पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य पुनः प्रकृतिस्थानं 'नव' नवप्रकृत्यात्मकम् । तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता एष विकल्पो निद्राद्युदयाभावे, निद्रोदये तु नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । 'छच्चउबंधे चेव' त्ति षड्बन्धे चतुर्बन्धे च 'एव' पूर्वोक्तप्रकारेण उदय-सत्ता

१ स० म० १ त० इ० °तीति । ग० ॥ २ स० १ त० नव द्विच ॥ ३ स० १ त० च । तथा च ॥ ४ म० मुद्रि० इति कृत्वा एव प्र० ॥ ५ स १ त० म० छा० °स्यादिका ॥

स्थानानि वेदितव्यानि। इदमुक्तं भवति—ये षड्विधबन्धका सम्यग्मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्ता ऽप्रमत्ता कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता। एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदय नवविधा सत्ता, अथवा षड्विधो बन्ध पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपक मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते। क्षपके त्वेक एव विकल्प, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता। क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्रा प्रचलयोर्नोदय सम्भवति। तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे—

निद्दादुगस्स उदओ, खीणगखवगे परिच्चज्ज ॥ ( )

तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणि प्रतीत्य चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय नवविधा सत्ता। क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्। केचित् पुन क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्रा प्रचलयोरुदयमिच्छन्ति, तत् सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थै सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते। यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धि त्रिकं न क्षीयते तावत् सत्ता नवविधैव, स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा। तथा चाह—"चउ-बंधुदए छल्सा य" त्ति इह अंश इति सत्कर्माभिधीयते। यदाह चूर्णिकृत्—

अंसे इति सतकम्मं भन्नई। ( )

चतुर्विधे बन्धे चतुर्विध उदये अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धाया सङ्ख्येयेभ्यो भागे भ्य परत स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता। एष च विकल्पस्तावत् प्राप्यते यावत् सूक्ष्म सम्परायाद्धायाश्चरमसमय, परतस्तु न प्राप्यते, बन्धाभावात्। तदेव चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पा, तद्यथा—चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्प उपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते। चतुर्विधो बन्ध पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एष उपशमश्रेण्याम्, क्षपकश्रेण्या पञ्चविधोदयस्याभावात्। तथा चतुर्विधो बन्धश्चतु र्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष च विकल्प क्षपकश्रेण्या स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेय ॥८॥

"उवरयबंधे" इत्यादि। 'उपरते व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नव विधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते। उपशमश्रेण्या हि निद्रा प्रचलयोरुदय सम्भवति, स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा च सत्ता प्राप्यते। तथा चतुर्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणकषायस्य द्विचरमसमय यावत्प्राप्यते। तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणकषायस्य चरमसमये,निद्रा प्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात्। तदेव दर्शनावरणे सर्वसङ्ख्यया एका दश विकल्पा। यदि पुन क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्रा प्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्ध पञ्चविध उदय षड्विधा सत्ता, बन्धाभावे पञ्चविध उदय षड्विधा सत्तेत्येतौ द्वौ विक ल्पावधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्या ॥

१ सं० १ सं० बन्धो न्याथयति न ॥ २ खा० १ सं० पक्ख रा० ॥ ३ सि० [illegible] उदय [illegible] ॥ ४ अंश इति सत्कर्म भण्यते ॥ ५ मुद्रि० [illegible] ॥

सम्प्रति वेदनीया ऽऽयु-र्गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह—

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागम बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य 'विभजेत्' विकल्पयेत्। तत्र वेदनीयस्य सामान्येनैक बन्धस्थानम्, तद्यथा—सातमसात वा, द्वयो परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् । उदयस्थानमपि एकम्, तद्यथा—सातमसात वा, द्वयोर्युगपदुदयाभावात् परस्परविरुद्धत्वात् । सत्तास्थाने द्वे, तद्यथा—द्वे एक च । तत्र यावदेकमन्यतरद् न क्षीयते तावद् द्वे अपि सती, अन्यतरस्मिश्च क्षीणे एकमिति ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—असातस्य बन्ध असातस्य उदय साता ऽसाते सती, अथवा असातस्य बन्ध सातस्य उदय साता ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानक यावत् प्राप्येते न परत , परतोऽसातस्य बन्धाभावात् । तथा सातस्य बन्ध सातस्योदय साता ऽसाते सती, अथवा सातस्य बन्ध असातस्योदय साता ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानक यावत् सम्भवत । तत परतो बन्धाभावे असातस्योदय साता ऽसाते सती, अथवा सातस्योदय साता ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सात क्षीणम् , यस्य त्वसात द्विचरमसमये क्षीण तस्याय विकल्प —सातस्योदय सातस्य सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावेकसामयिकौ। सर्वसङ्ख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा ॥

तथा आयुषि सामान्येनैक बन्धस्थान चतुर्णामन्यतमत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वित्रायुषा बन्धाभावात् । उदयस्थानमप्येकम्, तदपि चतुर्णामन्यतमत्, युगपद् द्वित्रायुषा उदयाभावात् । द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एक च । तत्रैक चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यत् परभवायुन बध्यते, परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवे नोत्पद्यते तावद् द्वे सती ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्था , तद्यथा—परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च । तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्व नारकायुष उदय नारकायुष सत्ता, एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसम्भवात् । परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदय नारक तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टे सासादनस्य वा, द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसम्भवात्, अथवा मनुष्यायुषो बन्ध नारकायुष उदय मनुष्य-नारकायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टे सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा। बन्धोत्तरकाल नारकायुष उदयो नारक तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु, तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात् अथवा नारकायुष उदयो मनुष्य-नारकायुषी सती । इह नारका देवायु नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात् ।

१ सं० छा० क्षीण तदैवाय विकल्प य° ॥ २ मुद्रि० काले ना ॥

तदुक्तम्—

देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति । (   ) इति ।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले तदुत्तरकाले च देवायु-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति ।

एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः । नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि ।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिरश्चामसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । बन्धकाले तु नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः, तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, मिश्रोऽविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु । सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात् ।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिपर्यन्तम् । तथा नारकायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः । तथा तिर्यगायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । देवायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं [illegible] सम्भवात् । मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्र[illegible]

[illegible]

ै सती, ऽपोऽपि विकल्प
गान्तमोहगुणस्थानक यावत्,
ं नव भङ्गा । सदैवमायुषि

ैर्गोत्र वा, द्वया परस्परविरु-
त्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्
चगोत्र-नीचगोत्र समुदिते द्व,
ा नीचगोत्रेऽयोगिकेवलिद्विच

य नीचैर्गोत्र सत्, एष विक
ापर्जीवस्थक द्वि त्रि चतु निय
उच्च-नीचैर्गोत्र सती अथवा
ते द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टेस्
थान । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धा
गुणस्थानकात्परस्य नैवदर्शि
ात् । तथा उच्चगोत्रस्य बन्ध
ाभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान
ेदय उच्च-नीचगोत्र सती एव
ामय यावद्बन्ध । उच्चगोत्र
सद्भावेन कालस्य सर्वत्रापि

मोह पर वोच्छ ॥ ४ ॥

अत परं मोह वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थ ॥ ० ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पच ।
चउ तिग दुग च एक्क, बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

[1]मोहस्य मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि तद्यथा द्वाविंशति एकविंशति सप्तदश [illegible]

---

१ मुद्रि० अदम-उपशान्तगुण स्थानक यावत् । २ मुद्रि० अवस्था [illegible] । ३ मुद्रि० [illegible] नीचगोत्रे उदयं [illegible] । [illegible] । ४ [illegible] ग मदे ॥

तदुक्तम्—

देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति । (　　　　) इति ।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायु-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति ।

एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः । नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि ।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु [illegible]गुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः, तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा [illegible], [illegible] वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो देवतिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेः [illegible] वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धोत्तरकाले तु नारकतिर्यगायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु [illegible] गुणस्थानकेषु नरकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयः [illegible] तिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देवतिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु । [illegible] नव विकल्पाः, [illegible] निरभायुषादसम्भवात् ।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिपर्यन्तः । तथा नारका[illegible] नारकमनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः । तथा तिर्यगायुषो [illegible] मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनु[illegible] मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । [illegible] मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो [illegible] । [illegible] मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो [illegible] । [illegible] मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो [illegible]

[illegible]

मत्तगुणस्थानकं यावत्। मनुष्यायुष उदये मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पः प्राग्वत्। मनुष्यायुष उदये देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात्। सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः। तदेवमायुषि भवसङ्ख्यया अष्टाविंशतिभङ्गाः ॥

तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थायां उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदयो नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते। तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चापरजीवत्वेन द्वि त्रि चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टौ सासादने वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तत्र नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् न परतः, परतो बन्धाभावात्। बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावद्वेदितव्यः। उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये। तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसङ्ख्यया सप्त भङ्गाः ॥

मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अतः परं मोहं वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बावीस इगवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पञ्च ।
चउ तिग दुगं च एगं, बन्धट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

मोहस्य मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश [illegible]

---

१ मुद्रि० अप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्। २ मुद्रि० [illegible] । ३ मुद्रि० [illegible] नीचैर्गोत्रे उद्वलिते एकम् [illegible] ॥ [illegible] ॥

तदुक्तम्—

देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जति । ( ) इति ।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायु-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति ।

एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीया । नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि ।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । बन्धकाले तु नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः, तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, तिरश्चोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्, अथवा देवायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु । सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात् ।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत् । तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः । तथा तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात् । मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्र

१ देवा नारका वा देवेषु नारकेषु नोपपद्यन्ते ॥ सं० १ त० म० पञ्च वि ॥ ३ सं० त० °य, तिर्यग° ॥ ४ छे० त० म० बन्ध । ब न्धे तु ना । सं० बन्ध । ना ॥ ५ छे० १ सं० त० म० °दृष्टे । तिर्यग ॥ ६ सं० १ त० म °कस्य विरत्यभाव ॥

मत्तगुणस्थानक यावत् । मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्प प्राग्वत् । मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानक यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात् । सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणा नव भङ्गा । तदेवमायुषि सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिभङ्गा ॥

तथा गोत्रे सामान्येनैक बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्र वा, द्वयो परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् । उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् । द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एक च । तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थाया उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् ।

सम्प्रति सवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्र सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते । तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चाशेषपर्जीवेष्वेक द्वि त्रि चतु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्काल नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तेषा नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पा मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरति [illegible] प्राप्यते न परत, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध [illegible] नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक [illegible] बन्धाभावात् । बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष [illegible] गुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमय यावदवसेय । उच्चैर्गोत्र [illegible] एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसङ्ख्यया [illegible]

मोह पर वोच्छ ॥ ९ ॥

[illegible] ध्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थ ॥ ९ ॥

[illegible] स्थानप्ररूपणार्थमाह—

[illegible] वीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पच ।
[illegible] ग दुग च एक्क, बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

[illegible] स्य दश बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशति एकविंशति सप्तदश त्रयो

मत्तगुण स्थानक यावत् ॥ २ मुद्रि अयमुपशा ॥ ३ मुद्रि० एकम् अथवा [illegible] अथ ॥ ४ मधेय सप्ततिकाभाष्य एवानविंशतिभङ्गा ॥ ५ भाष्ये तु— [illegible]

दश नव पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव, हास्य-रतियुगल-अरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम्, ततो मोहनीयस्योत्कर्षेण प्रभूतप्रकृतिरूपो द्वाविंशतिः, सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् एकविंशतिः, यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणेषु प्रत्याख्यानावरणानां बन्धाभावाद् नव, यद्यपि अरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्ते इति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां बन्धः । चतुर्थभागे सञ्ज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे सञ्ज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः सञ्ज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः ॥ १० ॥

तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह—

एक्कं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे, उदयट्ठाणा नव हवंति ॥ ११ ॥

'ओघेन' सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति, तद्यथा—एकं द्वे चत्वारि 'अतः' चतुष्कादूर्ध्वं एकाधिका उदयविकल्पास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कर्षतो 'दश' दशकमुदयस्थानं भवतीत्यर्थः १-२-४-५-६-७-८-९-१० । एतानि चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किञ्चिद् भाव्यन्ते—तत्र चतुर्णां सञ्ज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानम्, तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकम्, तत्रापि हास्य-रतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कम्, तत्रैव भयप्रक्षेपात् पञ्चकम्, जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्कम्, तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकम्, तत्रैव चाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपेऽष्टकम्, तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकम्, तत्रैव मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम् । एतच्च सामान्येनोक्तम्, विशेषं तु स्वयमेव सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते ॥ ११ ॥

तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि । सम्प्रति सत्तास्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

---

१ सं० त० ब० । तत्र ॥ २ सं० १ त० ...रणबन्धा ॥ ३ मुद्रि० विना– णाइ, चउ ॥ ४ मुद्रि० विना– या पञ्च° ॥ ५ गाथा कर्मप्रकृतिभाष्ये पर्याविर्भाषि ॥ ६ मु० उदय ... नव हुन्ति । सं० १ त० °यट्ठाणाणि नव हुंति ॥ ७ सं० १ त० ... ॥ ८ सं० १ सं० त० मु० स्वयमेव ॥

अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा ।
तेरस बारिक्कारस, इत्तो पंचाइ एगूणा ॥ १२ ॥
संतस्स पगइठाणाइं ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस ।
बंधोदयसंते पुण, भंगविगप्पा बहू जाण ॥ १३ ॥

विंशतिः अष्टक-सप्तक-षट्क-चतुष्क-त्रिक-द्विक-एकाधिका, तथा त्रयोदश द्वादश एकादश, 'अतः' एकादशकात् परतः 'एकोनानि' एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि, तानि च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदश भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम्—मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः । ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः । ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः । ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः । ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः । ततोऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश । ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश । ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च । ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः । ततोऽपि संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः । ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे । ततोऽपि संज्वलनमायायां क्षपितायामेका प्रकृतिः सतीति । तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि । एतेषु पुनर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति, तांश्च भङ्गान् यथावत् प्रतिपाद्यमानान् सम्यग् जानीहि ॥१२॥ १३ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह—

छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नवबंधगे वि दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥ १४ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे षड् विकल्पा भवन्ति । तत्र द्वाविंशतिरियम्—मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगलाऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भय-जुगुप्सा च । अत्र भङ्गाः षट्, तथाहि—हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ, तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् । सैव द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिः, नवरमत्र द्वयोर्वेदयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम्, यत एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः, ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदम्, नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्, सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात् । अत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तथा चाह—"चउ इगवीसे" त्ति 'एकविंशतौ'

---

१ एषैव सप्ततिकाभाष्ये एकचत्वारिंशत्तमा ॥ २ सं० १ त० त० ण्पे ॥ ३ सं० सं० छा० तत्र प्र ॥ ४ सं० १ त० सती । त ॥ ५ सं० १ त० ततश्च भङ्गान् प्रति ॥

एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः । तत्र हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्राग्वद् द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः । नैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश, ततस्तत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यः, न स्त्रीवेदोऽपि, यतः सप्तदशबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा, न चैते स्त्रीवेदं बध्नन्ति, तद्बन्धस्यानन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात्, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अत्र च हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्राग्वद् द्वौ भङ्गौ । ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश, अत्रापि प्राग्वद् द्वौ भङ्गौ, तथा चाह—"सत्तरस तेरसे दो दो" सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ । ता एव त्रयोदश प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरहिता नव, अत्रापि तथैव द्वौ भङ्गौ, यत आह—"नवबंधगे उ दोन्नि उ" नवबन्धके द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गः, तत्रारति-शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात् । तथा ता एव नव हास्य-रतियुगल-भय-जुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च, अत्रैको भङ्गः । एवं चतु-स्त्रि-द्वि-एकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एव भङ्गो वाच्यः, तथा चाह—"एक्केक्कमओ परं भंगा" 'अतः' नवकबन्धात् परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकम् 'एकैकः' एकैकसङ्ख्या वेदितव्याः । मकारस्त्वलाक्षणिकः ।

अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदम्—द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः, सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उत्कर्षतो देशोनोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्रः, उत्कर्षतः षडावलिकाः । सप्तदशबन्धस्य कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतः किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तथाहि—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते, अनुत्तरसुरभवाच्च च्युतो यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते तावत् सप्तदशबन्धक एवेति किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । त्रयोदशबन्धस्य नवबन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी, यतस्त्रयोदशबन्धो देशविरतौ नवबन्धस्तु सर्वविरतौ, देशविरतिः सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा । पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तम् । एकसमयता कथम् ? इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यां पञ्चविधबन्धमारभ्य द्वितीयसमये कश्चित् कालं कृत्वा देवलोकं याति, देवलोके च गतः सन् अविरतो भवति, अविरतो च सप्तदशबन्ध इत्येकसमयता । एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम् ॥ १४ ॥

तदेवं कृता कालनिरूपणा मोहनीयस्य बन्धस्थानानाम् । सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कियन्ति मोहनीयस्योदयस्थानानि भवन्ति ? इत्येतद् निरूप्यते—

दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं ।
छाई नव सत्तरसे, तेरे पणाइ अट्ठेव ॥ १५ ॥

१ मुद्रित० एवं वक्त० ॥ २ सं० १ त० ०नाः ॥

[illegible] उदीरेइ [illegible] ।
[illegible] मुणेयव्वा ॥ १६ ॥

[illegible]

[illegible] विरतिसम्यग्दृष्टौ [illegible] चतुर्विंशतिर्भङ्गकाः द्रष्टव्याः ।

[illegible] विरताविरतस्य [illegible] मिथ्याभावः तथा [illegible] विशुद्धि [illegible] चतुर्दशा [illegible] ।

[illegible] यथाख्यातमिति [illegible], तथा [illegible] भङ्गकाः [illegible] ।

तथा [illegible] भयजुगुप्सयोः अन्यतरा [illegible] जुगुप्सा [illegible] । [illegible] मागुक्तगणे भङ्गकाः [illegible] द्रष्टव्याः । तथा [illegible] भयजुगुप्सा [illegible] । [illegible] भङ्गकाः चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिः [illegible] चतुर्विंशतय ।

१ [illegible] । [illegible] सं० मु० मुद्रि० [illegible]
[illegible] ॥ [illegible] । [illegible] एकविंशतिः [illegible] ॥

[illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]—

[illegible] । [illegible]

[illegible] च [illegible] । [illegible] इति [illegible], [illegible] ( ) इति [illegible] च [illegible] एव [illegible] । [illegible] इति त्रिविधं [illegible] इति [illegible] । [illegible] द्विविधो [illegible], [illegible] इति वक्तव्य, युक्ति [illegible], अत्र च द्वौ मन्त्रौ । [illegible] न [illegible] चान्य, [illegible] मन्त्र । [illegible] यद्यपि [illegible] न कश्चिद् विशेष, तथापि [illegible] गणयिष्यन्ते । तथा [illegible] भवति, स च [illegible], [illegible] । [illegible] इत्यपि [illegible], अन्यथा [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

रम, दस सत्त चउघ एक्कगा चेव ।
नगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

नान्यधिकृत्य यासामङ्ग सङ्ख्यापदयोर्नना कर्तव्या, सा चैवम्—द्वो
ोदये षट्, तद्यथा—द्वाविंशतिबन्धे तिस्र, एकविंशतिबन्धे मिथ्या
धे च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अवि
च प्रत्येक तिस्र तिस्र, एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे
तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे
रतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र, नवकबन्धे
सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च
। तथा पञ्चकोदये चतस्र—तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्र । चतु
ग्रहाति । "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिका सङ्ख्यावि
ता' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतया ज्ञातव्या इत्यर्थ ।
। चत्वारिंशत् । तथा "चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गका
न्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्या । "इक्कमिक्कार" त्ति
श भङ्गा । ते चैवम्—चतुर्विधबन्धे चत्वार, त्रिविधबन्धे त्रय, द्विविधबन्धे द्वौ,
क, बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

षामेव भङ्गाना विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

गादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्वि
ग, तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च सत्यां नवशतानि सप्त
धिकानि ९८४ । तत तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव
ञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोग सर्वे संसारिणो
नोहिता' मोहमापादिता विज्ञेया ॥

म्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ १९ ॥

इह पदानि नाम मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोध प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमा
ने, ततो वृन्दानां—दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि आर्षत्वाद् गमदन्तादिषु मध्य
गभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपात, तथा नवनवकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसहस्र ६९७१

---

१ स० भङ्गका ॥ २ स० १ स० ता वदितव्या ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केकुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७ ॥

'इत' पञ्चकबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एकैकोदयाः' एकैकप्रकृत्युद[याः] 'भवन्ति' ज्ञातव्याः, तथाहि—चतुर्विधबन्धो भवति पुंवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुंवे[द] च युगपद् बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः । अत्र चत्वारो भङ्गाः, यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि संज्वलनमानेन, कोऽपि संज्वलनमायया, कोऽपि संज्वलनलोभे[न] चत्वारो भङ्गाः । इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयम् इच्छन्ति, तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते । तदु[क्तं] पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

> चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदि[च्छ]न्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि । (पत्र २१६) इति ।

तथा च सति तेषां मतेन सप्ततिकया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्धः, तत्राप्येकविध एवोदयः । अत्र त्रयो भङ्गाः, न[नु] अत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्य[वश्यं] संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जं वेयइ तं बंधइ" (   ) इति वचनात्, त[था] च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तः । ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽ[पि] व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम् । संज्व[लन]मानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्धः, तत्राप्येकविध एवोदयः, केवलं स मायालोभयोरन्य[तर] इति वक्तव्यः, युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ । संज्वलनमायाबन्धव्य[वच्छेदे] एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धः तस्यैव चोदयः, अत एको भङ्गः । इह यद्यपि चतुर्विधादिषु बन्धस्था[ने]षु [illegible] न कश्चिद् विशेषः, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भङ्गा [illegible] पृथग् [illegible] । तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्पराय[गुणस्थानके] एकविध उदयो भवति, स च संज्वलनलोभस्यावगन्तव्यः [illegible] 'उदयाभावेऽपि' उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयस्य [illegible] [illegible] अन्यथा [illegible] [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible]

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यं सङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या, सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशतिः । नवोदये षट्, तद्यथा—द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिथ्याऽविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । तथा पञ्चकोदये चतस्रः—तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्रः । चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः । "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायकाः एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् । तथा "चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः । "इक्कमिक्कारा" त्ति एकोदये एकादश भङ्गाः । ते चैवम्—चतुर्विधबन्धे चत्वारः, त्रिविधबन्धे त्रयः, द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एकः, बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः, तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च तस्यां जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४ । ततः तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा 'मोहिताः' मोहमापादिता विज्ञेयाः ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ १९ ॥

इह पदानि नाम मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोधः इत्यादीनि, ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि अथवा दशोदयादिषु मध्यपदाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः, तेषां शतैरेकसप्तत्यधिकैः एकोनसप्ततिशतैश्च ६९७१

1 सं० भङ्गका ॥ 2 सं० १ सं० °ता प्रक्षिप्त° ॥

मोहिता संसारिणो जीवा विज्ञेया, एतावन्मात्राभि कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिता संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थ ।

अथ कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यानि पदाना शतानि भवन्ति ? उच्यते—इह दशोदये दश पदानि, दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थ, एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाश्च षड् नवभि, अष्टोदयाश्च एकादश अष्टभि, सप्तोदया दश सप्तभि, षडुदया सप्त षड्भि, पञ्चकोदयाश्चत्वार पञ्चभि, चतुरुदये एकश्चतुर्भि, द्विकोदये एको द्वाभ्याम्, गुणयित्वा चैते सर्वेऽपि एकत्र मील्यन्ते तत द्वे शते नवत्यधिके २९० । एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकाना प्राप्यत इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदाना शतानि भवन्ति । इय चोदयस्थानसङ्ख्या पदसङ्ख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विंशतिभङ्गकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या ॥ १९ ॥

यदा पुनरेते नाभिप्रेयन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसङ्ख्या—

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरिसीयाला, पयविंदसएहिं विन्नेया ॥ २० ॥

[illegible] ९८३ तथा दशोदयादिरूपवृन्दानां पदानां [illegible] ६९४७ यथायोग सर्वेऽपि संसारिणो जीवा 'मोहिता' [illegible] । [illegible] पूर्वोक्तप्रकारेण परिगणनायामेतेषु ये मतान्तरेणोक्ता [illegible] द्वादश भङ्गा [illegible], ततो नव शतानि [illegible] । यदा च परिगणनायामेषु मतान्तरोक्तद्वादशभङ्गका [illegible], तदा [illegible] पदानां सङ्ख्या भवति । इह [illegible] [illegible], यथाह [illegible] [illegible] —

[illegible]) इति ।

[illegible] । [illegible] ॥ २० ॥

[illegible]

इत्थं बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः। सम्प्रति सत्तास्थानैः सह संवेधमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥
पंचविहचउविहेसु, छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च। तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टे, मिथ्यादृष्टेश्च चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिता सतः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बद्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्य, स चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेकं सप्तोदये सत्तास्थानम्। अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च। तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम्। अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशति, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशति, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशति, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशति। एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि। दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्। एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च। सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च। तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव। अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव। तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते। तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशतिश्च। तत्राष्टाविंशति प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले,

१ छा० मुद्रि० ऽविहेसु ॥

उपशमश्रेणिप्रतिपाते तु उपशान्तानन्तानुबन्धिनामष्टाविंशति, उद्वलितानन्तानुबन्धिना तु चतुर्विंशति। क्षायिकसम्यग्दृष्टीना त्वेकविंशतिरेव, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति। सर्वमद्धया पञ्चदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्चेति। सप्तोऽन्ये मिश्रदृष्टीना त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति चतुर्विंशतिश्च। तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशति। येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्यग्मिथ्यात्वं च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशेन मिथ्यात्वाद् विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशति। यः पुनः पूर्वं सम्यग्दृष्टि सन् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात् परिणामवशात् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशति, सा च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति। तदुक्तं कर्मप्रकृत्याम्—

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया, णंतरकरणं उवसमो वा॥ (गा० ३८३)

अत्र "तिन्नि वि" त्ति अविरता देशविरता सर्वविरता वा यथायोगमिति।

अनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं च केचित् परिणामवशात् सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते, ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीना चतुर्विंशति सम्भवति। अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तोऽन्ये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीना वेदकसम्यग्दृष्टीना वा। चतुर्विंशतिरप्युभयेषाम्, नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं सा अवगन्तव्या। त्रयोविंशतिद्वाविंशतिश्च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव। तथाहि—कश्चिद् मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टि क्षपणायाभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशति, तस्यैव च सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशति। स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमानः कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। तदुक्तम्—

पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु। ( )

ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव, यतः सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, सप्तके च क्षीणे सत्तायामेकविंशतिरिति। एवमष्टोदयेऽपि मिश्रदृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां चोक्तरूपाण्यन्यूनानतिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि। एवं नवोदयेऽपि, नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव सम्भवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि

१ सं० १ सं० मलेऽप्यमूल ॥ २ चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संयोजनानि वियोजयन्ति। करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणं उपशमो वा ॥ ३ सं० सं० °याम्तु ॥ ४ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ५ सं० छा० म० °नातिरि° ॥

सत्तास्थानानि वाच्यानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिश्च । एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि ।

"तेरससु चउसु पंचसु ठाणाइ" त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरता, ते च द्विधा—तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वपि उदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, तथा हि—अन्तरकरणाद्धायां वर्तमान औपशमिकसम्यग्दृष्टिः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते, कश्चिद् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि । तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—

उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहइ । ( ) इति ।

वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता । चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सत्तास्थानानि त्रयोविंशत्यादीनि तिरश्चां न सम्भवन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति, किन्तु मनुष्या एव ।

अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति, तदयुक्तम्, यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोदशबन्धकत्वम् । अत एवं त्रयोदशबन्धके सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि यदि ते तत्र एकविंशतिरपि प्राप्यते तिर्यक्षु न सम्भवति । तदुक्तं चूर्णौ—

एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न संभवइ । कहं ? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि । ( ) इति ।

ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां प्रत्युदयं पञ्च सत्तास्थानानि । तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । चतुर्णामुदये सत्तास्थाने च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । अष्टक... च

१ [illegible] ॥ [illegible]
[illegible] देशविरतिर्नास्ति ॥

स्त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि । तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि । एवं नवबन्धकानामपि प्रमत्ताप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि ॥२१॥

"पचविहचउविहेसु छ छक्क" त्ति पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् षट् सत्तास्थानानि । तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च । तत्राष्टाविंशति चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् । एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः । क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः । अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश । पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत् षड् नोकषायाः सन्त एवेति । चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकादश पञ्च चतस्रः । तत्राष्टाविंशति-चतुर्विंशति-एकविंशतय उपशमश्रेण्याम् । एकादश पुनरेवं प्राप्यन्ते—इह कश्चिद् नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः, स च स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यदि पुनः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततः प्रथमतो नपुंसकवेदं क्षपयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तेन स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः, ततस्तदनन्तरं पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्य एकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते । पुरुषवेद-हास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सत्यः । एवं च स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते । यस्तु पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षण्णोकषायक्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते, किन्तु पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, ताश्च पञ्च समयद्वयोनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः । ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यः प्रतिपत्तव्याः ।

"सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं" शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रिविधबन्धे अमूनि—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चतस्रः तिस्रः । तत्रादिमानि त्रीणि उपशमश्रेणिमधिकृत्य वेदितव्यानि । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमायान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः, संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत्

१ सं० छा० °लग्नकस्तस्य । स° । सं० १ त० छ । से° ॥

समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति, यावच न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयः त्रिविधबन्धे सत्यः, क्षीणे तु तस्मिंस्तिस्रः, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावदवगन्तव्याः । द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः तिस्रः द्वे च । तत्राद्यानि त्रीणि प्राग्वत् । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ आवलिकामात्रशेषायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तासु च व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्र समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं सत्, अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यते यावच्च नापद्यते तावत् तिस्रः सत्यः, क्षीणे तु तस्मिन् द्वे, ते अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यौ । एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्राग्वदुपशमश्रेण्याम् । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्ध एकविधो भवति, संज्वलनमायायाश्च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति, अन्यत् समस्तं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपागमिष्यति, यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती क्षीणे तु तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा सती ।

"चत्तारि य बंधवोच्छेए" इति 'बन्धव्यवच्छेदे' बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्राग्वदुपशमश्रेण्याम् । एका तु संज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् ॥ २२ ॥

तदेवं कृता संवेधचिन्ता । सम्प्रत्युपसंहारमाह—

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं ।
भणियाइँ मोहणिज्जे, इत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २३ ॥

बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानि यथासङ्ख्यं दश-नव-पञ्चदशसङ्ख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण च मोहनीयकर्मणि भणितानि । 'इत्तो परं' अत ऊर्ध्वं 'नाम वक्ष्ये' नाम्नो बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये ॥ २३ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थाननिरूपणार्थमाह—

तेवीस पण्णवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ २४ ॥

---

१ छा० म० प्राग्वदुपशमश्रेण्याम् । श ॥ २ स० १ त० म० ० मुक्त्वा ० ॥ ३ छा० ०न्यपि क्षीयत ता० ॥ ४ स० त० म० सत्यौ ॥ ५ म० ०च मो०नीयकर्म० सर्वसङ्ख्या म० ॥ ६ गाथेयं सप्ततिभाष्यस्य अष्टाशीतितमी ॥ ७ स० १ छा० ०स उगुवा ॥

नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च। अमूनि च तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः। तत्र त्रयोविंशतिरियम्—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्म-बादरयोरेकतरम् अपर्याप्तकनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरम् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम। एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एतच्चापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र भङ्गाश्चत्वारः, तथाहि—बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते, द्वितीया साधारणनाम्ना, एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशती, सर्वसङ्ख्यया चतस्रः। एषैव त्रयोविंशतिः पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः। नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभाऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एतच्च पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गा विंशतिः—तत्र बादरपर्याप्तप्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः, तथाहि—बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थिर शुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः, द्वितीयोऽयशःकीर्त्या, एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ, एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वारः, एते चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः, एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ। एवं पर्याप्त-बादर-साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, यतः साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति "नो सुहुमतिगेण जसं" (   ) इति वचनात्, ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सूक्ष्म-पर्याप्तनाम्नोर्बध्यमानयोः प्रत्येक-साधारण स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-शुभा-ऽयशःकीर्तिपदैरष्टौ, सूक्ष्मेणापि सह यशःकीर्तेर्बन्धाभावादत्रापि तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। तदेवं सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः। एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिः, नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम स्थावरनाम आतप-उद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासां च षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च पर्याप्तैके-

१ कपुस्तकादर्शेषु °कतरा कपुस्तिवृ °कतर एवमग्रेऽपि ॥ २ नो सुहुमतिगेण जसं ॥

च सह सूक्ष्म-साधारणबन्धो न भवति, ततस्तदाश्रिता विकल्पा अत्र न प्राप्यन्ते। एकेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्यया भङ्गाश्चत्वारिंशत्, तदुक्तम्—

चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला। (   )

द्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभ दुर्भगम् अनादेयम् अयश कीर्ति निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम्, तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन च सह परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्ग। एषैव पञ्चविंशति पराघात-उच्छ्वासा ऽप्रशस्तविहायोगति पर्याप्तक-दु स्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद् भवति, नवरमेवमेषा वक्तव्या—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा ऽशुभयोरेकतरं दु स्वर दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम्, तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टे प्रत्येतव्यम्। अत्र स्थिरा ऽस्थिर शुभा ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा। सैव एकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश। एव त्रीन्द्रियप्रायोग्य चतुरिन्द्रियप्रायोग्य च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि, नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिल्पनीया चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजाति, भङ्गाश्च प्रत्येक सप्तदश सप्तदश, सर्वसङ्ख्यया एकपञ्चाशत्। उक्त च—

एगऽट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्ह पि। (   )

तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बन्धतस्त्रीणि बन्धस्थानानि। तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशति द्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतै इव वेदितव्या, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या, तत्र चैको भङ्ग। एकोनत्रिंशत् पुनरियम्—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस कार्मणे षण्णा संस्थानानामेकतमत् संस्थान षण्णा संहननानामेकतमत् संहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वा

१ सं० १ सं० ताभ्यां स° ॥ २ चत्वारि विंशति षोडश भङ्गा एकेन्द्रियाणां चत्वारिंशत् ॥
२ सं० सं० १ सं० न्तीति अत्र ॥ ३ एकोऽष्टौ अष्टौ विकलेन्द्रियाणां एकपञ्चाशत् त्रयाणामपि ॥ ४ मुद्रि० °त एव बे ॥

सनाम प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरं सुस्वर दु स्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टे पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो वेदितव्यम्। यदि पुन सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य पञ्चानामाद्यानां संस्थानानामन्यतमत् संस्थानं पञ्चानां संहनननामामन्यतमत् संहननमिति वक्तव्यम्, "हुड असंपत्त च सासणो न बंधइ" ( ) इति वचनात्। अस्या चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भि संस्थानै षड्भि संहननै प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या स्थिरा ऽस्थिराभ्यां शुभा ऽशुभाभ्या सुभग-दुर्भगाभ्या सुस्वर दु स्वराभ्या आदेया ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या वेदितव्या ४६०८। एवमेवैकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशद् भवति, अत्रापि मिथ्यादृष्टि-सासादनानधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्य, सामान्येन च भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या ४६०८। उक्त च—

> गुणतीसे तीसे वि य, भगा अट्ठाहिया छयालसया।
>
> पंचिंदियतिरिजोगे, पणवीसे बंधि भंगिक्को॥ ( )

सर्वसङ्ख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि ९२१७। सर्वस्या तिर्यग्गतौ सर्वसङ्ख्यया भङ्गा त्रिनवतिशतान्यष्टाधिकानि ९३०८।

तथा मनुष्यगतिप्रायोग्य बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्राग् अपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या। नवरमत्र मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरिति वक्तव्यम्। एकोनत्रिंशत् त्रिधा—एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या, द्वितीया सासादनान्, तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा। तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये। तृतीया पुनरियम्—मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्त विहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतर शुभा ऽशुभयोरेकतर सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। अस्या चैकोनत्रिंशति त्रिप्रकारायामपि सामान्येन षड्भि संस्थानै षड्भि संहननै प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या स्थिराऽस्थिराभ्या शुभा ऽशुभाभ्या सुभग दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दु स्वराभ्या आदेया ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या ४६०८ भङ्गा वेदितव्या। येव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सेव तीर्थकरसहिता त्रिंशत्। अत्र च स्थिरा ऽस्थिर

१ स० म० °यानां मध्या° ॥ २ स० १ त० °म्नानामाद्यानां संहनना° ॥ ३ स० छा० °व्यम्। भङ्गा ॥ ४ हुण्ड असम्प्राप्त वा सासादना न बध्नाति ॥ ५ एकोनत्रिंशत् त्रिंशति च भङ्गा अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योग्य पञ्चविंशतौ बन्धे भङ्ग एक ॥

शुभा ऽशुभ-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि ४६१७ । उक्त च—

पणुवीसमम्मि एक्को, छायालसया अडुघर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सवे, छायालसया उ सघरसा ॥ (　　)

तथा देवगतिप्रायोग्य बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिरियम्—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा ऽशुभयोरेकतरं सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासा समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादन मिश्रा ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्य बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिराऽस्थिर-शुभा ऽशुभ यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । नवरमेना देवगतिप्रायोग्या बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति । त्रिंशत् पुनरियम्—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम शुभनाम स्थिरनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्तिनाम निर्माणनामेति । एतासा त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्य बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्याऽपूर्वकरणस्य च वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्ग । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्ग । सर्वसङ्ख्यया देवगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा अष्टादश । तदुक्तम्—

अट्ठऽट्ठ एक्क एक्कग, भगा अट्ठार देवजोगेसु । (　　)

तथा नरकगतिप्रायोग्य बध्नत एक बन्धस्थान अष्टाविंशति , सा चेयम्—नरकगति नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभ दुर्भग दु स्वरम् अनादेयम् अयश कीर्ति निर्माणमिति । एतासा अष्टाविंशतिप्रकृतीनामेक बन्धस्थानम्, एतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र सर्वाण्यप्यशुभान्येव कर्माणीन्येक एव भङ्ग । एक तु बन्धस्थान यश कीर्तिलक्षणम्, तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीना त्रयाणामवगन्तव्यम् ॥ २४ ॥

---

१ पञ्चविंशत्यादि षट्चत्वारिंशच्छतानि अष्टोत्तराणि एकोनत्रिंशति । मनुष्यत्रिंशति अष्टौ तु सर्वे चत्वारिंशच्छतानि तु सप्तदश ॥ २ मुद्रि० छा० °रतानां सर्वविरतानां । स० त० १ °रतानां ॥ ३ स० त० १ त० °त्रीणि एक ए ॥ ४ अष्टावष्टावेक एकको भङ्गा अष्टादश योगेषु ॥ ५ स० १ त० मनुष्ये । स० म० छा० वजोगे ॥

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सामान्येन प्राप्यन्ते ? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

चउ पणवीसा सोलस, नव बाणउईसया य अडयाला।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥ २५ ॥

त्रयोविंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं 'चतुरादिसङ्ख्या बन्धविधय' बन्धप्रकारा—बन्धभङ्गा वेदितव्या । तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वार, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेया, अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः—तत्रैकेन्द्रियप्रायोग्या पञ्चविंशतिं बध्नतो विंशति, अपर्याप्तकद्वि त्रि चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्यप्रायोग्यां च बध्नतामेकैक इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशति । षड्विंशतिबन्धस्थाने भङ्गाः षोडश, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेया, अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव—तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ, नरकगतिप्रायोग्या तु बध्नत एकं इति । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गा अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४८—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बन्धतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्या देवगतिप्रायोग्या च तीर्थकरसहिता बध्नता प्रत्येकमष्टावष्टाविति । त्रिंशति बन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६४१—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च बध्नता प्रत्येकमष्टावष्टौ, देवगतिप्रायोग्यामाहारकसहिता त्रिंशतं बध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशति बन्धस्थाने एक । एकविधे चैक । सर्वसङ्ख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १३९४५ इति ॥२५॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेद बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

वीसिगवीसा चउवीसगाई एगाहिया उ इगतीसा ।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २६ ॥

'नाम ' नामकर्मण उदयस्थानानि द्वादश । तद्यथा—विंशति एकविंशति, चतुर्विंशत्यादय 'एकाधिका' एकैकाधिकास्तावद् वक्तव्या यावदेकत्रिंशत्, तद्यथा—चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, तथा नव अष्टौ च । एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तानाश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यन्ते—

तत्रैकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्वि

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अशीतितमी ॥ २ सं० सं० १ छा० °वहयस° ॥ ३ मुद्रि० °प्तो मिथ्यादृष्टिर्वि° ॥ ४ छा० मुद्रि० °ग्यामव ॥ ५ मुद्रि० °क एवंति ॥ ६ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये सप्ताशीतितमी ॥ ७ सप्ततिकाभाष्ये तु—°इ इगतीसगत एगहिया ॥

ति सप्तविंशतिश्च । तत्र तैजस-कार्मणे अगुरुलघु स्थिरा ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा
र्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवा । एता तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनाम
न्द्रियजाति बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्ता ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति
। कीर्त्योरेकतरा इत्येनवप्रकृतिसहिता एकविंशति । अत्र भङ्गा पञ्च—बादर सूक्ष्माभ्या
पर्याप्ता ऽपर्याप्ताभ्यामयश कीर्त्या सह चत्वार , बादर पर्याप्त-यश कीर्तिभि सह एक इति ।
ऽपर्याप्ताभ्यां सह यश कीर्तेरुदयो न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । एषा
तिरिकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या । तत शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्ड
उपघात प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति चतस्र प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चाप
तश्चतुर्विंशतिर्भवति । अत्र च भङ्गा दश, तद्यथा—बादरपर्याप्तस्य प्रत्येक साधारण
-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार , अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयश कीर्त्या सह द्वौ,
र्याप्ता ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणैरयश कीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायि
य कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रिय वक्तव्यम्, ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते,
बादर-पर्याप्त प्रत्येका ऽयश कीर्तिपदैरेक एव भङ्ग । तेजस्कायिक-वायुकायिकयो
कीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ
। तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशति । अत्र भङ्गा षट्,
रस्य प्रत्येक-साधारण-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार , सूक्ष्मस्य प्रत्येक-साधा
कीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत शरीरपर्याप्त्या पर्या
(१२१८) पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्ग ।
विंशतौ सप्त भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते षड्वि
भङ्गा प्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते आतप
मनुदिते षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि भङ्गा षट्, तद्यथा—बादरस्योद्योतेन सहि
रण-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार , आतपसहितस्य च प्रत्येक-यश कीर्ति
। बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे
विंशति षड्विंशतिर्भवति तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्ग । तेजस्कायिक-वायुका
यश कीर्तिनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया
। तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप
प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति, अत्र भङ्गा षड् ये प्रागातप उद्योताभ्या
प्रतिपादिता । सर्वसङ्ख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् ४२ ।

वतीति तदा ॥ १ सं० १ सं० प्राप्ति । अत्र ॥ सं० सं०
म । एवमग्रेऽपि प्रक्षिप्ते इत्यत्र स्थाने क्षिप्त क्षिप्त इत्यत्र स्थाने प्रक्षिप्ते

एगिंदियउदएसु, पंच य एक्कार सत्त तेरस या ।
छक्क कमसो भंगा, बायाला हुंति सव्वे वि ॥ (   )

द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातित्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते । अत्र भङ्गास्त्रयः, तद्यथा—अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य अयशःकीर्त्या सह एकः, पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वाविति । तस्यैव च शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशतिः, अत्रापि भङ्गास्त्रयः, ते च प्रागिव द्रष्टव्याः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगति पराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ, अपर्याप्तकस्य प्रशस्तविहायोगत्योरत्रोदयाभावात् । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ । सर्वेऽप्येकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर दुःस्वर-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिभिश्चत्वारो भङ्गाः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ, सर्वे त्रिंशति षड् भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिश्चत्वारो भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया द्वीन्द्रियाणां द्वाविंशतिर्भङ्गाः । एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् षट् उदयस्थानानि भावनीयानि, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिः, चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या, प्रत्येकं च भङ्गा द्वाविंशतिर्द्वाविंशतिरिति । सर्वसङ्ख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षट्षष्टिः ६६ । तदुक्तम्—

तिग तिग दुग चउ छ चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि । (   )

प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरत् सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरत् यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरत् इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः,

[illegible]

एवं सप्ताविंशत्युदयो वर्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्यः। अत्र भङ्गा [illegible] पर्याप्तनामोदये वर्तमानस्य सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-नादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च [illegible] भङ्गाः, अपर्याप्तनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगानादेयायशःकीर्तिभिरेक [illegible]।

अपरे पुनराहुः—सुभगाऽऽदेये युगपदुदयमायातः दुर्भगानादेये च, [illegible] सुभगाऽऽदेययुगलदुर्भगानादेययुगलाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च [illegible] अपर्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्च। एवमुत्तरत्रापि [illegible] परिभावनीयम्।

तत्र शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग [illegible] संस्थान [illegible] पर्याप्तनामेकतमत् संहनन उपघात [illegible] षड्विंशतिः। अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९—[illegible] षड्भिः संस्थानैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-नादेयाभ्यां [illegible] भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८, अपर्याप्तकस्य हुण्डसंस्थान [illegible] कीर्तिभिरेक इति। तस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघात [illegible] योग्ययोरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, अत्र [illegible] अष्टाशीत्यधिके २८८ उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते [illegible] भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ भवन्ति। तत [illegible] प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गाः प्राग्वत् पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६। [illegible] शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि [illegible] पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६। सर्वसङ्ख्या [illegible] एकादश शतानि ११५२। ततो भाषापर्याप्त्या [illegible] त्रिंशद् भवति, अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन [illegible] स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जायन्ते द्विपञ्च [illegible] प्राणपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि [illegible] त्रिंशत् [illegible] पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६। सर्वसङ्ख्या [illegible] विंशत्यधिकानि १७२८। तत स्वरसहितायां [illegible] अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां [illegible] द्विपञ्च [illegible] एकत्रिंशत् [illegible]। सर्वसङ्ख्यया [illegible] ११५२ [illegible] षडधिकानि ४९०६।

[illegible]

[illegible]

समचतुरस्रम् उपघात प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्याया
प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र सुभग-दुर्भगाभ्याम
देयाभ्यां यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गा । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य
प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिर्भवति, तत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । त
पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ
अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिर्भव
प्यष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतौ भङ्गा षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य
सहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथ
पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि प्रागिवा
सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । तत सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षि
अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया वैक्रिय कुर्वतां षट्पञ्चाशद् भङ्गा ५६ । सर्वे
ञ्चेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्टयधिकानि ४९६२ भङ्गानामवसे

सामान्यमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अ
एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि त
वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये
शत् त्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या, वैक्रिया ऽऽहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्या
दयाभावात् । तत एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, त्रिं
शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ अवगन्तव्यानि । सर्वसङ्ख्यया प्राकृतमनुष्याणां
शतानि द्व्यधिकानि २६०२ भङ्गानां भवन्ति ।

वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अ
एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग सम
उपघात त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया
[illegible] यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरा इति त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्यु
[illegible] पञ्चविंशति २५ । अत्र सुभग-दुर्भगा ऽऽदेया ऽनादेय-यश कीर्ति अयश की
भङ्गा । देशविरतानां संयतानां च वैक्रिय कुर्वतां सर्वप्रशस्त एव भङ्गो वेदितव्य । तत
[illegible] पर्याप्तस्य पराघात प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशति, अत्रापि
भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशति, अत्रापि
भङ्गा । अथवा संयतानां उत्तरवैक्रिय कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासेऽनुदिते
नाम्नि तूदितेऽष्टाविंशति, अत्रैक एव भङ्ग, संयतानां दुर्भगाऽनादेयाऽयश कीर्त्युदया
सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिता
[illegible] सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा संयता

१ [illegible]

ऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतानामुद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत् ३५ ।

आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् [illegible] पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी [illegible] ततो जाता पञ्चविंशतिः, केवलमिह पदानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति, [illegible] दुर्भगानादेयायशःकीर्त्युदयाभावात्, अत एक एवात्र भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या [illegible] पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः [illegible] पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा [illegible] पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य [illegible] अष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा [illegible] पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । [illegible] एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य [illegible] प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया आहारक[illegible] भङ्गाः ।

केवलिनामुदयस्थानानि दश, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः [illegible] अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र [illegible] त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिरित्येता अष्टौ [illegible] सह विंशतिः, अत्रैको भङ्गः । एषा चातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य [illegible] वर्तमानस्य वेदितव्या । सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः [illegible] एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे [illegible] तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानम् [illegible] वज्रर्षभनाराचसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः [illegible] चातीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्य [illegible] षड् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि [illegible] षड्विंशतिः तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति एषा [illegible] वर्तमानस्यावसेया, अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव [illegible] ततः पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगति[illegible] सहिता त्रिंशद् भवति एषा चातीर्थकरस्य [illegible]

1 [illegible]

24

गन्तव्या, अत्र संस्थानषट्क-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरैश्चतु[illegible]
च सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथग् गण्यन्ते। एवमेव त्रिंश[illegible]
सहिता एकत्रिंशद् भवति, सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे
ज्ञेया। एवमेव एकत्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद् भवति, उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे
अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद् भवति,
संस्थानैः विहायोगतिद्विकेन च द्वादश भङ्गाः प्राप्यन्ते, ते च प्रागिव न पृथग्
उच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि संस्थानादिगता द्वादश भङ्गा न पृथग्
सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात्। तथा मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति
नाम पर्याप्तकनाम सुभगम् आदेयं यशःकीर्ति तीर्थकरमिति नवोदयः, एष च
[illegible]चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते। स एवातीर्थकरस्य तीर्थकरनाम[illegible]
इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति एकविंशति सप्तविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्[illegible]
ऽष्टस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको विशेषभङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः। त[illegible]
[illegible] शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड् भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया म[illegible]
[illegible]नेषु [illegible]शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि २६५२।

[illegible]स्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः
[illegible] त्रिंशत्। तत्र देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति [illegible]
[illegible]योरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्ति अयशःकीर्त्योरेक[illegible]
[illegible] एकविंशतिः, अत्र सुभग-दुर्भगा[illegible]
[illegible] अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः। दुर्भगानादेयाऽयशःकीर्त्युदय [illegible]
[illegible]। तत्र शरीरस्थस्य वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् उपघात प्रत्येक समचतु[illegible]
[illegible] देवानुपूर्वी [illegible] ततो जाता पञ्चविंशतिः, अत्र
[illegible]। अत्र शरीरपर्याप्त्या [illegible] प्रशस्तविहायोगती च प्रक्षिप्य[illegible]
[illegible] भङ्गाः, देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात्, तदाश्रिता
[illegible]। अत्र [illegible] [illegible]ऽष्टाविंशतिः, अत्रापि न [illegible]
[illegible] उच्छ्वासपर्याप्त्या [illegible] उच्छ्वासे [illegible]
[illegible] भङ्गाः [illegible] भङ्गाः [illegible]। [illegible]
[illegible] भवन्ति, [illegible] भङ्गाः, [illegible] देवानां न [illegible]
[illegible] न भवन्ति [illegible]
[illegible] भवति, [illegible]

१ [illegible]

एवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया देवानां चतुःषष्टिर्भङ्गाः ६४ ।

नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । तत्र नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयम् अयशःकीर्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सहैकविंशतिः, अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति एक एव भङ्गः । ततः शरीरस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते नरकानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाताऽप्रशस्तविहायोगत्यो प्रक्षिप्तयोः सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः । सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ७७९१ ॥ २६ ॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते[1] इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

एग बियालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥ २७ ॥
अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं ।
इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥ २८ ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्या 'उदयविधयः' उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः । तत्र विंशतावेको भङ्गः, स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेयः । एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, तीर्थकरमधिकृत्यैकः, सुरानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् ४२ । चतुर्विंशतावेकादश, ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३ । षड्विंशतौ षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, प्राकृतमनुष्यानप्यधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ इति षट् शतानि ६०० । सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट्,

१ छा० मुद्रि० "प्राप्यन्ते इत्येवं कृत्वा एक ए" ॥ २ स० मुद्रि० रणत्या पञ्चसत्य वैकि ॥
३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये द्वाविंशति त्रयोविंशत्यधिकैकसप्ततितमी ॥ ४ त० म० करत ॥

वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैकं, केवलिनमधिकृत्यैकं, देवानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। अष्टाविंशतौ द्वयधिकानि द्वादश शतानि १२०२—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७८५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकं, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि २९१७—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैकं, आहारकसंयतानधिकृत्यैकं, केवलिनमधिकृत्यैकं, देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ११६५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, तीर्थकरमधिकृत्यैकं। एको नवोदये। एकोऽष्टोदये। सर्वोदयस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि ७७९१ इति ॥ २७-२८ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह—

तिनउई उगुनउई, अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पणत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥ २९ ॥

नाम्न—नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः अष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः। सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः। त्रिनवतिरेवाहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकसङ्घाताऽऽहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः। सैव तीर्थकररहिता अष्टाशीतिः। ततो नरकगति-नरकानुपूर्व्योरथवा देवगति-देवानुपूर्व्योरुद्वलितयोः षडशीतिः, अथवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियसङ्घात-वैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः, अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं बध्नतो देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिः। ततो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने अथवा देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः। ततो मनुजगति-मनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः। एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि। क्षपकाणां पुनरमूनि—त्रिनवतेः नरकगति-नरकानुपूर्वी तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-स्थावराऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति,

द्विनवते क्षीणे एकोनाशीति, एकोननवते क्षीणे षट्सप्तति, षडशीतौ क्षीणे पञ्चसप्तति । मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-बादर-पर्याप्त-सुभगाऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकरनामानीति नवकसत्तास्थानम्, तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते। तदेवातीर्थकरकेवलिचरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति ॥ २९ ॥

तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि सम्प्रति संवेधप्रतिपादनार्थमुपक्रमते—

अट्ठ य बारस बारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
ओहेणाऽऽदेसेण य, जत्थ जहासंभवं विभजे ॥ ३० ॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्ट-द्वादश-द्वादशसङ्ख्यानि । तानि 'ओघेन' सामान्येन 'आदेशेन च' विशेषेण च 'यथासम्भवं' यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा 'विभजेत्' विकल्पयेद् उपरमप्यनुसारेण । तत्रामुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यम् । मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्थानेषु प्रत्येकमेतावन्ति बन्धस्थानानि एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं च तेषां परस्परं संवेध इत्यादेशः ॥ ३० ॥

तत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह—

नव पंचोदय संता, तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नव संतुगतीस तीसम्मि ॥ ३१ ॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥ ३२ ॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य एव, तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् । तत्र त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणामवसेयः, तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवात् । चतुर्विंशत्युदयोऽपर्याप्त-पर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्ट्यादीनाम् । षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम् । सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैक-

१ छा० मुद्रि० "सत्ताबाद" ॥ २ सं १ त० म० "वार्थमाद ॥ ३ छा० मुद्रि० "भए ॥
४ छा० त० सत्तिसु ॥ ५ सं० मुद्रि० दृष्टीनाम् ॥ ६ मुद्रि० त० म० "इन्द्र' मनु ॥
७ त० म० "इत्यर्दीनाम् ॥

[illegible] वैक्रियमनुष्याणां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां च मिथ्यादृष्टीनाम्। [illegible] चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां [illegible] विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनाम्। [illegible] न भवन्ति। तेषां च [illegible] सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि, [illegible] षडशीति [illegible] अष्टसप्ततिश्च। [illegible] वर्तमानानां [illegible], केवल मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि [illegible] प्राप्यते, [illegible] मनुष्याणां [illegible]। [illegible] सत्तास्थानानि केवलं वायुकायिकस्य वैक्रिय [illegible] सत्तास्थानानि [illegible] वैक्रियषट्क मनुष्यद्विक [illegible] वैक्रिय [illegible] इति [illegible], [illegible] वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात् [illegible] वैक्रियषट्के [illegible] मनुष्यद्विकमुद्वलयति [illegible] पूर्वम्, तथा चोक्तं चूर्णौ—

[illegible] ( )।

[illegible]। [illegible] सत्तास्थानानि। [illegible] मनुष्यद्विकं मनुष्यानुपूर्वी [illegible], तथा चाह चूर्णिकृत्—

[illegible] मणुयदुगं [illegible] ( ) इति।

[illegible] सत्तास्थानानि, [illegible] मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी [illegible] सत्तास्थानानि, [illegible] मनुष्य [illegible]

इति । तदेवं त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्संख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति । पञ्चविंशति षड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव, केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानां देवानाम् एकविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्त-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति, अपर्याप्तेषु विकले-न्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन पञ्चविंशति[illegible] षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशच्चत्वारिंशच्च सत्तास्थानानि ।

"अट्ठ चउरऽट्ठवीसे" त्ति अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशति —देवगतिप्रतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगति[illegible] ऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यायां [illegible] द्वे, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदय क्षायिक[illegible] कसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणामपान्तरालगतौ [illegible] । पञ्चविंशत्यु-दय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्यु-दय क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां [illegible] । [illegible] विंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । अष्टा-विंशति-एकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्याप्त्या [illegible] च [illegible] मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा, तथा आहारक[illegible] वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा[illegible] । त्रिंशदुदय[illegible] सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा, तथा आहारक[illegible] वा । एकत्रिंशदुदय पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । [illegible] स्त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदय पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । [illegible] पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशाम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां [illegible] द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । [illegible] स्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा— द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । [illegible] विंशतिबन्धकानामाहारकसंयत-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां [illegible] हारकसंयतो नियमादाहारक[illegible] द्विनवति [illegible] वा आहारक[illegible] [illegible] ष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे [illegible] दये देवगति-नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां [illegible]

[illegible]

द्विनवतिः एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च। तत्र द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया। एकोननवति, पुनरेवम्—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुख सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गत, तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावात् नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नत एकोननवति सत्ताया प्राप्यते। षडशीतिस्त्वेवम्—इह तीर्थकराऽऽहारकचतुष्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीति भवति, ततस्तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्यो वा जात सन् सर्वाभि पर्याप्तिभि पर्याप्तो यदि विशुद्ध ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टय च सत्ताया प्राप्यते इति तस्य षडशीति। अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टय चावश्य बध्यमानत्वात् सत्ताया प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीति। एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीति षडशीतिश्च। एकोननवतिरिह न प्राप्यते, एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते, न च तिर्यक्षु तीर्थकरनाम सद् भवति, तीर्थकरनामसत्कर्मण तिर्यक्षूत्पादाभावात्। षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या। तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावप्युदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनविंशतिस्थानानि सत्तास्थानानि भवन्ति।

—"नव सत्तुगतीस तीसम्मि" एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानाया प्रत्येक नव नवोदयस्थानानि, सप्त सप्त सत्तास्थानानि। तत्रोदयस्थानान्यमूनि, तद्यथा—एकविंशति, चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयस्तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नता पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-तिर्यङ्मनुष्याणां देव-नैरयिकाणा च। चतुर्विंशत्युदय पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्। पञ्चविंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देव-नैरयिकाणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टीनाम्। षड्विंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम्। सप्तविंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा देव-नैरयिकाणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टीनाम्। अष्टाविंशत्युदय एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां च। त्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्याणा देवानां च उद्योतवेदकानाम्। एकत्रिंशदुदय पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उद्योतवेदकानाम्। तथा देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतो मनुष्यस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वता मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि। त्रिंशत् स्वभावस्थानां भवति। इति चतुर्दशने—संयतान् मुक्त्वाऽन्येषां मनुष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभा-

१ सं० म । त० म० पु सर्व। २ छा० । म० "द्विकं वैक्रियचतुष्टय । सं० "द्विकवैक्रिय" ॥ ३ छा० १ म० बध्यमाने । ४ त० म० "भावात् ॥

नात् । सामान्येनैकोनत्रिंशद्रूपे सप्त सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । तत्र विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नता पर्याप्ता ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये वर्तमानाना पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, भावना यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्राग् उक्ता तथाऽत्रापि कर्तव्या । मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गति-मनुष्यगतिप्रायोग्यां पुर्वबध्नतां मनुष्याणां च स्वस्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । देव-नैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरसत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या, यतस्तीर्थकरनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनसम्भवः, "उभसंतिओ न मिच्छो" ( ) इति वचनात्, ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्कऽपगते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्ता भवति । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यम् । तदेवं सामान्येनैकोनत्रिंशद्रूपे एकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविंशत्युदये षड्, अष्टाविंशत्युदये षड्, एकोनत्रिंशदुदये षड्, त्रिंशदुदये षड्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि ५४ । तथा यथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य देव-नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानानि भावितानि तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदय-सत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देव-नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते । तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानं एकोननवतिः । त्रिनवतिरूपं तु तस्य सत्तास्थानं न भवति, तीर्थकराऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

उक्तं च चूर्णौ—

१ मुद्रि० छा० [illegible] ॥ २ छा० सं०१ त० प्र० [illegible]जानि चत्वारि [illegible] ॥ ३ म० सं० १ त० [illegible] चत्वारि सत्ता ॥ ४ उभयसन्तको न मिथ्यादृष्टिः ॥

जेसि तित्थगराऽऽहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ । (   ) इति ।

एवं पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयम् । नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते, त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते, न च नैरयिकस्यो-द्योतोदयो भवति । तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये पञ्च, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंश-दुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ ॥ ३१ ॥

"एगेगमेगतीसे" त्ति एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत्, यत एकत्रिंशद् देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकराऽऽहारकसहितं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते, न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति, ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते । एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः, तीर्थकराऽऽहारकचतुष्टययोरपि सत्तासम्भवात् ।

"एगे एगुदय अट्ठ सतम्मि" 'एकस्मिन्' यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एकां हि यशःकीर्तिं बध्नन्ति अपूर्वकरणादयः, ते चातिविशुद्धत्वाद् वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते, ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते । अष्टौ सत्तायाः स्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्या यावदनिवृत्ति बादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षप्यन्ते । त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेषु नानाजीवा-पेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते, तानि च तावद् लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् ।

"उवरयबंधे दस दस वेयग सतम्मि ठाणाणि" उपरते बन्धे बन्धाभावे इत्यर्थः, "वेयग" त्ति वेदनं वेदो वेद एव वेदकस्तस्मिन् उदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश स्थानानि । तत्रामूनि दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टा-विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशतिः एकविंशती यथासङ्ख्यम् तीर्थकर-तीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः । षड्विंशति-सप्तविंशती तयो-रेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोः । अतीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे त्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, एवं च द्विधा त्रिंशद्-एकोन-त्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयः, अतीर्थकरस्यायो-गिनोऽष्टोदयः । दश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्ता-स्थाने—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एवं षड्विंशत्युदयेऽष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्यम् । एकविं

१ यस्य तीर्थकराऽऽहारके युगपत् स्तः स नैरयिकेषु नोपपद्यते ॥ २ सं० १ त० म० °सहितं कर्म ब° ॥ ३ सं० १ त० छा० म० °तद्यथा° ॥ ४ सं० छा० मुद्रि० °शत्, तस्यैवोच्छ्वा° ॥

सत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । यत एकोनत्रिंशत् तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति, तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये, अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा आहारकसत्कर्मणः तीर्थकरस्य । तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः । आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट्सप्ततिः । तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एते च तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये, अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावद् वेदितव्ये, चरमसमये त्वष्टाविति । एवमबन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि अधिकृत्य त्रिंशत् सत्तास्थानानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवमुक्ता नामप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च । सम्प्रत्युक्तक्रमेणैषां जीवस्थानानि गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी निदर्श्यते—

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३३ ॥

त्रयो विकल्पाः—बन्ध-उदय-सत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि प्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैः जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः, भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथम् ? इत्याह—“जत्थ जहा संभवो हवइ” यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च ‘यथा सम्भवो भवति’ यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः, यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमतो जीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३४ ॥

संक्षिप्यन्ते—संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपाः—अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां संक्षेपा जीवसंक्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु

१ सं० प्र० मुद्रि० °स्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य च यावत् त्रयोदशस्य न दीयते । अन्यदपि ... क्षीणकषायोपशान्तस्य सयो° ॥ २ सं० स० १ स० २ °वा प्रकृ° । मुद्रि० छा० °वा प्रकृ°॥ ३ स० १ त० प्र० °मी निर्दिश्यते ॥ ४ छा० °भा वर्जेषु ॥

जीवस्थानेषु ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्बन्ध-उदय-सत्तारूपास्त्रयो विकल्पा प्राप्यन्ते, तद्यथा—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात्। सूत्रे "तिविगप्पो" इति द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः। "एक्कम्मि तिदुविगप्पो" 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो वा विकल्पा भवन्ति, द्वौ वा विकल्पौ। तत्र त्रयो विकल्पा इमे—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता। एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते। ततः परं बन्धव्यवच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ, तद्यथा—पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता। अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति, उदय-सत्तयोर्ध्रुवत्वात्। "करणं पइ एत्थ अविगप्पो" त्ति इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति, द्रव्यमनःसम्बन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते। उक्तं च चूर्णौ—

> मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति। मणोविन्नाणं पडुच्च ते
> सन्निणो न हवंति। ( ) इति।

ततः करणं-द्रव्यमनोरूपं प्रतीत्य यः संज्ञी सयोगिकेवली अयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् 'अत्र' ज्ञानावरणेऽन्तराये च 'अविकल्पः' त्रयाणामपि बन्धादिरूपाणां विकल्पानामभावः, [illegible] केवलिभावात् ॥ ३४ ॥

[illegible] गुणस्थानेषु विभजति—

[illegible] नव [illegible] पणग, नव सतेगम्मि भंगमेक्कारा।

[illegible] त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धः [illegible]। [illegible] "एगम्मि भंगमेक्कारा" त्ति 'एकस्मिन्' [illegible] ते च यथा प्राक् [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] जीवस्थानेषु [illegible] —

> [illegible]
> [illegible] ॥ १ ॥

[illegible], तद्यथा—[illegible], [illegible] द्वौ विकल्पौ [illegible], [illegible]

[illegible]

भावात् । तथा सातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते । ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्योदय सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदय सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्यया ... भङ्गाः । इह [illegible] केवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् संज्ञी व्यवह्रियते, तत [illegible] पर्याप्त [illegible] जीवस्थाने भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—असातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती ।

"सत्तग तिग च गोए" इति 'गोत्रे' गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः, तद्यथा—नीचै-र्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजोवायुभवादुद्धृत्य [illegible] द्वीन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं प्राप्यते । नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती, एतौ च द्विकल्पौ पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ, [illegible] भावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती [illegible] मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, [illegible] भावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पः [illegible] सम्परायगुणस्थानकं यावदवसेयः । परतो बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् [illegible] । [illegible] स्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । '[illegible]' [illegible] रिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, तद्यथा—[illegible] स्योदय नीचैर्गोत्रं सत्, अयं विकल्पस्तेजोवायुषु [illegible] भवाद् उद्धृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिषु [illegible] गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती, [illegible] उच्चनीचैर्गोत्रे सती । शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति [illegible] ।

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणाय चाहान्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं नवगं पणगं च आउस्स ॥ ३ ॥

[illegible]
[illegible]

समना –संज्ञी, तत्र पर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो भङ्गा अष्टाविंशतिः, अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गाना दशकम्, पर्याप्ते 'अमनसि' असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गाना नवकम्, 'शेषेषु' एकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गाना प्रत्येकं पञ्चकमिति। तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः — नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत्, अयं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्, परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-मनुष्यायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाले नरकायुष उदयः नरक तिर्यगायुषी सती, अथवा नरकायुष उदयः मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्, ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्च विकल्पाः। एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः, नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि। तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्य तिर्यगायुषी सती, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः देव तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाले तिर्यगायुष उदयो नरक तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयः तिर्यक् तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव तिर्यगायुषी सती। सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः। एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः, केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेत्यादि। तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिनि पर्याप्तेऽष्टाविंशतिर्भङ्गाः। अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गा इमे— तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सत्ता, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाले तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती। एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः। एवं मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः। सर्वसङ्ख्यया दश। शेषा न सम्भवन्ति, अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा, न देव-नारकौ, न चापि स देवायुर्नारका-युर्वा बध्नाति, ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः। तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा उक्तास्त एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः, यतोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादिः, ततोऽत्र मनुष्याश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते। तथा यऽपर्याप्तसंज्ञितिरश्चः पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्त एवं पञ्च भङ्गाः शेषेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्याः, सर्वेषामपि तिर्यक्त्वाद् देवादिष्वनुत्पादाभावाच्च।

मोह पर वोच्छ ॥ ३५ ॥

१ छा० मुद्रि० "बन्ध०" ॥ २ सं० "बन्धे त्वि ॥ ३ सं० १ सं० मो० "पुर्बन्ध०" ॥ ४ छा० "बं० ॥ ५ सं० सं० १ सं० मो० "वं भङ्गा" ॥

अत परं 'मोह' मोहनीय जीवस्थानेषु वक्ष्ये ॥ ३५ ॥

अट्ठसु पचसु एगे, एग दुग दस य मोहबधगए।
तिग चउ नव उदयगए, तिग तिग पन्नरस सतम्मि ॥३६॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रम एक द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति। तत्र 'अष्टसु' पर्याप्ता ऽपर्याप्तसूक्ष्मा ऽपर्याप्तबादर-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिया ऽसंज्ञिसंज्ञिरूपेषु एक बन्धस्थान द्वाविंशतिरूपम्। द्वाविंशतिश्चेयम्—मिथ्यात्व षोडश कषाया त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद हास्य-रतियुगला ऽरति शोकयुगलयोरन्यतरद् युगल भय जुगुप्सा चेति। अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्या युगलाभ्या षड् भङ्गा भवन्ति। पर्याप्तबादरे द्वि-त्रि चतुरिन्द्रिया ऽसंज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तत्र द्वाविंशति प्रागिव सभेदा वक्तव्या। सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशति। सा च केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थाया सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषाम्, [illegible] वा। अत्र चत्वारो भङ्गा, यत इह नपुसकवेदो न बन्धमायाति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, नपुसकवेद बन्धस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्। ततो द्वाभ्या वेदाभ्यां द्वाभ्यां च युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गा। एकस्मिंस्तु पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि, [illegible] च यावत् सभेदानि वक्तव्यानि।

"तिग चउ नव उदयगए" इति, यथोक्तरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येक [illegible] दयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। एषु [illegible] प्राप्यन्ते, तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात्। वेदश्च तेषामुदयमाश्रित्य नपुसकवेद एव, न स्त्रीवेद पुरुषवेदौ। तत 'अष्टोदये' मिथ्यात्व क्रोधादीनामन्यतम [illegible] युगलमित्येवरूप चतुर्भि क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्ट। अष्टौ [illegible] एव भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदय, [illegible] विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया नवोदये भङ्गा षोडश। भय-जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयो [illegible], अत्र भङ्गा अष्टौ। सर्वसङ्ख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येक [illegible] उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येक चत्वारि चत्वारि [illegible] दश। तत्र सासादनभावकाले [illegible] तेषामुदयमाश्रित्य नपुसकवेद, ततोऽन्यतम [illegible] सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुव, अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गा। [illegible] नवोदय, अत्र प्रत्येक भये जुगुप्सायां चाष्टौ भङ्गा [illegible] षोडश। ततो भय जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवोदय अत्रापि [illegible]

[illegible]

भावे भङ्गा द्वात्रिंशत्। सासादनभावाऽभावे द्वाविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। एतानि च प्रागिव भावनीयानि। चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धिपर्याप्तके त्रीन् वेदान् यथायोगमुदयमागतानिच्छति, ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादावुदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिभङ्गा अवसेया। 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि।

"तिग तिग पन्नरस संतम्मि" 'अष्टसु' पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च। 'पञ्चस्वपि च' उक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि। 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिबन्धस्थानम्, त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च। सर्वसङ्ख्यया नव सत्तास्थानानि। पञ्चसूक्तरूपेषु जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशति एकविंशतिश्च। तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्युदयस्थानानि, एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि। एकविंशतिबन्धेऽमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव। एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानम् अष्टाविंशतिः, एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते, सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणः, तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्, ततस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिरेव। तदेवमेकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, द्वाविंशतिबन्धे च नवेति। सर्वसङ्ख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति। 'एकस्मिन्' संज्ञिपर्याप्ते पुनः जीवस्थाने संवेधः प्रागुक्त एव समस्तो द्रष्टव्यः ॥ ३६ ॥

सम्प्रति नामकर्म जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

पण दुग पणग पण चउ, पणग पणगा हवंति तिन्नेव ।
पण छ प्पणग छ च्छ प्पणगं अट्ठट्ठ दसग त्ति ॥ ३७ ॥

सत्तेव अपज्जत्ता, सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ, तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

[illegible] यथाक्रमं सम्बन्धः, तद्यथा—"पण दुग पणगं" इति "सत्तेव [illegible]" [illegible] यथाक्रमं [illegible], [illegible] द्वे द्वे उदयस्थाने, [illegible]। [illegible]—[illegible]

१ [illegible] 'तन्मतेन तस्य' ॥ २ [illegible]

त्रिंशत् त्रिंशत् । अपर्याप्ता हि सन्तोपि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न देव-नारकप्रायोग्यम्, ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते नोनाधिकानि । तानि च तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्च वक्तव्यानि । उदयस्थाने पुनरपर्याप्तबादर-सूक्ष्मैकेन्द्रिययोरिमे—एकविंशति चतुर्विंशतिश्च । तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियम्—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी तैजसं कार्मण अगुरुलघु वर्णादिचतुष्टयम् एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरा ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्ति निर्माणमिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते, अत्र चैक एव भङ्ग , अपर्याप्तस्य परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुदयाभावात् । सूक्ष्मापर्याप्तकस्याप्येषैवैकविंशतिरवसेया, नवरं बादरनामस्थाने सूक्ष्मनामेति वक्तव्यम्, अत्राप्येक एव भङ्ग । उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टये प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशतिः, अत्र प्रत्येक साधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य बादरापर्याप्तस्य च प्रत्येक द्वौ द्वौ भङ्गौ । तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येक त्रयस्त्रयो भङ्गाः विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञि संज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति एक एव भङ्ग । तत शरीरस्थस्यौदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननाम् उपघात प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्क प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्ग । एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यम्, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्या द्युच्चारणीयम् । तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येक द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ, केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वार, यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्च प्राप्यते, द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति । तथा प्रत्येक सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । एतेषां च स्वरूप प्रागिव द्रष्टव्यम् ।

"पण चउ पणग" त्ति "सुहुमा" इति सम्बध्यते । सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि च तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि, तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसम्भवात् । एतेषां च स्वरूप प्रागिव सप्रपञ्च द्रष्टव्यम् । उदयस्थानानि चत्वारि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशति सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या,

१ सं० १ त० म० छा० "श्चतिश्च" ॥ २ मुद्रि० छा० "त्येव चेह" ॥
३ छा० मुद्रि० "त्रि कर्त्वे ए" ॥

[illegible]

[illegible]

षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः, अत्र प्रागिवान्येन द्वौ [illegible] सह चत्वार इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः । सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः [illegible] । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं प्रत्येका [illegible] कीर्तिभ्यां य एकैको भङ्गः [illegible] द्वौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ ये च वैक्रियबादरवायुकायिकसत्काश्चतुर्विंशतौ [illegible] पञ्चसत्तास्थानका, शेषास्त्वेकविंशतिनिमित्ताश्चतुःसत्तास्थानका ।

"पण छ प्पणग" ति अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति सम्बध्यते । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च पञ्चस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि । षड् उदयस्थानानि [illegible] — एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र [illegible] एकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा अस्थिरे शुभा अशुभे [illegible] तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम [illegible] दुर्भगम् [illegible] कीर्ति अयशःकीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य [illegible] वसेया, अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्ति अयशःकीर्तिभ्याम् । तत [illegible] औदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननम् उपघात प्रत्येकमिति [illegible] आनुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ । [illegible] तस्य पराघातेऽप्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, [illegible] द्वौ भङ्गौ । [illegible] प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्र [illegible] द्वौ भङ्गौ [illegible] मेवाष्टाविंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते [illegible] एकोनत्रिंशत्, [illegible] द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या [illegible] त्रिंशत् सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र [illegible] सुस्वर दुःस्वर [illegible] अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, अथवोच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति [illegible] त्रिंशत्, अत्रोद्योत-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ । सर्वसंख्यया [illegible] स्वरसहितायामेव त्रिंशति उद्योते क्षिप्ते एकत्रिंशत्, अत्र सुस्वर दुःस्वर [illegible] कीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः । सर्वसंख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य [illegible] तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । [illegible] भङ्गौ यौ च षड्विंशत्युदये एते चत्वारः [illegible] द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वे तेजस्कायिकस्य [illegible] सत्तास्थानका, तेजस्कायवायुभ्यामागताः । [illegible] मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति [illegible] च चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् ।

१ मुद्रि० [illegible] । २ मुद्रि० [illegible] ।

"छ च्छ प्पणग" ति अत्र "असन्नी य" इति सम्बध्यते। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ता नरकगति देवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति। ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थाने लभ्यते। षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतर आदेया ऽनादेययोरेकतरं यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरकरेति। एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते। अत्र सुभग-दुर्भगा ऽऽदेया ऽनादेय-यश कीर्ति-अयश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा। तत शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग षण्णा संस्थानानामेकतमत संस्थान षण्णा संहनननामेकतमत् संहननम् उपघात प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्क प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्र षड्भि संस्थानै षड्भि संहननै सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८। तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशति, अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति ५७६। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानाम् ५७६, सर्वसङ्ख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ स्वरद्विकेन गुण्यन्ते तत एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गा सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८। तत स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकानि ४९०४। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिविहीनत्वाद् वैक्रियं नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते। सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च। अत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गा षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्या २८८ पञ्चसत्तास्थानका, शेषा सर्वेऽपि चतु सत्तास्थानका, युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या।

"अट्ठऽट्ठ दसग" ति अत्र "सन्नीय" इति सम्बध्यते। संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्ध-

१ सं० "बन्ध पर्या"। छा० यस्यार्या" ॥ २ सं० १ त० म० "ङ्गा पञ्च श ॥ ३ मुद्रि० इत्येन्नास्ति छ० ॥ ४ सं० १ त० म० "ङ्गा ११५२ भवन्ति ॥

स्थानानि, तानि चाष्टौ विंशति चतुर्विंशति-नवा ऽष्टरहितानि। सत्ताण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ, विंशति-नवा ऽष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति, चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणाम्, अत एते वर्ज्यन्ते, अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति तदुदयप्रतिषेध । नवा ऽष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्ता स्थानानि, तानि च दश । अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ, षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिक शतद्वयसङ्ख्या, २८८ पञ्चसत्तास्थानका, शेषाश्चतु सत्तास्थानका ।

सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते—सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धानामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च। एव चतुर्विंशत्युदयेऽपि । सर्वसङ्ख्यया दश । एव पञ्चविंशति षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकाना मपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येक दश दश सत्तास्थानान्यवगन्तव्यानि, सर्वसङ्ख्यया पञ्चाशत् ५० । एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्ताना भावनीयम्, नवरमासीये आनीते द्वे द्वे उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूप वक्तव्ये । सूक्ष्मपर्याप्तकाना त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया विंशति । एव पञ्चविंशति षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । तत सूक्ष्मपर्याप्ताना सर्वसङ्ख्यया सत्ता स्थानानि शतम् १०० । बादरैकेन्द्रियपर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्या चतु र्विंशति । एव पञ्चविंशति षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतु र्विंशति सत्तास्थानानि वाच्यानि । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंश [illegible] १२० सत्ता स्थानानाम् । द्वीन्द्रियपर्याप्तकाना त्रयोविंशतिबन्धकानाम् एकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये [illegible] पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशदुदयेषु तु प्रत्येक [illegible] रीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशति । एव पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानां [illegible] षड्विंशति षड्विंशति सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया त्रिंश शतम् १३० । एव त्रीन्द्रिय[illegible] चतु रिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयो विंशतिबन्ध नामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशति । एव [illegible] शति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । अष्टाविंशतिबन्धका [illegible] स्थाने, तद्यथा—त्रिंशदेकत्रिंशच्च । तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि [illegible] अष्टाशीति षडशीतिश्च । अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या नरकगति [illegible] बध्यमानायामवश्य वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते [illegible] । सर्वसङ्ख्यया [illegible] सासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशं सत्तास्थानानां शतम् १३६ । [illegible] बन्धकानां प्रागिव षड्विंशति सत्तास्थानानि [illegible] । एव [illegible]

[illegible footnotes]
१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible]
५ [illegible] ॥

तेषां पञ्चविंशतिबन्धकानां पञ्चविंशत्युदये सत्तास्थानानि च द्वे, तद्यथा— द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवमेव च षड्विंशत्युदयेऽपि [illegible] । एवं षड्विंशतिबन्धकानामपि [illegible] । सप्तविंशति-बन्धकानामष्टौ उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टा-विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशच्च । पञ्चविंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा— द्विनवति-रष्टाशीतिश्च । एवं एते एव द्वे पञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येक-मवसेये । त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एकोननवतिश्च भावना प्रागिवाष्टाविंशतिबन्धके कृता [illegible], त्रि-धाभावात् [illegible] । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा—द्विनवतिः अष्टा-शीतिः षडशीतिश्च । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशतिः सत्तास्थानानि । एकोन-त्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । नवरम् विशेषो मन्तव्यो—[illegible] एकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने भवतः, तद्यथा—त्रिनवति-रेकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसंयत-[illegible] ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । अथवा आहारकसंयतानाधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च त्रिनवति, नैरयिक तीर्थंकरसत्कर्माण मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवतिः । सर्वाणि चतुर्दश । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् । त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्च-विंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । केवलं देवानां मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थ-करनामसहितां त्रिंशत बध्नतां एकविंशति पञ्चविंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एतानि च द्वादश, तत सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकानामेकमेव त्रिनवतिरूप सत्तास्थानम्, एकत्रिंशत हि तीर्थंकराऽऽहारकसहितामेव बध्नाति, ततस्तीर्थकृदा-ऽऽहारकयोरपि सत्ताया प्रक्षेप त्रिनवतिरेव भवति । एकविधबन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्या यावद् नामापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते, तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते । बन्धाभावे सञ्ज्ञिपर्याप्ता-नामष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि, केवलमाद्यानि चत्वार्युपशान्तमोह-गुणस्थानके, उपरितनानि तु चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थानके । तदेवं सर्वसङ्ख्यया सञ्ज्ञिपर्याप्ताना द्वे शते सत्तास्थानानामष्टाधिके २०८ । यदि पुनर्द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् केवलिनोऽपि सञ्ज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति । तथाहि—केवलिना दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एको-

१ स० छा० प्राक्तनव० ॥ २ स० १ त० म० स्थान भवन । अथ॰ ॥

३ स० १ त० म० वर्ष्यपि चतु॰ ॥

मर्विंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—एकोना शीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदया ऽष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येकं द्रष्टव्ये । एकविं शत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिं शदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरेऽतीर्थकरे च प्राप्यते, तत्र तीर्थकरमधिकृत्याद्ये द्वे सत्तास्थाने, अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे । एवं त्रिंशदुदयेऽपि चत्वारि । एकत्रिंशदुदये द्वे—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । नवोदये त्रीणि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकर स्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि, तद्यथा— एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अतीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत्, चरमसमये त्वष्टाविति । सर्वसमुदायेन सञ्ज्ञिना चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते २३४ सत्ता स्थानानाम् ॥ ३७ । ३८ ॥

तदेवं जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह—

नाणतराय तिविहमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणमन्तरायं च 'त्रि विधमपि' बन्ध उदय-सत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञाना वरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थः । 'द्वयोः पुनर्गुण- स्थानकयोः' उपशान्तमोह-क्षीणमोहरूपयोः 'द्वे' उदय-सत्ते स्तः, न बन्धः, बन्धस्य सूक्ष्मसम्पराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च ज्ञानावरणीया ऽन्तराययोः प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा च सत्ता भवतीति, परत उदय-सत्तयोरप्यभावः ।

मिच्छासाणे बिइए, नव चउ पण नव य संतंसा ॥ ३९ ॥

'द्वितीये' द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्धः, चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः, नवविधा सत्ता, द्वयोरप्यनयोर्गुणस्थानकयोः स्त्यानर्द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् । "नव य संतंस' त्ति नव च 'सत्तांशाः' सत्ताभेदाः सत्प्रकृतय इत्यर्थः । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, अथवा नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ॥ ३९ ॥

---

१ सं० २ °च । एव च ष° ॥ २ सं० १ त० म० °दयेऽपि चा° ॥

३ अत्र सं० २ पुस्तके- चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सत्तास्थानसङ्ख्या सप्तविंशत्य १३१० इति [illegible] वर्तते ॥ सं १ त० म० पुस्तकेषु स्थित उर्ध्वम्- तत्र चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सत्तास्थानसङ्ख्या [illegible] १३१० इति पाठः टीकान्तरेण इ रचे । सं० छा० मुद्रि० पुस्तकेषु च सर्वथा नास्ति ॥

४ सं० १ त० म० °ता इत्यर्थः । छा० मुद्रि० [illegible] ॥

मिस्साइ नियट्टीओ, छ चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण, नवंस दुसु जुयल छ स्संता ॥ ४० ॥

'मिथ्यादिषु' मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु 'निवृत्तौ' च अपूर्वकरणे च अपूर्वकरणाद्धाया प्रथमे सङ्ख्येयतमभागे चेत्यर्थ, परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्विधबन्धासम्भवात्, तत एतेषु षड्विधो बन्धश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय नवविधा सत्तेति द्वौ विकल्पौ। "चउबंध तिगे चउ पण नवंस" त्ति इहापूर्वकरणाद्धाया प्रथमे सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽत ऊर्ध्वमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्ध। तत 'त्रिके' अपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादर ऽसूक्ष्मसम्परायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय, "नवस" इति नवविधा सत्तेति प्रत्येक द्वौ द्वौ विकल्पौ, अंश इति सत्ताऽभिधीयते। एतच्चोक्तमुपशमश्रेणीमधिकृत्य, क्षपकश्रेण्या गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसम्पराये च नवविधाया सत्ताया अप्राप्यमाणत्वात् "दुसु जुयल छ स्संत" त्ति इह क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धाया सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागे सङ्ख्येयतमेऽवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति, ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षड्विधैव सत्ता भवति, तत आह—"दुसु" त्ति 'द्वयो' अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराययोर्युगलमिति बन्ध उदयावुच्येते। चतुरिति चानुवर्तते, ततश्चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदय "छ स्सत" त्ति षड्विधा सत्ता। अत्र पञ्चविध उदयो न प्राप्यते, क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात्। उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे—

> [1]इंदियपज्जत्तीए अणतरे समए सव्वो वि निद्दापयलमुदीरगो भवइ, नवर खीण-कसायखवगे मोत्तूण, तेसिं उदओ नत्थि त्ति काउ । ॥ ४० ॥

उवसंते चउ पण नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संत ।

'उपशान्ते' उपशान्तमोहे बन्धो न भवति, तस्य सूक्ष्मसम्पराये एव व्यवच्छिन्नत्वात्, तत केवलश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता। उपशमकोपशान्तमोहा ह्यत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति, ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदय सम्भवति। 'क्षीणे' क्षीणमोहे चतुर्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष विकल्पो द्विचरमसमय यावत्। चरमसमये तु निद्रा प्रचलयो सत्ताव्यवच्छेदाद् अय विकल्प —चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीयाऽऽयु-र्गोत्राणा बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि यथागम गुणस्थानेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत्।

---

१ इन्द्रियपर्याप्त्या अनन्तरे समये सर्वोऽपि निद्रा प्रचलयोरुदीरको भवति नवरं क्षीणकषाय-क्षपकान् मुक्त्वा तेषामुदयो नास्तीति कृत्वा ॥ २ त० म० °मङ्के उप° ॥

[illegible] भाष्यगाथा—

[illegible] गुणिसु वेयणियभंगा ।
[illegible] होन्ति [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो [illegible]—असातस्य बन्ध असातस्य [illegible] सातासाते सती, असातस्य बन्ध सातस्यो[illegible] सातासाते सती, सातस्य बन्ध सात[illegible] सातासाते [illegible] । [illegible] तेषु [illegible] गुणस्थानेषु द्वौ [illegible] तृतीयचतुर्थौ [illegible], [illegible] सातमेव बध्नन्ति [illegible] । तथा [illegible] —असातस्योदय सातासाते सती, अथवा [illegible] द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते, [illegible] असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सात क्षीणम्, यस्य त्वसात [illegible] विकल्प —[illegible] सातस्य सत्ता ।

[illegible] इत्यादि । [illegible] पञ्च भङ्गा मिथ्यादृष्टौ, ते चेमे—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय [illegible], एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवा[illegible] । नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा [illegible] उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती [illegible] भङ्गा । प्रथमो हि भङ्गस्तेज-वायुकायिकेषु [illegible] । न च तेज-वायुषु सासादनभावो लभ्यते, नापि [illegible] । तथा 'त्रिषु' मिश्रा ऽविरत-देशविरतेषु चतुर्थ-पञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ [illegible], [illegible], मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्रं न बध्नन्ति । अन्ये [illegible] पञ्चम एवको भङ्ग, "[illegible] उच्चागोयस्स उदओ होइ ॥ (   ) इति वचनात् ।

"[illegible] प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्ग । तत्र प्रमत्ता ऽप्रमत्ता ऽपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु केवल पञ्चमो भङ्ग, तेषामुच्चैर्गो[illegible] बन्ध उदयसम्भवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोह सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येक[illegible] विकल्प —उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती ॥

"[illegible] ति एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्र सती एष विकल्पो द्विचरमसमय यावत् । चरमसमये त्वेष विकल्प —उच्चैर्गोत्र[illegible] उच्चगोत्र सत् । नीचैर्गोत्र हि द्विचरमसमये एव क्षीणमिति चरमसमये न सत् प्राप्यते ॥

---

१ [illegible] उच्चगोत्रस्य उदयो भवति ॥ २ स० त० म० जाइ एइ [illegible] ॥

सम्प्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा[1]—

अट्ठच्छाहिगवीसा, सोलस वीसं च बार[2] छ दोसु।
दो चउसु तीसु एक्कं, मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥ ४ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु अयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमेणैतेऽष्टाविंशत्यादय आयुषि भङ्गाः। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेऽष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गाः। मिथ्यादृष्टयो हि चतुर्गतिका अपि भवन्ति। तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च, तिरश्चोऽधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य पञ्च, एते च प्रागेव सप्रपञ्चं भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते। सासादनस्य षडधिका विंशतिः, यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नरकायुर्न बध्नन्ति, ततः प्रत्येकं तिरश्चां मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यत इति षड्विंशतिः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश, सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि नायुर्बन्धमारभन्ते, तत आयुर्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ, ये च तिरश्चां चत्वारः, ये च मनुष्याणामपि चत्वारः, यौ च देवानां द्वौ, तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति। अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिर्भङ्गाः, कथम्? इति चेद् उच्यते—तिर्यङ्-मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरक-तिर्यङ्-मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः, यश्च देव-नैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः, ते अविरतसम्यग्दृष्टेर्न सम्भवन्ति, ततः शेषा विंशतिरेव भवति। देशविरते द्वादश भङ्गाः, यतो देशविरतिस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव भवति, ते च तिर्यङ्-मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति, न शेषमायुः, ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येकं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वमेकैको भङ्गः, परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैकः, आयुर्बन्धोत्तरकाले च चत्वारश्चत्वारः, यतः केचित् तिर्यञ्चो मनुष्याश्च चतुर्णामेकमन्यतमदायुर्बद्ध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते, ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया द्वादश। "छ दोसु" त्ति 'द्वयोः' प्रमत्ताप्रमत्तयोः प्रत्येकं षट् षड् भङ्गाः। प्रमत्ताप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति, ततः आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः, आयुर्बन्धकालेऽप्येकः, प्रमत्ताप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नन्ति न शेषमायुः, बन्धोत्तरकाले च प्रागुक्तदेशविरतियुक्त्यनुसारेण[3] चत्वार इति। "दो चउसु" त्ति 'चतुर्षु' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्, अथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-देवायुषी सती, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम्, एते ह्यायुर्न बध्नन्ति, अतिविशुद्धत्वात्। पूर्वबद्धे चायुषि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि। तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—

तिसु[4] आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरहइ ॥ (गा० ३७५)

ततः उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ। पूर्वबद्धायुष्कास्तु क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यन्ते,

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये त्रयोदशतमा ॥ २ मुद्रि० ऽस छ दोसु ॥ ३ स० १ त० म० °सामान्य° ॥ ४ स० १ म० त० °रतियुक्त्यनु° ॥ ५ त्रिष्वायुष्केषु बद्धेषु येन श्रेणिं न आरोहति ॥

तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येदमुक्तम् । क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैक एव भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति । "तीसु एक्क" ति 'त्रिषु' क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता । शेषा न सम्भवन्ति ।

तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिताः, सम्प्रति मोहनीयं प्राह—

मोहं परं वोच्छं ॥ ४१ ॥

अतः परं 'मोहं' मोहनीयं वक्ष्ये ॥ ४१ ॥

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु ।
पंचानियट्टिठाणे, बंधोवरमो परं तत्तो ॥ ४२ ॥

मोहनीयस्य बन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु अष्टसु गुणस्थानेषु भवति, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, देशविरतस्य त्रयोदश, प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव । एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते, विशेषाभावात् । केवलमप्रमत्तापूर्वकरणयोर्भङ्ग एक एव वक्तव्यः, अरतिशोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थान एव व्यवच्छेदात् । प्राक् च प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धे द्वौ भङ्गौ दर्शितौ । "पंचानियट्टिठाणे" अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति । 'तत' अनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसम्परायादौ 'बन्धोपरमः' बन्धाभावः ॥ ४२ ॥

सम्प्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह—

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसा ।
छाई नव उ अविरए, देसे पंचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, इक्को व दुवे व उदयंसा ॥ ४४ ॥
एगं सुहुमसरागो, वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वम्, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनानामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्यरति-शोकारतियुगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्र चतुर्भिः [illegible]

१ सं० १ त० म० [illegible] ॥ २ सं० १ त० म० छा० [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

योर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया दशाविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः ॥ ४३ ॥

तथा 'विरए खओवसमिए' प्रमत्तेऽप्रमत्ते चेत्यर्थः, विरतो हि थेणेरधस्ताद्वर्तमानः क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते । तत्र प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्रः पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोर्यदि वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः ।

'एगाऽपुव्वम्मि' अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्रः पञ्च षट् । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां पञ्चानामुदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्ययाऽपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः ।

अनिवृत्तिबादरे पुनरेकौ द्वौ वा 'उदयाणि' उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद इति द्विकोदयः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः, स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एक इति दश भङ्गाः प्रतिपादितास्तथाप्यत्र सामान्येन चतु-स्त्रि-द्वि-एकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते ॥ ४४ ॥

"एगं सुहुमसरागो वेएइ' त्ति सूक्ष्मसम्परायो बन्धाभावे एकं किट्टीकृतं संज्वलनलोभं वेदयते, ततोऽत्रैक एव भङ्गः । एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसङ्ख्यया पञ्च । तथा 'शेषा' उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः ।

"भंगाण च पमाणं' इत्यादि । अत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गानां

1 मुद्रि० छा० गानि भवन्ति, तद्य° ॥

[illegible] पूर्वोद्दिष्ट पूर्वोक्तेन [illegible] [illegible]कारोक्तेन प्रकारेण [illegible] ॥ ४० ॥

[illegible] [illegible] उदयस्थानेषु [illegible]

[illegible] छड्डकारेक्कारसेव [illegible] नव [illegible] ।
[illegible] [illegible], चार दुगे [illegible] ॥ ४१ ॥

[illegible] उदयस्थानान्यभिधाय [illegible] । [illegible] एका चतुर्विंशतिः । [illegible]—[illegible] मिथ्यादृष्टौ [illegible], [illegible] च [illegible] । [illegible]—[illegible] मिथ्यादृष्टौ [illegible] च [illegible] [illegible] च [illegible] द्वे द्वे देशविरते [illegible] । [illegible]—[illegible] च [illegible] देशविरते च [illegible] । [illegible] अप्रमत्ते च [illegible], देशविरते [illegible] । [illegible]—[illegible] देशविरते [illegible], प्रमत्तसंयते च [illegible] । [illegible] — [illegible] च [illegible] । [illegible] 'चतुर्विंशतिः' [illegible], [illegible] । [illegible] ॥

[illegible]—

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानक्रोध प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दानां—दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि, आपत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठात्पुरःगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपात, तेषां शतैः सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसङ्ख्यैः ८४७७ मोहिता संसारिणो जीवा विज्ञेया, एतावत्सङ्ख्याभिः कर्मप्रकृतिभियथायोग मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थ । अथ कथ सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ पदानां भवन्ति ? उच्यते—इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थ, एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदया षड् नवभि, अष्टोदया एकादश अष्टभि, सप्तोदया एकादश सप्तभि, षडुदया एकादश षड्भि, पञ्चोदया नव पञ्चभि, चतुरुदयास्त्रयश्चतुर्भि, गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते, जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि ३५२ । एतानि च चतुर्विंशतिगुणानि क्रियन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते । ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशति एकोदयपदानि च पञ्च प्रक्षिप्यन्ते तत्स्तेषु प्रक्षिप्तेषु यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदानां शतानि ८४७७ भवन्ति ॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्यकृद्गाथामाह—

अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा ।
मिच्छाइ अपुव्वंता बारस पणगं च अनियट्टे ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति । किमुक्तं भवति ?—मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासङ्ख्यमष्टादिसङ्ख्या भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ, सासादने चतस्र, मिश्रे चतस्र । "चउरट्ठग" त्ति अविरतादिषु अपूर्वकरणपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टावष्टौ । अपूर्वकरणे चतस्र, एवमेताश्चतुर्विंशतयो भवन्ति । 'अनियट्टे' अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गा एकोदये च पञ्च । [illegible] एकोदये चत्वार एक सूक्ष्मसम्पराय इति [illegible] ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च योगोपयोगलेश्यागुणनमुपदेष्टुमाह—

जोगोवओगलेसाइएहिँ गुणिया हवंति कायव्वा ।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥ ४७ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगलेश्यादयस्तैरुदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थ । [illegible] यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकारा, [illegible]स्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थ । [illegible]

१ [illegible] २ [illegible]

इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु सर्वसंख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि १२६५ । तत्र वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय औदारिककाययोगाः सर्वेऽपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु सम्भवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते, ततो जाता एकादश सहस्राणि त्रीणि च शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि ११३८५ । तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽपि चतुर्विंशतय प्राप्यन्ते, वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्र, एताश्च सा अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्या । यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता विसंयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते, न शेषस्य, अनन्तानुबन्धिनश्च विसंयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते अपन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात् । तथोक्तम्—

सुंणइ ज न मो काल । (   ) इति ।

ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, बन्धावलिकातीतांश्च प्रवेदयते । ततोऽपान्तरालगतौ वर्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथमत उत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । अत्र च कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगौ च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य, ततः कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते । 'वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत उत्पद्यमानस्य भवति' इति यदुक्तं तद् बाहुल्यमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा तिर्यङ्मनुष्याणामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यत एव, परं चूर्णिकृता तद् नात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्, एवमुत्तरत्रापि चूर्णिकारमतानुसरणं द्रष्टव्यम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतय, सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्र, अविरतस्य सम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, प्रमत्तस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, सर्वसंख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतय । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि २०१६ एतानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्तमानस्य वे [illegible] तद्यथा—सप्तोदये एकः । अष्टोदये द्वौ । नवोदय [illegible] अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु नपुंसकवेदिषु मध्ये सासादनस्य

---

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]

त्पादाभावात् । ये चाविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्था नविकल्पा एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् । एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदिष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवति । उक्तं च चूर्णौ—

कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि । (   ) इति ।

प्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च अप्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्या, आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणो भवति, "आहारं चोद्दसपुव्विणो उ" (   ) इति वचनात्, न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमः सम्भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् । तदुक्तम्—

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीईए ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥ (बृ० कल्प० गा० १४६)

भूतवादो नाम दृष्टिवादः । एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसङ्ख्यया चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लब्धौ, तत प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः, ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि ७०४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथाऽविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे येऽष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेद-नपुंसकवेदसहिताः, तिर्यग्-मनुष्येषु स्त्रीवेद-नपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्, एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्, तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः । एतेषु चैकेन वेदेन प्रत्येकमष्टावष्टावेव भङ्गा लभ्यन्ते, ततोऽष्टौ अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताश्चतुःषष्टिः ६४, सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतानि चतुर्दश सहस्राणि शतं एकोनसप्तत्यधिकम् १४१६९ । एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा योगगुणिता प्राप्यन्ते । तदुक्तम्—

चउदस य सहस्साइं, सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं १४१६९ । (   )

सम्प्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते । तत्रोदयपदप्ररूपणार्थमिदमन्तर्भाष्यगाथा—

अट्ठट्ठी बत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयाल चोयालं वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥

---

१ सं० १ त० प्र० ये वर्तमानस्य कम ॥ २ सं० १ त० प्र० एषु ॥ ३ सं० १ त० प्र० °स्त्रीवेदेष° ॥ ४ कदाचिद् भवेद् स्त्रीवेदेष्वपि ॥ ५ आहारकं चतुर्दशपूर्विणस्तु ॥ ६ तुच्छाः गौरवबहुलाश्चलेन्द्रिया दुर्बला धृत्या । इत्यतिशेषाध्ययनानि भूतवादश्च नो स्त्रीणाम् ॥ ७ मुद्रि० °षु चतुर्दशकम् ॥ ८ चतुर्दश च सहस्राणि शतं च एकोनसप्तत्युदयमानम् ॥ ९ गाथेयं चूर्णिवृत्तिकृद्भ्यामनाख्यातापि व्याख्याता अन्तर्भाष्यगाथा चेयं निर्दिष्टा ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यन्तेषु यथासङ्ख्यमष्टषष्ट्यादिसङ्ख्यानि उदयपदानि भवन्ति, तथाहि—मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, जाता दश, नवोदयास्त्रयो नवभि, जाता सप्तविंशति, अष्टोदयास्त्रयोऽष्टभि, जाता चतुर्विंशति, सप्तोदयश्चैक सप्तभि, जाता सप्त, सर्वसङ्ख्यया अष्टषष्टि ६८। एवं द्वात्रिंशदादीनामपि उदयपदानां भावना कर्तव्या। सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४४८। द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता चतुर्विंशति, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशत्। सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७। एतानि वाग्योगचतुष्टय मनोयोगचतुष्टय औदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ७६२९३। ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसङ्ख्यानि उदयपदानि, एतानि च प्राग्वद् भावनीयानि। वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदुदयपदानि। वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते, न शेषाणि, कारणं प्रागेवोक्तम्, तत षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदेव भवन्ति। तथाहि—एकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहित प्राप्यते। ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्गुण्यते, तत्राष्टौ पदानि सन्तीति कृत्वा, ततो जाता अष्टौ, नवोदयौ द्वौ नवभि, जाता अष्टादश, दशोदय एको दशभि, जाता दश, सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत्। एवमन्यत्रापि भावना भावयितव्या। सासादनस्य वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत्। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत्। अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टि ६०। देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं द्विपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत्। प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत्। सर्वसङ्ख्यया षट् शतानि ६००। एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारि शतानि १४४००। एतानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि, तेषु नपुंसकवेदो न लभ्यते, युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षष्टि षष्टि, अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते, कारणं प्रागेवोक्तम्। प्रमत्तसंयतस्य आहारके आहारकमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे चतुश्चत्वारिंशत्, अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते, युक्तिः प्रागेवोक्ता। सर्वसङ्ख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके २८४। एतानि वेदद्वयेन द्विकसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विरष्ट[illegible] षोडशभिर्गुण्यन्ते, जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि ४५४४, एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि। एतानि

१ सं० १ त० म० छा० ० पूर्वराशे [illegible] सं० १ त० म० छा० [illegible] ॥
२ छा० मु० [illegible] ॥

पुरुषवेदे एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्, तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि ४८०। एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातं पूर्वराशि पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि ९५७१७। एतावन्ति योगगुणितानि पदवृन्दानि। उक्तं च—

सतरसा सत्त सया, पणनउइसहस्स पयसंखा। ९५७१७ ( )

सम्प्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान चक्षु अचक्षुर्दर्शनरूपा पञ्च पञ्च उपयोगाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतानां मति-श्रुता ऽवधिज्ञान चक्षु अचक्षु अवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट्। प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसम्परायान्तानां त एव षट् मनःपर्यवज्ञानसहिता सप्त। मिथ्यादृष्ट्यादिषु च चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पाः "अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य" (अन्तर्भाष्यगा० ६) इत्यादिना ये प्राग् उक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने चत्वारः मिलिता द्वादश, ते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः ६०। मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पाः, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, देशविरतस्याप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया विंशतिः, सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशं शतम् १२०। तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पाः, अप्रमत्तस्याप्यष्टौ, अपूर्वकरणस्य चत्वारः, सर्वे मिलिता विंशतिः, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशं शतम् १४०। सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि विंशानि ३२०। ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगान् इच्छन्ति तेषां मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि ३१६। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट्सप्ततिशतानि ७६८०, मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७५८४। ततो द्विकोदयभङ्गा द्वादश, एकोदयभङ्गाः पञ्च, सर्वे मिलिताः सप्तदश, ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशं शतम् ११९। तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते तत पूर्वराशिर्जाता नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि ७७९९, मतान्तरेण सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि ७७०३। उक्तं च—

उदयाणुवओगेसु, सगसयरिसया तिउत्तरा होंति। ७७०३ ( )

एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गाः।

सम्प्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसं" (अन्तर्भाष्यगा० ७) इत्यादिना यानि प्राग् उक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते। तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि, सासादनस्य द्वात्रिंशत्, मिलितानि शतम् १००, तत् पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि ५००। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टेः षष्टिः, देशविरतस्य द्विपञ्चाशत्, सर्वमीलने चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, एतत् षड्भिर

---

१ सप्तदशानि सप्त शतानि पञ्चनवतिसहस्राणि पदसंख्या ॥ २ सं० सं० २ त० छा० ०त स्य । सि ॥ ३ सं० १ त० म० मत नी° ॥ ४ इत ऊर्ध्वम्—छा० प्रत्यन्तरम् १ १८ ॥ ५ इत्यादिवचनादनु सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि भवन्ति ॥

पयोगैर्गुण्यते जाता यष्टौ शतानि चतु पञ्चाशदधिकानि ८६४। प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अपूर्वकरणस्य विंशति, सर्वसङ्ख्यया अष्टाधिकं शतम् १०८, एतत् सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि ७५६। सर्वसङ्ख्यया विंशत्येकविंशतिशतानि २१२०। ये तु मिथ्यादृष्टावपि मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगान् इच्छन्ति तन्मतेन सर्वसङ्ख्यया विंशतिशतान्यष्टाशीत्यधिकानि २०८८। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चाशत् सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि ५०८८०, मतान्तरेण पञ्चाशत् सहस्राणि द्वादशोत्तरशताधिकानि ५०११२। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशति, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वमीलने एकोनत्रिंशत्, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते त्र्युत्तरे द्वे शते २०३। ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते ततो जात पूर्वराशिरेकपञ्चाशत् सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि ५१०८३, मतान्तरेण पुन पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ५०३१५। उक्तं च—

पन्नासं च सहस्सा, तिन्नि सया चेव पन्नारा। ५०३१५ ( )

एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि।

सम्प्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् षड् लेश्या, देशविरत-प्रमत्ता ऽप्रमत्तेषु तेज-पद्म-शुक्लरूपास्तिस्रस्तिस्र, कृष्णादिलेश्यासु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात्। अपूर्वकरणादौ एका शुक्लेश्या। मिथ्यादृष्ट्यादिषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्ट चतुरादिसङ्ख्यास्ते यथायोग लेश्याभिर्गुण्यन्ते। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पा, सासादनस्य चत्वार, सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वार, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, मीलिताश्चतुर्विंशति, सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते जात चतुश्चत्वारिंश शतम् १४४। तथा देशविरतस्याष्टौ, प्रमत्तस्याष्टौ, अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशति, सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्तति ७२। अपूर्वकरणे चतस्र, अत्रैकैव लेश्या, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वार एव। सर्वमिलिता द्वे शते विंशत्यधिके २२०। एते चतुर्विंशतिगते इति चतुर्विंशत्या गुण्येते, जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२८०। ततो द्विकोदया द्वादश, एकोदया पञ्च, मिलिता सप्तदश। ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२९७। एतावन्तो लेश्यागुणिता उदयभङ्गा।

सम्प्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टि, सासादने द्वात्रिंशत्, मिश्रेऽपि द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टि, सर्वसङ्ख्यया द्विनवत्यधिकं शतम् १९२, एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। तथा देशविरते द्विपञ्चाशत्, प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत्, सर्वे मीलिताश्चत्वारिंश शतम् १४०, तच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते

१ सं० १ त० म० °मते सर्व° ॥ २ पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रीणि शतानि चैव पञ्चदशानि ॥ ३ त० म० पन्नरसा ॥ ४ स० १ त० म० अत्र चैकै ॥ ५ स० १ स० २ त० म० ततो द्वि ॥

जातानि विंशानि चत्वारि शतानि ४२० । अपूर्वकरणे विंशति, सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति । सर्व सर्वसङ्ख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि १५९२ । एतानि च चतुर्विंशतिशतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जाताः षट्त्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके ३८२०८ । ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षट्त्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके ३८२३७ । एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि । उक्तं च—

तिगहीणा तेवन्ना, सया य उदयाण होंति लेसाण ५२९७ ।
अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा ३८२३७ ॥ (   ) ॥ ४७ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रपञ्चमुदयस्थानानि । साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—

तिण्णेगे एगेगं, तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए तिन्नि ।
एक्कार बायरम्मी, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥ ४८ ॥

'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता । तथा 'एकस्मिन्' सासादने एकं सत्तास्थानम्, तद्यथा—अष्टाविंशतिः । मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तथा 'चतुर्षु' अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । 'निवृत्तौ' अपूर्वकरणे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्याम्, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा । "एक्कार बायरम्मि" त्ति 'बादरे' अनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेः, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत् कषायाष्टकं न क्षीयते, कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश, नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः, संज्वलनमाने क्षीणे द्वे, ततः संज्वलनमायायां क्षीणायां एकेति । "सुहुमे चउ" त्ति सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्याम्, एका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् । 'उपशान्ते' उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च ॥

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिबन्धस्थाने चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम् । अष्टादिषु

१ स० स० २ कले ॥ २ त्रिकहीनानि त्रिपञ्चाशत् शतानि च उदयानां भवन्ति लेश्यानाम् । अष्टत्रिंशत् सहस्राणि पदानां शते द्वे च सप्तत्रिंशे ॥ ३ प्र० तु निगडुम्बे । एव एव पउ सत्तीसेनो भाति परं विशतिकं निवट्टिए तिन्नि इति पाठमनुसृत्य विवृतमस्ति सम्भिर्नूके एव एवरूप ॥

दुदयस्थानेषु त्रिषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया दश । सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्, तद्यथा—अष्टाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि । सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च अष्टोदये । नवोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । देशविरते त्रयोदश बन्धस्थानं चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः । एतान्येव पञ्च सप्तोदये अष्टोदये एकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । प्रमत्तसंयते बन्धस्थानं नव चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र चतुरुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च षडुदये । सप्तोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । एवमप्रमत्तेऽपि बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्यः । अपूर्वकरणे बन्धस्थानं नव त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च । तत्र पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश । चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारि । त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चत्वारि त्रीणि च । द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रीणि द्वे च । एकविधे बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एकं च । सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतिः । बन्धाभावे सूक्ष्मसम्पराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकं च । उपशान्तमोहे बन्ध-उदयौ न स्तः, सत्तास्थानानि पुनस्त्रीणि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । सर्वत्रापि च सत्तास्थाने भावना प्रागिव[1] स्वस्थानोपसंवेधचिन्तायां कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या ॥ ४८ ॥

---

१ सं० छा० मुद्रि० ॰वा प्रागव ॥

तदेव विनिा गुणस्थानेषु मोहनीयम् । सम्प्रति नाम विचिन्तयिषुराह—

छण्णव छक्क तिग सत्त दुग दुग तिग दुग तिगऽट्ठ चऊ ।
दुग छ चउ दुग पण चउ, चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥ ४९ ॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाण ।
एग चऊ एग चऊ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयसा ॥ ५० ॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्न षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतस्त्रयोविंशति , तस्या च बध्यमानायां बादर-सूक्ष्म प्रत्येक-साधारणैर्भङ्गाश्चत्वार । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यमपर्याप्तद्वि त्रि चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्य च बध्नत पञ्चविंशति । तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानाया भङ्गा विंशति , अपर्याप्तद्वि त्रि चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशति । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन षड्विंशति , तस्या च बध्यमानाया भङ्गा षोडश । देवगतिप्रायोग्य नरकगतिप्रायोग्य वा बध्नतोऽष्टाविंशति । तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गा , नरकगति प्रायोग्यायां त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया नव । पर्याप्तद्वि त्रि चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्य बध्नतामेकोनत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि त्रि चतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानाया प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा , तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याया षट्चत्वारिंशच्छतान्यष्टाधिकानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यायामप्येतावन्त एव भङ्गा ४६०८,[1] सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४० । या तु देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेन बध्यमायाति, तीर्थकरनाम्न सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात् । पर्याप्तद्वि-त्रि चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतस्त्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि त्रि चतुरिन्द्रियप्रायोग्याया त्रिंशति बध्यमानाया प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा , तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६३२ । या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत्, या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता, ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेन बन्धमायात , तीर्थकरनाम्न सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद्, आहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात् । उक्त च—

सम्मत्तगुणनिमित्त, तित्थयरं संजमेण आहारं । ( ) इति ।[2]

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्य भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

चउ पणवीसा सोलस, नव बाणउई सया य बाणउया ।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥ ८ ॥ सुगमा ॥

---

१ इत आरभ्य—द्रा० म०प्रा०-२५११ ॥ २ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेन आहारम् ॥
३ २१७ पृष्ठगता १ अङ्कयुक्ता टिप्पणी अवलोकनीया ॥

तथा मिथ्यादृष्टेर्नव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि, केवलमाहारकसंयताना वैक्रियसंयताना केवलिना च सम्बन्धीनि न वक्तव्यानि, तेषा मिथ्यादृष्टित्वाभावात् । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावुदयस्थानभङ्गा सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ । तथाहि—एकविंशत्युदये एकचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा पञ्च, विकलेन्द्रियाणा नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा नव, मनुष्याणा नव, देवानामष्टौ, नारकाणामेक । तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश, ते चैकेन्द्रियाणामेव, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ, नारकाणामेक । षड्विंशत्युदये षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियाणा त्रयोदश, विकलेन्द्रियाणा नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ नारकाणामेक । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि ११९९—तत्र विकलेन्द्रियाणा षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा षोडश, मनुष्याणा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेक । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि १७८१—तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा षोडश, मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेक । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि २९१४—तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ११६४—तत्र विकलेन्द्रियाणा द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ ।

मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवती अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । तत्र द्विनवति चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टि सन् तीर्थकरनाम बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यमानस्तदा तस्यैकोननवतिरन्तर्मुहूर्तं कालं यावद् लभ्यते, उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तादनन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम् । षडशीति [illegible] यथायोगं देवगतिद्वयस्य नरकगतिप्रायोग्यस्य वोद्वलिते सति, एवं

१ [illegible] । सं० मु० [illegible] ॥ २ सं० १ त० मु० [illegible] ॥ ३ सं० १ त० मु० [illegible] ॥ ४ सं० १ त० मु० [illegible] ॥ ५ सं० १ त० मु० [illegible] । [illegible] ॥

द्रियभवाद् उद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावाद्ध्वमप्यन्तर्मुहूर्तं काल यावद् लभ्यते, परतोऽवश्य वैक्रियशरीरादिबन्धसम्भवाद् न लभ्यते । अष्टसप्ततिस्तेजो-वायूनां मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते । तेजो-वायुभवाद् उद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्तं काल यावत्, परतोऽवश्य मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसम्भवात् ।

तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशति बध्नत प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि सम्भवन्ति । केवलमेकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु देवनैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गा प्राप्यन्ते ते न सम्भवन्ति । त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या, न च देवा अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन्ति, तेषां तत्रोत्पादाभावात्, नापि नैरयिका, तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासम्भवात्, ततोऽत्र देव-नैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशति चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि । नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजो-वायुकायिकानधिकृत्याष्टसप्तति प्राप्यते, षड्विंशत्युदये तेजो-वायुकायिकान् तेजो-वायुभवाद् उद्धृत्य विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् वाऽधिकृत्य प्राप्यते । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येक चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सर्वसङ्ख्यया सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एवं पञ्चविंशति षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम्, केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्तमान पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या पञ्चविंशति षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेयम् । नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिरा ऽस्थिर शुभा ऽशुभ-दुर्भगा ऽनादेय-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेया न शेषा, सूक्ष्म साधारणा ऽपर्याप्तकेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात् । सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या । सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य, एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव । अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि, तत्राप्येकोननवतिर्या नाम वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमधिकृत्य वदितव्या, शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्-मनुष्याणाम् । एकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि, एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता, न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु सम्भवति । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेको

१-२ स० १ त० प्र० हुलक ॥ ३ स० स० २ छा० स्व । ९९ ॥

नत्रिंशत विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्राक्तनानि उदयस्थानानि षट् च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते, तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थङ्करनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज-एकेन्द्रियानधिकृत्य, अष्टसप्ततिरेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य । चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये षडपि सत्तास्थानानि, तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि । षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि प्रागिव भावनीयानि, एकोननवतिस्तु न लभ्यते यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य, न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः सम्भवति । सप्तविंशत्युदयेऽष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि-तत्रैकोननवति प्रागुक्तस्वरूप नैरयिकमधिकृत्य, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, यतः सप्तविंशत्युदयस्तेजो-वायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातप उद्योतान्यतरसहितानां भवति, नारकादीनां वा, न च तेषामष्टसप्ततिः, तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि—तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति । एतानि विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकोननवतिस्तु न प्राप्यते, यतः सै वेदकसम्यग्दृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते, न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति । एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि, तानि च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् तां मिथ्यादृष्टिर्न बध्नाति, कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्य-देवगतियोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः सामान्येन प्रागुक्तानि नवैवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । एकोननवतिस्तु न सम्भवति, एकोननवतिसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवात् । तानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु प्रागिव भावयितव्यानि । सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्-त्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु च पञ्चसु उदयस्थानेषु [illegible] चत्वारि [illegible], अष्टसप्ततिस्तु [illegible] कारणं प्रागुक्तमनुसर्तव्यम् ।

१ छा० मु० [illegible] । २ [illegible]—छा० सं० [illegible] । ३ [illegible] । ४ सं० छा० मु० [illegible]

सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशत्यादीनि षड् बन्धस्थानानि । मनुजगति-देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् मिथ्यादृष्टेर्न बध्यते, मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारकद्विकसहिता, तत एते द्वे मिथ्यादृष्टेर्न सम्भवतीति[1] ।

सम्प्रति सासादनस्य बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते—[2] तत्र सासादनस्य त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्विधा—देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्यां सासादनस्य न बध्नाति, देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकाः तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषम् । अत्र च भङ्गाश्चतुःषष्टिशतानि ६४००, तथाहि—सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याम् अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्याम् एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थानं सेवार्तं च संहननं बध्नन्ति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्याम् आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, ततः सर्वसङ्ख्यया चतुःषष्टिशतानि ६४०० भवन्ति । तथा सासादना पञ्चेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम् । तां च बध्नतां प्रागिव भङ्गकाना द्वात्रिंशच्छतानि ३२०० । सर्वबन्धस्थानभङ्गसङ्ख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ९६०८ ।

उक्तरूपभङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमिदमन्तर्भाष्यगाथा—

> अट्ठ य सय चोवट्ठिं बत्तीस सया य सासणे भेया ।
> अट्ठावीसाईसु सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ १ ॥ सुगमा ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदय एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः । नरकेषु सासादनो नोत्पद्यत इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते । तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः, न शेषाः, सूक्ष्मेषु अपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स इह न सम्भवति, किन्तु शेषा एव । ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वौ इति षट्, तिर्य

---

१ म० १ म० २ त० म० बद्धिकत्वमत ॥ २ मुद्रि० ०ति । इति ॥ ३ मुद्रि० 'नि तत्र त्वाभाव्यात् त ॥ ४ अत्र २१७ पृष्ठगता १ सङ्ख्याङ्का टिप्पणी अवलोकनीया ॥ ५ मुद्रि० चोवट्ठिं । छा० चउसट्ठिं । म० चउसट्ठी ॥ ६ छा० मुद्रि० °हणे भवि ॥

क्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामप्यष्टौ, देवानामप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशद्। चतुर्विंशत्युदय एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य, अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यश कीर्ति अय श कीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवत, न शेषा, सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजो-वायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासम्भवात्। पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य प्राप्यते न शेषस्य तत्र चाष्टौ भङ्गा, ते च स्थिरा ऽस्थिर शुभा ऽशुभ-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरवसेया। षड्वि शत्युदयो विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्यावसेय, अत्राप्यपर्याप्तके सह य एकैको भङ्ग स न सम्भवति, अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्, शेषाः सम्भवन्ति। ते च विकलेन्द्रियाणा प्रत्येक द्वौ द्वाविति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा द्वे शते अष्टा शीत्यधिके २८८, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि द्व्यशीत्यधिकानि ५८२। सप्तविंशति अष्टाविंशत्युदयौ न सम्भवत, तौ हि उत्प त्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सति भवत, सासादनभावश्चोत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षत किञ्चिदूनषडावलि कामात्र कालं भवति, तत एतौ सासादनस्य न प्राप्येते। एकोनत्रिंशदुदयो देव-नैरयिकाणा स्व स्थानगताना पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानाना प्राप्यते। तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गा अष्टौ, नैरयिकस्यैक इति, सर्वसङ्ख्यया नव। त्रिंशदुदयस्तिर्यग्-मनुष्याणां पर्याप्ताना प्रथम सम्यक्त्वात् प्रच्यवमानाना देवाना वा उत्तरवैक्रिये वर्तमानाना सासादनानाम्। तत्र तिर्य मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येक द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, देवस्याष्टौ, सर्वस ङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि २३१२। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम्। अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२।

उक्तस्यैव च भङ्गसङ्ख्याया निरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

बत्तीस दोण्णि अट्ठ य, बासीयसया य पंच नव उदया।
बारहिया तेवीसा, बावन्नेक्कारस सया य ॥ १० ॥

सुगमा ॥

सर्वभङ्गसङ्ख्या सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि ४०९७।

सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र द्विनवतिराहारक चतुष्कं बद्ध्वा उपशमश्रेणीत प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते, न शेषस्य। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशति बध्नत सासादनस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा— त्रिंशदेकत्रिंशच्च। अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बध्यमाना भवति देवगतिविषया, स च का

१ सं० १ त [illegible] २ [illegible]
३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible]
६ [illegible]

पर्याप्त सासादनो देवगतिप्रायोग्य बध्नाति, तत शेषा उदया न सम्भवन्ति । तत्र मनुष्यम धिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव, यतो द्विनवतिरुपशमश्रेण्यां प्रतिपततो लभ्यते, न च तिरश्चामुपशमश्रेणिसम्भव । एकत्रिंशदुदये ऽप्यष्टाशीतिरेव, यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम् । न च तिरश्चां द्विनवति सम्भवति, प्रागुक्तयुक्ते । एकोनत्रिंशत तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां बध्नत सासादनस्य सप्ताप्युदयस्था नानि । तत्र एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देव-नैरयिकाणा सासादनानां स्वीय स्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेकमेव सत्तास्थानम्—अष्टाशीति । नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीत प्रतिपतत सासादनस्य द्विनवति । एव त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यम् । सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसङ्ख्यया सासादनस्याष्टौ सत्तास्थानानि ।

सम्प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"दुग तिग दुग" ति द्वे बन्ध स्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्-मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देव गतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति, ततस्तेषामष्टाविंशति , तत्र भङ्गा अष्टौ । एकोनत्रिंशद् मनुष्य गतिप्रायोग्य बध्नतां देव-नैरयिकाणाम्, अत्राप्यष्टौ भङ्गा । ते चोभयत्रापि स्थिरास्थिर शुभाऽशुभ-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरवसेया । शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतय शुभा एव सम्य ग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति, तत शेषभङ्गा न प्राप्यन्ते ।

त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशति देवा नधिकृत्याष्टौ भङ्गा , नैरयिकानधिकृत्यैक , सर्वसङ्ख्यया नव । त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सर्वपर्याप्तिपर्याप्तयोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, मनुष्यानधिकृत्यै एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि २३०४ । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६५ ।

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा— त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—एकोनत्रिंशत् । अत्रापि त एव द्वे सत्तास्थाने । तदेवमेकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसङ्ख्यया षट् ।

---

१ छा० मुद्रि० अत्र मनुष्यानपि ॥ २ सं० १ सं० [illegible] मु० मुद्रि० । अष्टाविंशत्यधिकानि सप्तशतानि १७२८ मनुष्यानधिकृत्य [illegible] ११ । सर्वसङ्ख्यया [illegible] २८८ । [illegible] भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । [illegible] एकाधिकानि [illegible] ॥ ३ सं० १ सं० [illegible]

सम्यक्त्वविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्ध उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"तिग ऽट्ठ चउ" त्ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यङ्-मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामष्टाविंशतिः, अत्राष्टौ भङ्गाः। अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यङ्-मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेन नरकगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिर्न लभ्यते। मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः।

अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयो नैरयिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य सम्भवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तकेषु मध्ये नोत्पद्यते, ततोऽपर्याप्तकोदयजा शेषभङ्गाः सर्वेऽपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्याष्टौ, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैकः। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देव-नैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ। तत्र नैरयिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ—

> पणवीस-सत्तवीसोदया देव-नेरइए विउव्वियतिरिय-मणुए य पडुच्च,
> नेरइगो खइग-वेयगसम्मद्दिट्ठी, देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि। ( ) इति।

भङ्गा अत्र सर्वेऽप्यात्मीया आत्मीया द्रष्टव्याः। षड्विंशत्युदयः तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टीनाम्। औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यङ्-मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यत इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तम्। वेदकसम्यग्दृष्टिता च तिरश्चो द्वाविंशतिसत्कर्मणो वेदितव्या। अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवानाम्। त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानाम्। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। भङ्गा आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराऽऽहारकसहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः। यस्त्वाहारकं बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिः। देव-मनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते। एकोननवतिर्देवनैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्, ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनाम समर्जयन्ति। तिर्यक्षु तीर्थकरनामसत्कर्मा नोत्पद्यत इति तिर्यङ् न गृहीतः। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्।

---

१ म० छा० वा म ॥ २ पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ् मनुष्यांश्च प्रतीत्य नैरयिकः क्षायिक-वैदकसम्यग्दृष्टिः देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ ३ म० मुद्रि० समर्जय ॥

सम्प्रति सत्ता उच्यते—अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिप्रकृतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि, तानि तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य। तत्रापि पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने, द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशद्, द्विधा—देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च। तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता, तां च मनुष्या एव बध्नन्ति। तेषां चोदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न सम्भवति। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नन्ति देवनैरयिकाः। तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्। देवानां पञ्च तावदेतान्येव, षष्ठं तु त्रिंशत्, सा चोद्योतवेदकानां देवानामवगन्तव्या। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति। तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येव। तेषु उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिरेव, तीर्थकराऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तदेवं सामान्येनैकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषूदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च। एकत्रिंशदुदये द्वे—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत्।

सम्प्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"दुग छ चउ" त्ति देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या, तत्राष्टौ भङ्गाः। सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत्, सा च मनुष्यस्यैव, तिरश्चां तीर्थकरसत्कर्म-बन्धाभावात्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः।

षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्राद्यानि चत्वारि वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम्। अत्र मनुष्याणामेकैक एव भङ्गः, तिरश्चामाद्ययोरेकैकोऽन्तिमयोस्तु द्वौ द्वौ, सर्वपदानां प्रशस्तत्वात्। त्रिंशत् स्वभावस्थानां तिर्यङ्-मनुष्याणाम्, तत्र एकैकस्य भङ्गकानां चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, तच्च षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुस्वर-दुःस्वराभ्यां प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते। दुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामोदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। वैक्रियतिरश्चां एको भङ्गः—एकत्रिंशत्। तिरश्चामत्रापि त एव भङ्गाः १४४। सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४४३।

१ सं० सा० १ सं० २ त० °बन्नाम° ॥ २ सं० १ सं० २ त० म० छा० ।देवत्वे द्वे ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० °षु प्रत्ये° ॥ ४ सत्कर्म च बन्धश्च सत्कर्म-बन्धौ तीर्थकरस्य सत्कर्मबन्धौ तीर्थकरसत्कर्मबन्धौ तयोरभावस्तीर्थकरसत्कर्मबन्धाभावस्तस्मादिति विग्रहः ॥ ५ छा० मुद्रि० °द्यान्यपि तिर्य° ॥ ६ सं० सं० २ °न्ते। वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भ° । छा० °न्ते। तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भ° ॥ ७ सं० छा० मुद्रि० °ङ्गाः १४४। चत्वारि शता ॥

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च । तत्र *योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारकं बद्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जात तस्य* त्रिनवति । शेषाणां भावनाऽविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्तव्या ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतेषु च प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं तिरश्चोऽपि, नवरं तस्यैकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्य, तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने । एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य, तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च, तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशति २२ ।

सम्प्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—“दुग पण चउ” त्ति प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एते च देशविरतस्येव भावनीये ।

पञ्चोदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वा वेदितव्यानि । त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि । तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पृथक् पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययो प्रत्येकमेकैको भङ्ग ४, अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशतोश्च द्वौ द्वौ ८, त्रिंशति चैकैक २ । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश १४ । त्रिंशदुदय स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते । तत्र चतुश्चत्वारिंशं शतं भङ्गानाम् १४४, तच्च देशविरतस्येव भावनीयम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टपञ्चाशदधिकं शतम् १५८ ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव, आहारकसप्तकस्याहारकशरीरमुत्पादयतीति तस्य द्विनवतिरेव । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि । तीर्थकरनामसत्कर्मा चाष्टाविंशतिं न बध्नातीति त्रिनवतिरेकोननवतिश्च न प्राप्यते । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव, एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकरा-ऽऽहारकसद्भावात् । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि । एवं प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्त इति । सर्वसङ्ख्यया विंशति २० ।

सम्प्रत्यप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—“चउ दुग चउ” त्ति अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र [illegible] प्रमत्तेव

१ सं० मुद्रि० [illegible] ॥ [illegible] ॥

न्त्येव भावनीये । वैक्रियाहारकयोरन्यतरत्रिकसहिता त्रिंशत् । आहारकद्विक-तीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् । एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्य, अस्थिरा ऽशुभा ऽयशः-कीर्तीनामप्रमत्तसंयते बन्धाभावात् ।

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ—एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—अष्टाशीतिः । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"पणगेग चउ" त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४ ।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते—इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥ ४९ ॥

---

१ सं० १ तं० म० तत्र ॥ २ सं० छा० पि सत्तास्थानानि प्राप्य ॥

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति अनिवृत्तिबादरस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावद् नामत्रयोदशकं न क्षीयते । त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं त्रिनवत्यादेः क्षीणेषूपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । बन्ध-उदय-स्थानभेदाभावादत्र संवेधो न सम्भवतीति नाभिधीयते ।

सूक्ष्मसम्परायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति सूक्ष्मसम्परायस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् ।

"छउमत्थकेवलिजिणाण" इत्यादि । छद्मस्थजिना—उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च, केवलिजिनाः—सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च, तेषां यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि—"एग चउ" इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

क्षीणकषायस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरिव, [illegible] [illegible] । तथापि तीर्थकरसत्कर्मण क्षीणमोहस्य सर्वं संस्थानादि [illegible] एक एव भङ्गः ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च । एते [illegible] अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मण ।

सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम उदयस्थानानि [illegible] विस्तरतो न भूयो विव्रियन्ते ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्तति ।

[illegible] संवेध उच्यते—[illegible] स्थानेषु [illegible] यथा [illegible] ।

[illegible] तु [illegible], तद्यथा—नव अष्टौ च । [illegible] ।

[illegible], तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्तति नव अष्टौ च ।

[illegible], तद्यथा—[illegible] ।

[illegible] ।

सति अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत् प्राप्येते, चरमसमयेऽष्टौ । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमय, चरमसमये नव ॥ ५० ॥

तदेवं गुणस्थानकेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । साम्प्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु तानि चिचिन्तयिषुः प्रथमतो गतिषु तावत् चिन्तयन्नाह—

दो छक्कऽट्ठ चउक्कं, पण नव एक्कार छक्कग उदया ।
नेरइआइसु सत्ता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

नैरयिक तिर्यग्-मनुष्य-देवानां यथाक्रमं द्वे षट् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या च वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता, मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता । भङ्गाश्च प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ।

तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि । केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकराऽऽहारकसहिता सा न वक्तव्या, तिरश्चां तीर्थकराऽऽहारकबन्धासम्भवात् ।

मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात् ।

देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च पर्याप्त बादर-प्रत्येकसहितैकेन्द्रियप्रायोग्ये बध्नतो वेदितव्ये । अत्र स्थिरा ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः । षड्विंशतिः आतप उद्योतान्यतरसहिता भवति, ततोऽत्र भङ्गाः षोडश । एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत् पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतभङ्गभेदोपेता ४६०८ प्रागिव वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरा ऽस्थिर शुभा ऽशुभ-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधीयन्ते—"पण नव एक्कार छक्का उदया" । नैरयिकाणां पञ्च 'उदया' उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

---

१ सं० म० १ स० २ त० छा० [illegible] ॥ २ छा० मुद्रि० [illegible] ॥ ३ स० १ त० म० [illegible] ॥ ४ मुद्रि० [illegible] ॥ ५ स० १ त० म० [illegible] ॥

तिरश्चां नव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एतानि एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय सर्वैक्रिया ऽवैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । एतानि च स्व भावस्थमनुष्य-वैक्रियमनुष्या-ऽऽहारकसंयत-तीर्थकरा-ऽतीर्थकरसयोगि-अयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य प्राग्वद् भावनीयानि ।

देवानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तानि, न भूय उच्यन्ते ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"संता ति पंच एक्कारस चउक्कं" । नैरयिकाणां सत्-स्थानानि त्रीणि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषूत्पद्यमानस्यावसेया । त्रिनवतिस्तु न सम्भवति, तीर्थकराऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । तीर्थकरसत्कर्माणि क्षपकसत्कर्माणि च सत्तास्थानानि न सम्भवन्ति, तीर्थकरनाम[illegible] निर्दिष्टभावात् ।

मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्तति नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसम्भवात् ।

देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति । शेषाणि तु न सम्भवन्ति, शेषाणि हि कानिचिद् एकेन्द्रियसत्कर्माणि कानिचित् क्षपक[illegible], तत्र कथं तानि देवाना सम्भवन्ति ? ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नैरयिकस्य [illegible] बन्धे पञ्च उदय-स्थानानि [illegible] । तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टा-[illegible] । [illegible] । मनुष्य[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]

१ [illegible] ।

द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशत बध्नत पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्—एकोननवति । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि चत्वारिंशत् ।

सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते—त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि नव उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्षु एकविंशति चतुर्विंशति-पञ्चविंशति षड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । इहाष्टसप्ततिस्तेजो वायून् तद्भवादुद्वृत्तान् वाऽधिकृत्य वेदितव्या । शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियमतो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । नवरमेकोनत्रिंशत मनुष्यगतिप्रायोग्या बध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्रूपा पञ्च उदया क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्या । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ, तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृष्टीनामवगन्तव्या । सम्यग्दृष्टीनां तु न सम्भवति, तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसम्भवात् । तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके २१८, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशत् चत्वारिंशत्, अष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश ।

सम्प्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्योदया सप्त, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, शेषा केवल्युदया इति न सम्भवन्ति । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ । एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीतिश्च । नवरं पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च, शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकर-क्षपकश्रेणि-केवलि शेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशति । एवं पञ्चविंशति षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम् । मनुजगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या चैकोनत्रिंशत त्रिंशत च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशति

---

१ स० २ छा० मुद्रि० नति विशत् ॥ २ इत ऊर्ध्वम्—छा० प्रत्यन्तर-२११ ॥ ३ स० १ त० म प्रतौ ॥ ४ मुद्रि० चा सद्भावेऽ ॥ ५ स० छा० मुद्रि० °नि । त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्च ॥ ६ छा० मुद्रि० वर्तमानानीति ऐश्वर्यादिप्रायोग्याणि केन इत्या न ॥

बन्धकाना सप्त उदया, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकविंशति-षड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टे करणापर्याप्तस्य। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियस्याहारकसंयतस्य वा। अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीना वैक्रियकारिणामाहारकसंयताना च। त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीना मिथ्यादृष्टीना वा। एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च। आहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव। त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च। तत्रैकोननवतिर्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया। सर्वसङ्ख्यया ऽष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि। देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत तीर्थकरसहिता बध्नत सप्त उदयस्थानानि, तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि। नवरं त्रिंशदुदय सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्य, यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनामसहित, तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति। सर्वेष्वपि चोदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च। आहारकसयतस्य त्रिनवतिरेव। सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश। आहारकसहिता त्रिंशत बध्नतो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र यो नामाऽऽहारकसंयतोऽतिमकालेऽप्रमत्तो भवति एकोनत्रिंशद् वेदितव्या, अन्यत्रैकोनत्रिंशति आहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्यासम्भवात्। द्वयोरप्युदयस्थानयो प्रत्येकमेकैक सत्तास्थानम्—द्विनवति। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्, एक सत्तास्थानम्—त्रिनवति। एकविधबन्धकस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्, अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च। सर्वबन्धस्थान उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि शतमेकोनषष्ट्यधिकम् १५९, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु प्रत्येक चतुर्विंशति चतुर्विंशति, अष्टाविंशतिबन्धे षोडश, मनुज तिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धे प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति, देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश, एकत्रिंशद्बन्धे एकम्, एकप्रकृतिबन्धेऽष्टाविति। बन्धाभावे उदयसत्तास्थानयो परस्परसंवेध सामान्यत संवेधचिन्तायामिव वेदितव्य।

सम्प्रति देवानां संवेध उच्यते—तत्र देवाना पञ्चविंशतिबन्धकानां पद्स्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च। एव षड्विंशति एकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वेदितव्यम्। उद्योतसहिता तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव। तीर्थकरसहिता पुनस्त्रिंशतमथाद् मनुष्यगतिप्रायोग्या बध्नता षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च। सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि षष्टि ॥५१॥

तदेव गतिमाश्रित्येदनम्। सम्प्रति इन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते—

१ छा० मुद्रि० 'मपरिवेदितव्य स्थानवन्यम्। त्रि ॥ २ छा० मुद्रि० बन्धेन त्रि° ॥
३ अप्रमत्तसयते इत्यर्थ ॥ ४ छा० सं० मुद्रि० ञ्नीवेद्या° ॥ ५ अवन्धे चित्वेदितव्यं ॥
६ सं० १ सं० सं० छा० दयमा° ॥

इग विगलिंदिय सगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि।
पण छक्केक्कारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥ ५२ ॥

एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय–पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ। एकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः [illegible] त्रिंशत्। तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च वर्जयित्वा [illegible] योग्याणि सप्तभेदानि वक्तव्यानि। विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपि [illegible] पञ्च पञ्च [illegible] नानि। पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि [illegible] द्रष्टव्यानि।

सम्प्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते—"पण छक्केक्कारुदय [illegible] याणां यथाक्रमं पञ्च षड् एकादश [illegible]उदयस्थानानि। [illegible] पञ्च [illegible] तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः [illegible] मागिव वेदितव्यानि। विकलेन्द्रियाणां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—[illegible] अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, [illegible]। पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—[illegible] सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्ट च। [illegible] यसत्कान्युदयस्थानानि वर्जयित्वा [illegible]याणि [illegible] पञ्चेन्द्रियाणां [illegible]।

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"पण पण बारस य संताणि [illegible] न्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि। [illegible] द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः [illegible] अष्टसप्ततिश्च। पञ्चेन्द्रियाणां [illegible]।

तदेवं सामान्यतो बन्ध उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। [illegible] त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च [illegible] त्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि [illegible] मपि वक्तव्यम्, सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि [illegible] बन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च [illegible] अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि [illegible] शत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्, सर्वसङ्ख्यया [illegible] णां त्रयोविंशतिबन्धकानां षड् उदयस्थानानि [illegible] इति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् [illegible] नि। [illegible] त्रयोविंशत्युदये [illegible] पञ्च पञ्च [illegible] स्थानानि। पञ्चविंशतिबन्धकानां [illegible] इति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद्। [illegible]

१ मुद्रित [illegible]

स्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येक मष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि । एव षड्विंशतिबन्धकानामपि । अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च । त्रिंशदुदये चत्वारि—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्य बध्नतो मनुष्यस्यावसेया, शेषाणि पुन सामान्येनतिरश्चो मनुष्यान् चाऽधिकृत्य वेदितव्यानि । एकत्रिंशदुदये त्रीणि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम-वसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् । षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्य-क्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्य देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीतिस म्भवात् । अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशति १९ । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवा ष्टावुदयस्थानानि । तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति त्रिनवति एकोननवति । तत्र तिर्यग्ग तिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्या बध्नत आद्यानि चत्वारि, देवगतिप्रायोग्या बध्नतोऽन्तिमे द्वे । अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु एतान्येवाष्टसप्तति वर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि । पञ्चविंशति सप्तविंशत्यु दययो पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति त्रिनवति एकोननवतिश्च । सर्वाङ्कस्थापना— $\frac{२१}{७}$ $\frac{२५}{४}$ $\frac{[illegible]}{७}$ $\frac{[illegible]}{४}$ $\frac{२८}{६}$ $\frac{[illegible]}{६}$ $\frac{३०}{६}$ $\frac{३१}{४}$, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंश द्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव च प्रत्येक सत्तास्थानानि । केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति अष्टाशीति-षडशीति अशीति अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशत बध्नतो वेदित व्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम्, तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात् । देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदा हारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति । त्रिनवति एकोननवती मनुष्यगतिप्रा योग्या त्रिंशत बध्नतो देवस्य वेदितव्ये । षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिन वति एकोननवती । षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां चाऽपर्याप्तावस्थायाम्, न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति-एकोननवती न प्राप्येते, शेष तथैव । सत्ताङ्कस्थापना— [illegible], सर्वसङ्ख्यया त्रिं शद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोदयसत्तास्थान संवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्त ॥ ५२ ॥

१ सं० १ त० म० °यत्वेन° । छा० ° येन तिर ॥ २ सं० १ त० म० °दयेष्वि त्री ॥ ३ छा० मुद्रि० °तु तान्ये° ॥ ४ सं० सं० २ मुद्रि० यात्रिंश ॥ ५ सं० १ त० म० °स्य । सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशद् द्वे शते २३० । तदे° ॥

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं।
गइआइएहिँ अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥ ५३ ॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः'

गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

(पञ्चसं० गा० २१ जीवसमा० गा० ६)

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैः 'अष्टसु' अनुयोगद्वारेषु

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पाबहु चेव ॥ (आव० नि० गा० १३)

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि। तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तः, विशेषतस्तु गतीरिन्द्रियाणि चाश्रित्य, एतदनुसारेण काय-योगादिष्वपि मार्गणास्थानेषु वक्तव्यः।

शेषाणि तु द्रव्यप्रमाणादीनि सप्तानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि, ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न सम्प्रति वर्तन्त इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते। यस्त्वैदंयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगत्यन्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनावश्यं दर्शयितव्यानि, प्रज्ञामेषो हि सतामद्यापि तीव्र-तीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजयमानो लक्ष्यते। अपि चान्यदपि यत् किञ्चिदिह क्षूणमापतितं सत् तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यम्। सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति।

कथं पुनरष्टस्वप्यनुयोगद्वारेषु बन्ध उदय-सत्तास्थानानि ज्ञातव्यानि? इत्यत आह—'चतुष्प्रकारेण' प्रकृति-स्थिति अनुभाग प्रदेशरूपेण। तत्र प्रकृतिगतानि बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि प्राय उक्तानि, एतदनुसारेण स्थिति-अनुभाग प्रदेशगतान्यपि भावनीयानि। इह बन्ध उदय सत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, उदये सत्यवश्यं उदीरणाया अपि भावात् ॥ ५३ ॥

तथा चाह—

उदयस्सुदीरणाए, सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो।
मोत्तूण य इगुयालं, सेसाणं सव्वपगईणं ॥ ५४ ॥

---

१ गई इंदिये य काये जोगे वेदे कसाये नाणे य। संयम दंसणे लेस्सा भवे सम्मत्ते सन्नि आहारे ॥
२ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रस्पर्शना च। कालश्च अन्तरं भाग भाव अल्पबहुत्वं चैव ॥
३ छा० मुद्रि० कथने ॥ ४ सं० १ त० म० छा० द्रुता ॥ ५ छा० सं० १ सं० २ व ईसा° ॥ ६ सं० १ त० म० छा० पर्यंप ॥

इह कालप्राप्तानां कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदयः, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहिःस्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयमाप्तानां कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदीरणा, अनयोरुदय उदीरणयोः 'स्वामित्वात्' स्वामित्वमधिकृत्य विशेषो न विद्यते। एतदुक्तं भवति—य एव ज्ञानावरणादीनां कर्मणामुदयस्वामी स एव तेषां कर्मणामुदीरणायामपि स्वामी, "जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ।" (इतिवचनप्रामाण्यात्। तत्रातिप्रसक्तं लक्षणमित्यपवादमाह—"मोत्तूण य" इत्यादि। 'मुक्त्वा एकचत्वारिंशत' एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामुदय-उदीरणयोः स्वामित्वं प्रति न विशेषः ॥ ५४ ॥

एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्निर्दिशति—

नाणंतरायदसगं, दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउँगाणि नवनाम उच्च च ॥ ५५ ॥

एतासामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदीरणामन्तरेणाप्युदयो भवति। तथाहि—पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां ५ पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां १० चतसृणां च चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनावरणरूपाणां दर्शनावरणप्रकृतीनामुदय उदीरणा च सर्वेषांनाना युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् क्षीणमोहगुणस्थानकाद्धाया आवलिकाशेषो न भवति १४, आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदय एव नोदीरणा, आवलिकागतस्योदीरणानर्हत्वात्। निद्रापञ्चकस्य शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरसमयाद् आरभ्य यावद् इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिर्नोपजायते तावद् उदय एव नोदीरणा, शेषकालं तूदय उदीरणे युगपत् प्रवर्तेते युगपच्च निवर्तेते १५। द्वयोर्वेदनीययोः पुनः प्रमत्तगुणस्थानकं यावद् उदय उदीरणा च युगपत् प्रवर्तते, परतस्तूदय एव नोदीरणा २१। तथा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां मिथ्यात्वस्योदय एव नोदीरणा २२। तथा वेदकसम्यग्दृष्टिना क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयता मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपितयोः सम्यक्त्वं सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं कृतम्, ततः उदय-उदीरणाभ्यामनुभूयमानमनुभूयमानमावलिकाशेषं यदा भवति तदा सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा, अथवा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य अन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिका-शेषायां सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा २३। संज्वलनलोभस्य उदय उदीरणा च युगपत् तावत् प्रवर्तेते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया आवलिका शेषा, तत आवलिकामात्रं कालमुदय एव नोदीरणा २४। तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमेन तेन तेन वेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्यान्तरकरणे कृते तस्य तस्य वेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा २७। चतुर्णामप्यायुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव नोदीरणा, अन्यच्च मनुष्यायुषः प्रमत्तगुणस्थानका

---

१ यत्र उदयस्तत्र उदीरणा यत्र उदीरणा तत्र उदयः ॥ २ स० १ सं० मु० छा० सुगमं ॥ ३ स० १ सं० मु० दयाग ॥ ४ स० सं० २ तत्प्रकृती ॥ ५ सं० छा० १ सं० समाकृ ॥ ६ सं० १ छा० २ सं० मु० °दंसणन ॥

दुस्वरयोरपि, न भवति किन्तूदय एव केवलः ३१ । तथा मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस बादर पर्याप्त-सुभगा ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थंकररूपाणां नवानामप्रकृतीनां ४० उच्चैर्गोत्रस्य च ४१ सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावद् युगपद् उदय उदीरणा, अयोग्यवस्थायां तूदय एव नोदीरणा ॥ ५५ ॥

साम्प्रतं 'कस्मिन् गुणस्थानके का: प्रकृतीर्बध्नाति' इति बन्धविशेषनिरूपणार्थमाह—

तित्थयराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥ ५६ ॥

इह बन्धे प्रकृतीनां विंशं शतमधिक्रियते, एतच्च प्रागेव प्रकृतिवर्णनायामुक्तम् । तत्र 'मिच्छत्तवेयग' मिथ्यादृष्टि 'तीर्थंकराऽऽहारकरहिता' तीर्थंकराऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गवर्जा शेषा सर्वा अपि प्रकृती सप्तदशोत्तरशतसङ्ख्या 'अर्जयति' बध्नाति, तीर्थंकराऽऽहारकद्विकं तु न सम्यग् बन्धमायाति, तयोर्यथाक्रमं सम्यक्त्व-संयमप्रत्ययत्वात् । तथा 'सासादनोऽपि' सासादनसम्यग्दृष्टिरपि 'एकोनविंशतिशेषा' एकोनविंशतिवर्जा शेषा एकोत्तरशतसङ्ख्या प्रकृतीर्बध्नाति । तत्र तिस्रः प्रकृतयः प्राक्तन्य एव, तासां बन्धाभावे कारणमिहापि तदेवानुसरणीयम्, शेषास्तु षोडश प्रकृतय इमाः—मिथ्यात्वं नपुंसकवेदः नरकगतिः नरकानुपूर्वी नरकायुः एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् आतपनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तकनामेति । एता हि मिथ्यात्वोदयनिमित्ताः, न च मिथ्यात्वोदयः सासादने विद्यते इत्येता अपि सासादनस्य न बन्धमायान्ति ॥ ५६ ॥

छायालसेस मीसो, अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण देसविरओ, विरओ सगवण्णसेसाओ ॥ ५७ ॥

मिश्र' सम्यग्मिथ्यादृष्टि 'षट्चत्वारिंशच्छेषाः' षट्चत्वारिंशद्वर्जाः चतुःसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतीर्बध्नाति । तत्रैकोनविंशतिप्रकृतयो बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव, शेषास्त्विमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं स्त्रीवेदः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तिर्यगायुः प्रथमाऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संस्थानानि प्रथमाऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संहननानि उद्योतम् अप्रशस्तविहायोगतिः दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयं नीचैर्गोत्रमिति । एताः पञ्चविंशतिप्रकृतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्ताः, न च सम्यग्मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनामुदयोऽस्ति, ततो न बन्धमायान्ति । अन्यच्च सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि नारभते, ततो मनुष्य-देवायुषी अपि न बन्धमायात इति षट्चत्वारिंशदप्येताः प्रतिषिध्यन्ते । तथा अविरतसम्यग्दृष्टिस्त्रिचत्वारिंशद्वर्जाः शेषाः सप्तसप्ततिप्रकृतीर्बध्नाति । अवि

१ इत ऊर्ध्वम्—मणुयगइजाइतसबादरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं । जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ इत्येवं रूपा प्रक्षेपगाथाऽत्रोपलब्धमुद्रितादर्शे एव विद्यते न चास्याः पूर्वेषु समग्रादर्शेष्विति ज्ञायतेऽस्माभिरत्र ॥ २ सं० १ त० म० छा० नवनो नमत्र ॥

रतसम्यग्दृष्टिर्हि मनुष्य देवायुषी अपि बध्नाति तीर्थकरनाम च, तत शेषा एव त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो वर्ज्यन्ते। तथा देशविरत 'त्रिषष्ठ्याशच्छेषा' त्रिपञ्चाशद्वर्जा शेषा सप्तषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति। तत्र त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो बन्धायोग्या प्राक्तन्य एव, शेषा पुनरिमा —अप्रत्याख्यानचतुष्टय मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायु औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग वज्रर्षभनाराचसंहननम्, एता हि दश प्रकृतयोऽविरतिहेतुक इति न देशविरते बन्धमागच्छन्ति। तथा 'विरत' प्रमत्तसंयत 'सप्तपञ्चाशच्छेषा' सप्तपञ्चाशद्वर्जा शेषास्त्रिषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिपञ्चाशद् बन्धायोग्या प्राक्तन्य एव शेषास्तु चतस्र प्रकृतय प्रत्याख्यानावरणक्रोध मान-माया-लोभरूपा । एता हि देशविरत एव, बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिन्ना ॥ ५७ ॥

सम्प्रति प्रतिपेद्धव्या प्रकृतयो बह्वयो बन्धयोग्यास्तु स्तोका इति बन्धयोग्या एव निर्दिशति—

इगुसट्ठिमप्पमत्तो, बधइ देवाउयस्स इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो, छप्पण्ण वा वि छव्वीस ॥ ५८ ॥

'अप्रमत्त' अप्रमत्तसंयत एकोनषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च प्रमत्तसंयतस्य बन्धयोग्यास्त्रिषष्टिप्रकृतयोऽसातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयश कीर्तिवर्जा आहारकद्विकसहिता वेदितव्या । असातवेदनीयादयो हि षट् प्रकृतय प्रमत्तसयतगुणस्थानक एव बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिन्ना, आहारकद्विक चाप्रमत्तो विशिष्टसंयमभावाद् बध्नाति, तत एकोनषष्टिप्रकृतयोऽप्रमत्तस्य बन्धयोग्या । "देवाउयस्स इयरो वि" त्ति 'इतरोऽपि' अप्रमत्तोऽपि देवायुषो बन्धक । एतेनैतत् सूच्यते—प्रमत्तसंयत एवायुर्बन्ध प्रथमत आरभते, आरभ्य च कश्चिदप्रमत्तभावमपि गच्छति, तत एवमप्रमत्तसंयतोऽपि देवायुषो बन्धको भवति, न पुनरप्रमत्तसंयत एव सन् प्रथमत आयुर्बन्धमारभत इति। तथा 'अपूर्व' अपूर्वकरणोऽष्टपञ्चाशत् प्रकृतीर्बध्नाति, तस्य देवायुर्बन्धाभावात्। ताश्चाष्टपञ्चाशत् प्रकृतीस्तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धाया सङ्ख्येयतमो भागो गतो भवति। ततो निद्रा प्रचलयोरपि बन्धव्यवच्छेदात् षट्पञ्चाशत्प्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावदपूर्वकरणाद्धाया एक सङ्ख्येयतमो भागोऽवशिष्यते। ततो देवगति-देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्रसंस्थान-वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा ऽगुरुलघु-उपघात पराघात-उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति-त्रस-बादर पर्याप्त प्रत्येक-स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय निर्माण-तीर्थकररूपाणा त्रिंशत्प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदात् शेषा षड्विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमय, तस्मिंश्च समये हास्य-रति भय-जुगुप्सा बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिद्यन्ते ॥ ५८ ॥ तत —

बावीसा एगूण, बधइ अट्ठारसतमनियट्टी ।
सत्तर सुहुमसरागो, सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

'अनिवृत्ति' अनिवृत्तिबादरो द्वाविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरस

१ मुद्रि० बन्ध म° ॥ २ सं० १ त० म० °द एवायुर्बन्ध प्रथमत आर° ॥

म्परायाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, तत 'एक्कोणम्' एकोनमेकत्वेन बध्नाति तावद् यावदद्धाद्धाद्धातम् । एतदुक्तं भवति—तस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागे शेषे पुरुषवेद बन्धव्यवच्छेदात् शेषा एकविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एक तिष्ठते तत संज्वलनक्रोधस्यापि बन्धव्यवच्छेदाद् विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, तत संज्वलनमानस्यापि बन्धव्यवच्छेदादेकोनविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एको ऽवतिष्ठते, तत संज्वलनमायाया अपि बन्धव्यवच्छेदादष्टादशप्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् या वदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाश्चरमसमय , तस्मिंश्च समये संज्वलनलोभोऽपि बन्ध प्रतीत्य व्यव च्छिद्यते । तत सूक्ष्मसम्पराये शेषा सप्तदश प्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमय , तस्मिंश्च समये ज्ञानावरणपञ्चक-अन्तरायपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्ररूपा षोडश प्रकृतयो बन्धमधिकृत्य व्यवच्छिद्यन्ते । तत "सायममोहो सजोगि" त्ति 'अमोह ' मोहनीयोदयरहित सातमेकं बध्नाति, स च तावद् यावत् 'सयोगी' सयोगिकेवली चरमसमय इत्यर्थ । इदमुक्तं भवति—उपशान्तमोह क्षीणमोह सयोगिकेवली च सातमेकं बध्नाति । अयोगिकेवली त्वेकस्यापि बन्धहेतोरभावाद् न किमपि बध्नातीति ॥ ५९ ॥

एसो उ बंधसामित्तओघो गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा, जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

योऽयमनन्तरं प्राग् मिथ्यादृष्ट्यादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु बन्धभेद उक्त एष बन्धस्वामित्वौघ उच्यते । अस्माद् 'ओघात्' ओघभणितप्रकाराद् 'गत्यादिष्वपि' चतुर्दशसु मार्गणा स्थानेषु 'यत्र' मार्गणास्थाने 'यथा' येन प्रकारेण भवप्रत्ययादिना प्रकृतिसद्भावो घटते तत्र तथा 'साधयेत्' कथयेत्, यथैता प्रकृतयोऽस्मिन् मार्गणास्थाने बन्धं प्रतीत्य घटन्त इति ॥ ६० ॥

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतय सर्वासु गतिषु सत्यन्ते ? किं वा न ? इति संशये सति तदपनोदार्थमाह—

तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ, हवंति सव्वासु वि गईसु ॥ ६१ ॥

तीर्थकरनाम देवायुर्नरकायुश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम् । तद्यथा—तीर्थ करनाम नरक-देव-मनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत् प्राप्यते न तिर्यग्गतौ, तिर्यक्षु सत्कर्मणस्तीर्थकरनाम्न सम्भवाभावात् तत्र गतस्य च तीर्थकरनामसत्कर्मण इत्याद्युक्तत्वात् । तथा तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु च देवायु, न नारकगतौ, नारकाणां देवायुर्बन्धाभावात् ।

१ सं० १ सं० प्र० भवस ॥ २ सं० १ सं० प्र० ... ॥
३ सं० छा० ... ॥

तिर्यग्मनुष्यनरकगतिषु च नरकायुः, न देवगतौ, देवानां नरकायुर्बन्धासम्भवात्। शेषाः प्रकृतयः सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ॥ ६१ ॥

इह गुणस्थानकेषु प्राग् बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेध उक्तः, गुणस्थानकानि च प्रायः उपशमश्रेणिगतानि क्षपकश्रेणिगतानि च, ततोऽवश्यमिहोपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी वक्तव्ये, तत्र प्रथमत उपशमश्रेणिप्रतिपादनार्थमाह—

पढमकसायचउक्कं, दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ, जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥ ६२ ॥

'प्रथमकषायाः' अनन्तानुबन्धिनः 'दर्शनत्रिकं' मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूपम्, एताः 'सप्तका अपि' सप्तापि प्रकृतयः उपशान्ताः 'अविरतसम्यक्त्वात्' अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकादारभ्य यावद् 'निवृत्ति' अपूर्वकरणगुणस्थानं तावद् ज्ञातव्याः। अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽपूर्वकरणेषु यथायोगमेताः सप्तापि प्रकृतय उपशान्ता लभ्यन्ते। अपूर्वकरणवर्ती शेषा यथायोगमुपशमकाः, अपूर्वकरणे त्वेता नियमत उपशान्ताः सर्वे प्राप्यन्ते।

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते—अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत विरतानाम् अन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याऽन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तो ऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते। तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः। अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकम्। स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागहीनं करोति।

इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति। तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं च, चतुर्थी तूपशान्ताद्धा।

तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रतिसमयं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रमान् वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात्। प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया [illegible] असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमये अध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रक्षेत्रमापद्यन्ते।

[illegible]

स्थापना चेयम्— तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धाया संख्येयो भागो गतो भवति। ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यस्थानाद् निवृत्तस्तस्योपरितनी जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशोधिस्थानम्। तत उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावत् चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् ।

तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—अपूर्वकरणे प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा, ततः प्रथमसमये एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रति समयं तावद् वक्तव्यं यावद् चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । स्थापना—

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रथमसमय एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्गुणसंक्रमोऽन्यश्च स्थितिबन्ध इति पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते ।

तत्र स्थितिघातो नाम—स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागाद् उत्कर्षतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति, उत्कीर्य च यस्याः स्थितेरधो न खण्डयिष्यति तत्र तद् दलिकं प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते । ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन उत्किरति, पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति । एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषमनन्तभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य मुक्तस्यानन्ततमस्य भागस्य अनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागाननन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवं पुनरपि इत्यनेन क्रमेण

१ सं० १ सं० [illegible] २ सं० १ सं० [illegible] मुद्रि० [illegible] मुद्रि० [illegible]

[illegible] तुल्य [illegible]नन्तर्मुहूर्तेन कालेन [illegible]ति।
[illegible] स्मिन् स्थितिखण्डे [illegible]ति। तेषां च स्थितिखण्ड[illegible]
[illegible]ते।

[illegible]—[illegible]नां स्थिति[illegible]परि च, स्थितयो [illegible]
[illegible] प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया [illegible]
[illegible], द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीये समयेऽसङ्ख्येय[illegible]
[illegible]। तदन्तर्मुहूर्तापूर्वकरणा[illegible]
[illegible]। [illegible] एवं द्विती[illegible]
[illegible]। [illegible]—गुणश्रेणि[illegible] प्रथमसमये [illegible]
[illegible] स्तोकम्, [illegible] द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसं[illegible]
[illegible] गुणश्रेणिकरण[illegible]। [illegible]
[illegible] गुणश्रेणि[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते । तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तमुहूर्तम् । एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति । उपशमिता नाम—यथा रेणुनिकर सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निकुट्टितो निस्पन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणैर्निकुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा निधत्ति-निकाचनाकरणानामयोग्यो भवति ।

तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता । अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव । विसंयोजना क्षपणा, सा चैवम्—

इह येऽविरतसम्यग्दृष्टयो अपि अविरताश्चतुर्गतिका अपि वेदकसम्यग्दृष्टयो देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ता अनन्तानुबन्धिनां क्षपणार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति । करणवक्तव्यता च सर्वाऽपि प्रागिव निरवशेषा वेदितव्या । नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

> चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
> करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० २४२)

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषान् अनन्तानुबन्धिनो विनाशयति । आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति । ततोऽनन्तरमन्तमुहूर्तात् परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्मणां स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणयो न भवन्ति किन्तु स्वभावस्थ एव स जीवो जायते ।

तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना, सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च । सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयत । सा चैवम्—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्धेरप्यनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायां उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तदेव तावद् वक्तव्यं यावद्

१ स० छा० मुद्रि० हूर्तं कालम् एवा ॥ २ स० १ त० छा० म० °भिर्नि वृहि ॥ ३ स० १ त० छा० म० °नि वृहि ॥ ४ छा० मुद्रि० धननि° ॥ ५ स० १ त० म० अपि अविरतास्त्य ॥ ६ स० १ त म० स्तास्व निर्षे ॥ ७ चतुर्गतिका पर्याप्तास्त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति । करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणमुपशमो वा ॥ ८ स० १ त० म० हूर्तकाल ॥

यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या। ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

> चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तंजहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। (   ) इति।

ततोऽन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च—

> मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
> लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (कर्मप्र० गा० ३३०)

एवं च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमाद् भवति। उक्तं च—

> सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

> सम्मत्तेण समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७६०)

---

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] मनुनिक [illegible]म् ।
तत्तो देशविरद मनवा [illegible] नियम [illegible] लभदे ॥ २१

[illegible] वेदकमम्य दृष्टेरमागानपि [illegible]

सम्यग्दृष्टि संयम [illegible] गतः अन्तर्मुहूर्तमात्रा [illegible] — इह देश
[illegible]विधि पूर्ववत् नवद् [illegible] [illegible]
अन्तरकरण करोति, अन्तरकरण च कुर्वन् [illegible]
[illegible] मिथ्यात्व मिश्रप्रकृति [illegible]
[illegible] मिथ्यात्व-मिश्रयो [illegible]
[illegible] सह भवति, [illegible]
[illegible]सम्यग्दृष्टिर्भवति । [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] पुनरपि यथाप्रवृत्त[illegible] [illegible]
[illegible] यथाप्रवृत्त[illegible] [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible]ते, नयरमिह [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] ।

[illegible]

यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या। ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिराविदितम्। उदय उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। ततः उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

> चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तंजहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। (   ) इति।

ततोऽन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च—

> मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
> लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (कम्मप० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

> सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कम्मप० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

> सम्मत्तेण समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७९०)

---

१ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ततो देशविरतं प्रमत्ताप्रमत्तभावेऽपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते ।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदकसम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रितयविधिः पूर्ववत् तावद् वक्तव्यो यावदनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु अन्तरकरणं करोति, अन्तरकरणं च कुर्वन् सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमन्तर्मुहूर्तप्रमाणां स्थापयति, मिथ्यात्व-मिश्रयोश्चावलिकामात्राम्, उत्कीर्यमाणं च दलिकं त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति, मिथ्यात्व-मिश्रयोः प्रथमस्थितिदलिकं सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिदलिकमध्ये स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, सम्यक्त्वस्य पुनः प्रथमस्थितौ विपाकानुभवतः क्रमेण क्षीणायां सत्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । उपरितनदलिकस्य चोपशमना त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनामनन्तानुबन्धिनामुपरितनदलिकस्येवावसेया । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, करणानां च स्वरूपं प्राग्वदवगन्तव्यम्, केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्र चापूर्वकरणे स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते, नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते। अस्मिन्नन्तरे देवगति-देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदो हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानां षण्णामुदयव्यवच्छेदः, सर्वकर्मणां च देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणानि व्यवच्छिद्यन्ते । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति । अत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा । अन्येषामेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणां प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततोऽपि संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि

१ सं० १ त० म० °पर्याप्तयति ॥ २ सं० म० [illegible] उक्तो । सं० १ [illegible] उक्तो ॥ ३ सं० १ त० म० [illegible]मध्ये ॥ ४ छा० [illegible] ॥ ५ सं० १ त० म० °सङ्ख्येयतमा भा ॥ ६ छा० मुद्रि० [illegible] ॥

७ सं० १ त० छा० म० [illegible] ॥

यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्य, किन्तु स्थितिघात-रसघात स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्या, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽनुदयवत्यां दारभ्य वेदितव्या। ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशात् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। ततः उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

> चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तंजहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। (   ) इति।

ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च—

> मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
> लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (कर्मप्र० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

> सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेद् प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

> सम्मत्तेण समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७६०)

---

१ स० २ यति सा आगाल इति। उदीरणैव पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उभय। छा० मुद्रि० यति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय॥ २ स० १ त० छा० करोति न॥ ३ चरमसमयमिथ्यादृष्टिः एष्यत्काले उपशमसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागं करोति तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च॥ ४ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः। लम्भेन यस्य लभ्यते आत्महितमलब्धपूर्वं यत्॥ ५ स० १ त० म० मुद्रि० सम्म॥ ६ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात्॥ ७ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्येत॥

संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः।

उक्तं च—

थीअपुमोदयकाला, संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स।
तत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहकमसो॥ (पञ्चसं० ७०३)

तत्र संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः। संज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदयः। संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमायाया उदयः। संज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदयः। तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया सममधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्डं घातयति यावता(?) स्थितिबन्धं करोति तावता कालेन अन्तरकरणमपि करोति। त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव च निष्ठां नयति। तच्चान्तरं प्रथमस्थितेः सङ्ख्येयगुणम्। अन्तरकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्—येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य। येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य। येषां पुनरुदयो न विद्यते किन्तु केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं द्वितीयस्थितावेव क्षिपति न प्रथमस्थितौ, यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानाम्। येषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम्। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत् तु ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमुपशमयति। तं चैवम्—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणं तावद् उपशमयति यावत् चरमसमयः, परप्रकृतिषु प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया तावद् असङ्ख्येयगुणं प्रक्षिपति यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये पुनरुपशम्यमानं दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणदलिकापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। तदेवं नपुंसकवेद उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्तेऽष्टौ कर्माण्युपशान्तानि जातानि। तत उक्तप्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते नव। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन हास्यादिषट्कमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते पञ्चदश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिन्नेव च समये पुरुष

१ स्त्रीनपुंसकवेदकालाद् सङ्ख्येयगुणस्तु पुरुषवेदस्य। तस्मादपि विशेषाधिकः क्रोधस्यास्मादपि यथाक्रमशः॥ २ स० स० २ छा० मुद्रि० तत्त्व वि विसे॥ ३ स० १ त० म० °बन्धकाले॥ ४ त० °कः परप्रकृतिषु॥ ५ छा० मुद्रि० °कृतिसङ्ग्रहणीटी॥ ६ छा० मुद्रि० षु च प्रति॥ ७ स० २ छा० ॰ चरमस॥

संज्वलनमानस्य विशेषाधिक , ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिक , ततोऽपि संज्वलन लोभस्य विशेषाधिक ।

उक्तं च—

पीअंपुमोदयकाला, संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
तत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहक्कमसो ॥ (पञ्चसं० ७९३)

तत्र संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदय । संज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदय । संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावद् संज्वलनमायाया उदय । संज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदय । तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया [illegible] नोकनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्ड घातयति [illegible] करोति तावता कालेन अन्तरकरणमपि करोति । त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव [illegible] । तथा [illegible] प्रथमस्थिते सङ्ख्येयगुणम् । अन्तरकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्— [illegible] उदयश्च विद्यते तेषाम् अन्तरकरणसत्क दलिक प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ [illegible], यथा पुरुषवेदोदयारूढ पुरुषवेदस्य । येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न [illegible] प्रथमस्थितौ [illegible] द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढ स्त्री [illegible] अन्तरकरणसत्क दलिक द्वितीयस्थि[illegible] शेषसंज्वलनानाम् । येषां तु [illegible] दलिक परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम् । [illegible]

[illegible]

द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां च समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तरवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा ।

इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसाविभागैः, ततस्तेनैव क्रमेण ततः प्रभृति द्वितीयं स्पर्धकमभिधानीयम्, एवमत्र च तृतीयम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनन्तानि स्पर्धकानि भवन्ति । एतानि च पूर्वं कृतत्वात् पूर्वस्पर्धकान्यभिधीयन्ते । ततः एतेभ्य इदानीं प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य अपूर्वाणि स्पर्धकानि करोति । संसारे हि परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्यैवम्भूतानि स्पर्धकानि कृतानि, किन्तु सम्प्रत्येव विशुद्धिप्रकर्षवशात् करोति, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते ।

अश्वकर्णकरणाद्धायां च गतायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च पूर्वस्पर्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति । किट्टयो नाम पूर्वस्पर्धकाऽपूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यवस्थापनम्, यथा—यासामनन्तानन्तानामप्यसत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरं द्व्युत्तरं वाऽऽसीत् १०१–१०२ तासामेवानुभागभागानां पञ्चकं पञ्चदशकं पञ्चविंशतिरिति । किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये युगपद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ भवतः । तत्समयमेव च सञ्ज्वलनलोभबन्धव्यवच्छेदो बादरसञ्ज्वलनलोभोदय उदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च । तदेवमनिवृत्तिबादरः सप्तम्य आरभ्य पञ्चविंशतिं यावदुपशान्तानि कर्माणि लभ्यन्ते । तथा चाह—

> सत्तऽट्ठ नव य पनरस, सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा ।
>
> एगाहि दु चउवीसा, पणवीसा बायरे जाण ॥ पुग्गी ॥

अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभोपशान्तौ च सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तानि च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । आह च —

> सत्तावीसं सुहुमे, अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ ।
>
> उवसन्तवीयरागे, उवसन्ता होंति नायव्वा ॥

'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि लभ्यन्ते । सूक्ष्मसम्परायाद्धा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । सूक्ष्मसम्परायाद्धायां च प्रविष्टः सन् उपरितनस्थितेः सकाशात् कतिपया [illegible]

---

१ सं० १ त० म० [illegible] ॥ २ सं० सं० १ त० म० [illegible] ॥ ३ छा० गुणि० [illegible] ॥ ४ सं० १ त० म० [illegible] ॥ [illegible] अष्टादश [illegible] । एकविंशती चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः [illegible] ॥ ५ सं १ त० म० [illegible] अप्राप्य ॥ ६ सं० १ त० म० [illegible] भवन्ति ॥

समाकृष्य प्रथमस्थिति सूक्ष्मसम्परायाद्धातुल्या करोति वेदयेति च । शेष च सूक्ष्मकिट्टीक दलिक समयोनावलिकाद्विकबद्ध चोपशमयति । सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलो उपशान्तो भवति । तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्राणा बन्धव्यवच्छेद । ततोऽनन्तरसमये उपशान्तकषायो भवति । तस्मिंश्चोप शान्तकषाये वीतरागेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्या ।

उपशान्तकषायश्च जघन्येनैक समय भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं काल यावत्, तत ऊ नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रिय माणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धाया समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथै प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्य इति यावत् । प्रतिपतश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित् पुनस्त तोऽप्यधस्तन गुणस्थानकद्विक याति, कोऽपि सासादनभावमपि । य पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीत्येष विशेष ।

उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणि प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणि प्रति पद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभाव । य पुनरेक वार प्रतिपद्यते तस्य क्षपक श्रेणिर्भवेदपि । उक्त च चूर्णौ—

जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि,
जो एक्कसि उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा ( ) इति ।

[illegible] तस्मिन् भवे [illegible] श्रेणि प्रतिपद्यते । तदुक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्वि स्यादसन्तत ।
यस्मिन् भवे तूपशम, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ ( ) इति । ॥ ६२ ॥

तदेवमुक्ता [illegible] । सम्प्रति क्षपकश्रेणिमभिधित्सुराह—

पढमकसायचउक्कं, एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं ।
अविरय देस विरए, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥ ६३ ॥

[illegible]

[illegible]

हारविवक्षणात्, समाहारविवक्षा चामीषां प्रमाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञाप-नीया । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरमपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिक गुणसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासङ्क्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा—प्रथमस्थितिखण्ड बृहदमुद्वलयति, ततो द्वितीय विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीय विशेषहीनम्, एव तावद् वाच्य यावदपूर्वकरणचरमसमय । अपूर्वकरणप्रथमसमये च यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीन जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमना-निधत्ति निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म अनिवृत्तिकरणप्रथमसमया-दारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमान घात्यमान स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमान भवति, तत स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियस्थितिसत्कर्म-समानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाण भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैक सङ्ख्येयभाग मुक्त्वा शेष सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य सङ्ख्येयभागस्यैक सङ्ख्येयतम भाग मुक्त्वा शेष सर्व विनाशयति । एव स्थितिघाता सहस्रशो भवन्ति । तदनन्तर च मिथ्यात्वस्यासङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सङ्ख्येयान् । तत एव स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिक मावलिकामात्र जातम्, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयो प्रक्षिपति, सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वसत्कानि त्वधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्र स्तिबुकसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तर सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्वयोरसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते, ततस्तस्याप्यसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एक मुञ्चति, एव कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमप्यावलिकामात्र जातम् । तदानीं सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्म वर्षाष्टकप्रमाण भवति । तस्मिन्नेव च काले सकल-प्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्ड अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति, तद्दलिक तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्, ततो द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् वक्तव्य यावद् गुणश्रेणीशिर । तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीन विशेषहीनम्, यावच्चरमा स्थिति । एवमान्तर्मु

---

१ स० १ ल० म० छा० नार्थम् ॥ २ त० म० थम स्थि ॥ ३ स १ त० छा० म० तिकम ॥ ४ स० १ ल० दानि थ ॥ ५ स० स० २ छा० पमसङ्ख्ये ॥ ६ स० १ त० म० कत्वस्थिति ॥ ७ स० १ त० म० न्तर्मुहूर्तिका ॥

हूतिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति निक्षिपति च। तानि च तावद् यावद् द्विचरमं स्थितिख ण्डम्। द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाद् चरमखण्ड सङ्ख्येयगुणम्। चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्ण सति असौ क्षपक कृतकरण इत्युच्यते। अस्या च कृतकरणाद्धाया वर्तमान कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणा गतीनामन्यतमस्या गतावुत्पद्यते। लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीद्, सम्प्रति त्वन्यतमस्या गच्छति। तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति।

उक्त च—

पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥ ( )

इह यदि बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिना च क्षयादनन्तर मरणसम्भवतो व्युपरमते, तत कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्। क्षीणसप्तकस्त्वमति पतितपरिणामोऽवश्य त्रिदशेषूत्पद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरि णाममन्यतमस्या गतावुत्पद्यते। उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूयो न खीणम्मि॥

तम्मि मओ जाइ दिव, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगइओ॥ (विशेषा० गा० १३१६–१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं काल न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह—

बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ। (विशेषा० गा० १३२५)

अथोच्येत—क्षीणसप्तको गत्यन्तर सङ्क्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति? उच्यते— तृतीये चतुर्थे वा भवे। तथाहि—यदि देवगतिं नरकगतिं वा सङ्क्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति। अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तर्हि सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, तनस्तद्भवानन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवात् च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्ष यातीति चतुर्थभवे मोक्षगमनम्। उक्त च पञ्चसङ्ग्रहे—

१ सं० १ त० म० रमेस्थिति ॥ २ सं० १ त० म० पश्चे भूत्वा म ॥ ३ प्रस्थापकस्तु मनुष्या निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ४ बद्धायु प्रतिपन्न प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत। ततो मिथ्यात्वो दयत चिनुयाद् भूयो न क्षीणे॥ तस्मिन् मृतो याति दिव तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे। उपरतपरिणामः पुन पश्चाद् नानामतिगतिक ॥ ५ सं० १ त० म० नाणामइगइओ ॥ ६ बद्धायु प्रतिपन्नो निय मात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ७ छा० मुद्रि० भण्यते—॥

चन्द्रर्षिमहत्तरकृत सप्ततिकाप्रकरणम् ।

तइय चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झति दसणे खीणे ।
ज देवनिरयऽसंखाउचरिमदेहेसु ते होति ॥ (गा० ७७२)

एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा, एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षय प्राप्यते । तथा चाह चूर्णिकृत्—"अविरये" इत्यादि । अवि दत्ते' देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि 'क्षीयन्ते' क्षयमुपयान्ति

यदि पुनर्बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते तत सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम ए चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । यत आह भाष्यकृत्—

इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलं सेढिं समाणेई ॥ (विशेषा० गा० १३२५)

चारित्रमोहनीय च क्षपयितु यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा— यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च । एषा च स्वरूप पूर्ववदेवावगन्तव्यम् । नवरमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणम निवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणक- षायाष्टक तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणाद्धाया प्रथमसमये तत् पल्योपमासंख्येयभाग मात्रस्थितिक जातम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिक-न रकगति-तिर्यग्गति-नरकानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-एक द्वि त्रि चतुरिन्द्रियजाति-स्थावराऽऽतप-उद्योत सूक्ष्म-साधारणरूपाणा षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासंक्रमणोद्वल्यमानानां पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता । ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसंक्रमेण प्रतिसमय प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषत क्षीणानि भवन्ति । इहाप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टक पूर्वमेव क्षपयितुमारब्ध परं तद् नाद्यापि क्षीणम्, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृति- षोडशक क्षपितम् तत पश्चात् तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति । तथा चाह—

अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ ।
संखेज्जइमे सेसे, तप्पाओगाओ खीयंति ॥
एत्तो हणइ कसायट्ठग पि

अनिवृत्तिबादरे गुणस्थानके संख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिक 'नरय तिरियनामाओ' निरयगति तिर्यग्गतिनाम्नी 'तत्प्रायोग्याश्च' निरयगति तिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजाति-निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-स्थावराऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपा सर्वसंख्यया षोडश प्रकृतय क्षीयन्ते । तत 'इत' प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं निःशेषत कषायाष्टक हन्ति ॥

---

१ तृतीये चतुर्थे अस्मिन् वा भवे सिध्यन्ति दर्शने क्षीणे । यद् देवनिरयाऽसंख्यायुषु चरमदेहेषु भवन्ति ॥ २ छा० मुद्रि० दर्शने अ ॥ ३ सं० त० १ सं० २ त० प्र० दर्शने ॥ इतरो अनुपरत एव सकलां श्रेणि समापयति ॥ ५ सं० सं० २ त्रय ॥ ६ सं० १ त० छा० ० क्षपकश्रेणी ।

अन्ये पुनराहु:—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति। ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां संज्वलनानामन्तरकरणं करोति। तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते। तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रं जातम्। ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण दलिकं प्रक्षिपति। तच्चैव प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम्। अधस्तनदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवन् क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं तद् भवति, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः। ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षप्यते। ततः षड् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते। ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे सङ्क्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे। तथा चाह सूत्रकृत्—

पच्छा नपुंसगं इत्थी।
तो नोकसायछक्कं, छुभइ संजलणकोहम्मि॥

कषायाष्टकक्षपणानन्तरं पश्चात्, 'नपुंसकं' नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदम्, ततः षड् नोकषायान् क्षपयन् तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे "छुभइ" त्ति प्रक्षिपति न पुरुषवेदे। ततोऽपि च षड् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणाः क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः। तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसावपगतवेदको जातः। एष पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यः। यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा [illegible] नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति। स्त्रीवेद नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य [illegible]। तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति। यदा तु [illegible] श्रेणिं तदा प्रथमतो नपुंसकवेदम्, ततः स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालं च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः। ततोऽवेदकः पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति॥

[illegible] पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्येत्थं [illegible] — [illegible] विनाशं [illegible], तथा — [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च। एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति। मायया चेत् प्रतिपद्यते तर्हि क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति। यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति। एष किट्टीकरणविधिः। किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टीदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसङ्क्रमेणापि प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति। तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा अन्यद् नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितितत आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य मायायां प्रक्षिप्तत्वात्। ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण मायायां प्रक्षिपति। मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितितः प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मायाया द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितित आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं। तस्मिन्नेव च समये मायाया बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः सत्कर्माऽपि च

१ सं० छा० प्र० [illegible] ॥ २-३-४ सं० प्र० [illegible] ५ सं० १ सं० प्र० [illegible] ॥ ६ सं० १ सं० प्र० [illegible] ॥
७ सं० १ सं० प्र० [illegible] ॥

तस्या समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसङ्क्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तर समये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। सज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्या सम्बन्धि दलिक समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण लोभे सर्वं सङ्क्रमयति। लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिक प्रथमस्थितीकृत वेद्यमान वेद्यमान समयाधिकावलिकामात्र शेष जातम्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। ता च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिक गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टी करोति तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितीकृतस्य समयाधिकावलिकामात्र शेष। तस्मिन्नेव च समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानककालव्यवच्छेदश्च युगपद् जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसम्पराय उच्यते। पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयतृतीयकिट्टिगता शेषीभूता सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, प्रथम द्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्व द्वितीय-तृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसम्परायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमान सूक्ष्मकिट्टिदलिक समयोनावलिकाद्विकबद्ध च प्रतिसमय स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् सङ्ख्येयभागे संज्वलनलोभ सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासम करोति। सा च सूक्ष्मसम्परायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा। तत प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ता, शेषकर्मणा तु प्रवर्तन्त एव। ता च लोभस्यापवर्तिता स्थितिमुदय-उदीरणाभ्या वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता। तत उदयेनैव केवलेन ता वेदयते यावत् चरमसमय। तस्मिंश्च चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यश कीर्ति उच्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकरूपाणा षोडशकर्मणा बन्धव्यवच्छेद मोहनीयस्योदय-सत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६३ ॥

अमुमेवार्थं सङ्क्षेप्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिस कोहे कोह, माणे माण च छुहइ मायाए।
माय च छुहइ लोहे, लोह सुहुम पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'पुरुष' पुरुषवद् बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' संज्वलनक्रोधे "छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त क्रोध 'माने' संज्वलनमाने सङ्क्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त संज्वलनमान गुणसङ्क्रमेण 'मायाया' संज्वलनमायाया प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ना ता संज्वलनमाया 'लोभे'

१ स० १ त० म० °बद्धमेव शेषस्य लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततो लोभ° ॥ २ स० १ त० म० °वेदया° ॥ ३ स० स० २ °स्येव मा ॥ ४ स० १ त० म० °न तावद् य°° ॥ ५ सं० १ त० म० °दयाद्दयम° ॥ ६ स० १ त० २ म० त० छुभइ ॥

संज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं सज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेषमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति । लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते । तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धाया संख्येया भागा गता भवन्ति, एकः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते । तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम् । सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव । तानि च षोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं । ततोऽनन्तर-समये उदीरणा निवृत्ता । तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः । तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः । तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंतराए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति । स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति । न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति । उक्तं च—

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति । अन्यस्तु न करोत्यपि । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्—

सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य ।
भवोवग्गहकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ ॥

१ सं० १ सं २ त० म० सद्देयेसमा ॥ २ सं० १ त० म० सद्व्ययमा° ॥ ३ सं० सं० १ गाथे छ° ॥ ४ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम् । तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥ सर्वेऽपि भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः । यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ताः केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः ॥

अगंतूण समुग्घायमणता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ (पत्र ६०१–१)

अत्र "वधणेहिं" ति बध्यन्ते इति बन्धना –कर्मपरमाणव, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध-हे० ५–१–२) इति वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्यय, तै शेष सुगमम् ।

गत्वा चागत्वा च समुद्घात भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्प परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमते एव । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोग निरुणद्धि, ततो बादरवाग्योगम्, ¹ तत सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्, ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगम्, तत सूक्ष्मवाग्योगम्, तत सूक्ष्मकाययोग निरुन्धान सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानमारोहति । तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेह त्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तस्मिंश्च ध्याने वर्तमान स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमय । तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि । नवर येषा कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषा स्थितिं स्वरूप प्रतीत्य समयोना विधत्ते, कर्मत्वमात्ररूपता त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमानाम् । तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमयेऽन्यतरद्वेदनीयमौदारिक-तैजस-कार्मणशरीरसंस्थानषट्क-प्रथमसहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु उपघात पराघात-उच्छ्वास-शुभा ऽशुभविहायोगति प्रत्येक-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ सुस्वर-दु स्वर–निर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेद । ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भवन्यो ऽनघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्त काल भवति । स च तस्यामवस्थाया वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति । एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयं ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, दुचरमसमयभवियम्मि खीयन्ति ।
सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

दवगत्या सह गता –स्थिता दवगतिसहगता, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासां ता

१ सं० सं० मुद्रि० ततो बादर° ॥ २ सं० १ त० छा० म० [illegible] ॥ ३ सं० १ त० म० [illegible] ॥ ४ सं० १ त० म० °वा[illegible]° ॥ ५ सं० छा० [illegible] करोति । [illegible] । मुद्रि० "[illegible]" ॥ ६ सं० १ सं० २ त० म० [illegible] ॥ ७ सं० १ त० म० °[illegible]शुभा° ॥ ८ सं० १ सं० २ त० म० "[illegible]निर्मा ॥ ९ सं० १ त० म० च ॥ १० ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥

...कार्य कर रहे हैं—
राज्य
मध्य प्रदेश
हरियाणा

[illegible] निए जनता में ... मूचना की भाटी ... के सबंध में एक ... सबंध में एक ... उपलब्ध कराना ... करने के लिए नीं...

...त चेद् उच्यते—वैक्रिया ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च । एता देवगतिसहगता ... चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स ... समयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्र' ... रनामानि' विपाक—उदय, सह विपाकेन सन्ति वर्तन्ते ... प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, तान्यमूनि—औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-

अनुदयवत्यो नामप्रकृ[illegible]

तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं [illegible] मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगती [illegible] सनाम स्थिरा ऽस्थिरे शुभा ऽशुभे सुस्वर-दुःस्वरे दुर्भगमनादेयम् [illegible] निर्माणम्, तथा नीचैर्गोत्रम्, अपि[illegible]तरदनुदितं वेदनीयम् । [illegible] क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवेयणीयं, मणुयाउय उच्चगोय नव नामे ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस जहन्न एक्कार ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीय' सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं नव नामानि' नव नामप्रकृती, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिन' [illegible] । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्या ॥ ६६ ॥

'नव नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गताथा ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
सत्तरसगमुक्कोस, जहन्नय बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी—मनुष्यानुपूर्वी तया सहिता [illegible]
[illegible]दिकस्य' तद्भवमोक्षगामिन [illegible]
[illegible] भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव [illegible]
अथ कस्मात् एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह

[illegible]

मणुयगइमणुगपाओ, भवसिद्धविरागजीवणाम त्ति।
वेरनिरयअरुभ, ण चरिम भविगस्स मीगति ॥ ६९ ॥

[illegible]

भूतम्, कथम् ? इति चेद् अत आह—'अरुज' लेशतोऽपि तत्र व्याधेरभावात्, उपलक्षण मेतद्, तत्र आधेरप्यभावस्तत्र द्रष्टव्य, सांसारिक च सुखमाधि-व्याधिसङ्कुलम् । तथा 'निरुपम' उपमातीतम्, नहि तत्सदृश किञ्चिदपीह संसारेऽस्ति सुख येन तदुपमीयते तस्माद् निरुपमम् । तथा 'सहाव" त्ति स्वभावभूतम्, न संसारसुखमिव कृत्रिमम्, अतस्तत् सकल-देवा-ऽसुर-मनुजसम्भविसुखसमुदायादनन्तगुणम् । इत्थम्भूत 'सिद्धिसुख' मोक्षसुख 'अनिधनम्' अपर्यवसानम्, कथमपर्यवसानता ? इति चेद् अत आह—'अव्याबाध' व्याबाधारहितम् बाधयितुमशक्यमिति भाव । तथाहि—रागादयस्तत् सुख बाधयितुमीशा, ते च सर्वात्मना क्षीणा, न च क्षीणा अपि पुन प्रादुर्भावमनुभवते, तत्कारणकर्मपुद्गलानामभावात्, न च तेऽपि पुद्गला भूयोऽपि बध्यन्ते, सङ्क्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात्, न च सर्वात्मना रागादिक्लेशविप्रमुक्तस्य भूय सङ्क्लेशोत्थानम्, तत्कारणकर्मपुद्गलाभावात्, अतो रागादिसङ्क्लेशोत्थानाभावात् सिद्धिसुखमव्याबाधम् । पुन तत् कथम्भूतम् ? इत्याह— त्रिरत्नसार' त्रीणि रत्नानि—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रलक्षणानि तेषा सार—फलम् । तथाहि—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राण्येव कर्मक्षयकारणम्, कर्मक्षयाच्च सिद्धिसुखसम्प्राप्ति, अत सिद्धिसुख त्रिरत्नसारम् । एतेन किमुक्त भवति ?—इत्थम्भूत सिद्धिसुखमभिलषताऽवश्य रत्नत्रये प्रेक्षावता यत्न आस्थेय, उपायमन्तरेणोपेयसिद्ध्यसम्भवात् । उपायभूत च सिद्धिसुखस्य रत्नत्रयम्, कर्मक्षयकारणत्वात् । तथाहि—अज्ञानादिनिमित्त कर्म, अज्ञानादिप्रतिपन्थि च ज्ञानादि, ततोऽवश्य ज्ञानाद्यासेवाया कर्मक्षय इति । इत्थम्भूत सिद्धिसुख तत्र गता सन्त 'अनुभवन्ति' वेदयन्ते ॥७०॥

इह बन्धोदयसत्कर्मणा सक्षेपश्चिन्तित । सोऽपि सामान्येन, ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेष जिज्ञासायामतिदेशमाह—

दुरहिगम निउण परमत्थ रुइर-बहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माण ॥७१॥

दु खेन—महता कष्टेन प्रमाण-नय निक्षेपादिभिरधिगम्यत इति दुरधिगम , निपुण —सूक्ष्म बुद्धिगम्य , परमार्थ —यथावस्थितार्थ , रुचिर सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थनयपदुमतीना मन प्रह्लादकर , बहुभङ्ग —बहुविकल्पो यो दृष्टिवादस्तस्माद् बन्धोदयसत्कर्मणा विषये अर्था विशेषरूपा 'अनु सर्तव्या ज्ञातव्या । इह तु संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यन्ते ॥७१॥

सम्प्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वमात्मनोऽल्पागमत्व ख्यापयन् शेषबहुश्रुताना च बहुमान प्रकटयन् प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषय तेषा प्रार्थना विदधान आह —

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति ।
त खमिऊण बहुसुया, पूरेऊण परिकहंतु ॥७२॥

१ स० १ त० म० कांक्षिति मि ॥ २ स० १ त० छा० र-सुमता° ॥ ३ स० छा० °र्थ तत्र पद्व । त० म० °राधमेवपद्व ॥ ४ सं० सं० २ छा० बन्धो द° ॥

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

[illegible]

॥ तृतीय परिशिष्टम् ॥

॥ पञ्चम-षष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तर्गताना ग्रन्थकृन्नाम्ना सूची ॥

॥ चतुर्थं परिशिष्टम् ॥

पञ्चम-षष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तर्गतानां पारिभाषिकशब्दानामनुक्रमणिका ।

... जैनग्रन्थरत्नमालायामद्यावधि मुद्रिताना ग्रन्थाना ...

ग्रन्थनाम		मूल्यम्
× १ समवसरणस्तवः	सावचूरिकः	० १ ०
× २ क्षुल्लकभवावलिप्रकरणम्	सावचूरिकम्	० १ ०
× ३ लोकनालिद्वात्रिंशिका	सटीका	० २ ०
× ४ योनिस्तव	सावचूरिकः	० १ ०
× ५ कालसप्ततिकाप्रकरणम्	सावचूरिकम्	० १ ६
× ६ देहस्थितिस्तव	सावचूरिक	० १ ०
× ७ सिद्धदण्डिका	सावचूरिका	० १-०
× ८ कायस्थितिस्तवः	सटीकः	० २ ०
× ९ भावप्रकरण	सटीकम्	० २ ०
×१० नवतत्त्वप्रकरणभाष्यटीकोपेतम्		० १२ ०
×११ विचारपञ्चाशिका	सटीका	० २ ०
×१२ बन्धषट्त्रिंशिका	सटीका	० २ ०
×१३ परमाणुखण्डषट्त्रिंशिका पुद्गलषट्त्रिंशिका निगोदषट्त्रिंशिका च	सटीका	० ३ ०
×१४ श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	सावचूरिकम्	० २-०
×१५ देववन्दनादिभाष्यत्रय	सावचूरिकम्	० ५ ०
×१६ सिद्धपञ्चाशिका	सटीका	० २ ०
×१७ अनायउञ्छकुलक	सावचूरिकम्	० २ ०
×१८ विचारसप्ततिका	सावचूरिका	० ३ ०
×१९ अल्पबहुत्वगर्भितमहावीरस्तवन	सावचूरिकम्	० २ ०
×२० पञ्चसूत्र	सटीकम्	० ६ ०
×२१ जम्बूस्वामिचरित्रम्		० ४ ०
×२२ रत्नपालनृपकथानकम्		० ५ ०
×२३ सूक्तरत्नावली		० ४ ०

ग्रन्थनाम		मूल्यम्
२४ मेघदूतसमस्यालेखः		०
×२५ चेतोदूतम्		०
×२६ पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यानम्		०
×२७ चम्पकमालाकथा		०
×२८ सम्यक्त्वकौमुदी		० १२
×२९ श्राद्धगुणविवरणम्		१ ०
×३० धर्मरत्नप्रकरण	सटीकम्	० १२
×३१ कल्पसूत्र सुबोधिकाख्यया व्याख्ययोपेतम्		० ० ०
×३२ उत्तराध्ययनसूत्र	सटीकम्	५ ० ०
×३३ उपदेशसप्ततिका		० १३ ०
×३४ कुमारपालप्रबन्ध		१ ० ०
×३५ आचारोपदेश		० ३ ०
×३६ रोहिण्यशोकचन्द्रकथा		० २ ०
×३७ गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलक	सटीकम्	० १० ०
×३८ ज्ञानसार	सटीक	१ ४ ०
×३९ समयसारप्रकरण	सटीकम्	० १० ०
×४० सुक्तसागरः		० १२ ०
×४१ धम्मिल्लकथा		० २ ०
×४२ प्रतिमाशतक	सटीकम्	० ८ ०
×४३ धन्यकथानकम्		० २ ०
×४४ चतुर्विंशतिजिनस्तुतिसंग्रह		० ६ ०
×४५ रौहिणेयकथानकम्		० २ ०
×४६ लघुक्षेत्रसमासप्रकरणं	सटीकम्	१ ० ०
×४७ बृहत्संग्रहणीसटीका		२ ८ ०
×४८ श्राद्धविधिः	सटीक	२ ७-०
×४९ षड्दर्शनसमुच्चय	सटीकः	३ ० ०
×५० पञ्चसंग्रहपूर्वार्द्धम्	सटीकम्	३ ८ ०
×५१ सुकृतसंकीर्तनम्		० ८ ०

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
×५२ चत्वारः प्राचीना कर्मग्रन्थाः सटीका	२-८-०
×५३ सम्बोधसप्ततिका सटीका	०-१-०
×५४ कुवलयमालाकथा	१-८-०
×५५ सामाचारीप्रकरण आराधक-विराधकचतुर्भङ्गी च सटीका	०-८-०
५६ करुणावज्रायुधनाटकम्	०-४-०
×५७ कुमारपालमहाकाव्यम्	०-८-०
×५८ महावीरचरियम्	१-०-०
५९ कौमुदीमित्रानन्द नाटकम्	०-६-०
६० प्रबुद्धरौहिणेयनाटकम्	०-५-०
६१ धर्माभ्युदयनाटक सूक्तावली च	०-४ ०
×६२ पञ्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणम् सटीकम्	०-६-०
×६३ रयणसेहरीकहा	०-६ ०
६४ सिद्धप्राभृत सटीकम्	०-१०-०
×६५ दानप्रदीप	२ ०-०
६६ बन्धहेतूदयत्रिभङ्गीप्रकरण सटीकम्, जघन्योत्कृष्टपदे एककाल गुणस्थानकेषु बन्धहेतुप्रकरणम्, चतुर्दशजीवस्थानेषु जघन्योत्कृष्टपदे युगपद्बन्ध हेतुप्रकरण सटीकम् बन्धोदयसत्ता प्रकरण च सटीकम्	०-१ ०

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
६७ धर्मपरीक्षा जिनमण्डनीया	१ ० ०
×६८ सप्ततिशतस्थानक-प्रकरण सटीकम्	१ ० ०
६९ चेइयवंदणमहाभास छायाटिप्पणीयुतम्	१-१२ ०
७० प्रश्नपद्धति	० २ ०
×७१ कल्पसूत्र किरणावलीटीकोपेतम्	० ० ०
७२ योगदर्शनयोगविंशिकाचसटीका	१-८ ०
७३ मण्डलप्रकरण सटीकम्	० ६ ०
७४ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण सटीकम्	० १२ ०
७५ चन्द्रवीरशुभा–धर्मधन–सिद्धदत्त–कपिल–सुमुखनृपादिमित्र चतुष्ककथा	० ११ ०
७६ जैनमेघदूतकाव्य सटीकम्	२ ० ०
७७ श्रावकधर्मविधिप्रकरण सटीकम्	० ८ ०
७८ गुरुतत्त्वविनिश्चय सटीकः	३ ० ०
७९ ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका सटीका	० ४ ०
८० वसुदेवहिण्डीप्रथमभागः	३ ८ ०
८१ ,, ,, द्वितीयभागः	३ ८ ०
८२ बृहत्कल्प प्रथमोभागः	४ ० ०
८३ ,, द्वितीयो भागः	६ ० ०
८५ चत्वारः कर्मग्रन्थाः	२ ० ०

श्रीआत्मानन्द–जैनग्रन्थरत्नमालायां मुद्र्यमाणा ग्रन्थाः ।

बृहत्कल्पम् सटीक तृतीयो भाग

,, ,, चतुर्थो भाग

,, ,, पञ्चमो भाग